अछूत

दया पवार

रूपान्तर

दामोदर खडसे

राधाकृष्ण

दगड़ू मारुति पवार
के हिस्से आयी
दुखों की यह बनिहारी
भारतीय समाज-व्यवस्था ने
उसकी झोली मे डाली—

मैं मात्र भारवाहक
उसके शब्दों का,
शब्दांकन किया मैंने

किसी को न बताएँ
यह उसकी इच्छा है

मैं भी सोचता हूँ
आप भी किसी को न बताएँ...।

—दया पवार

यह पत्थर—
इमारत के
निर्माण-कार्य से
निकाल फेंका गया।

—जैक लंडन

माँ,

तुम्हारे ही कारण
दलितों के
विराट दुखों के
दर्शन हुए।

जब कभी भी वह अकेला होता है, उससे अकसर मेरी मुलाक़ात हो जाती है। जब से मैंने होश सँभाला है, तब से मैं उसे अच्छी तरह पहचानता हूँ। जितना अपनी परछाई से परिचय हो, उतना परिचित है वह। पर कभी-कभी अँधेरा छा जाने पर या बदली छा जाने पर जैसे स्वय की परछाई लुप्त हो जाती है, वैसे ही वह भी लुप्त हो जाता है। पिछले कई वर्षों से उसे भीड़ से बड़ा लगाव रहा है। हमेशा किसी के साथ या सभा-सम्मेलनों में दिखायी देता है।

आज भी ऐसा ही हुआ। एक सभागृह में सामाजिक समस्याओं पर परिसंवाद आयोजित किया गया था। स्टेज पर प्रतिष्ठित लोग बैठे थे। उस भीड़ में वह भी सिकुड़कर बैठा था। जब उसकी बारी आती है, तब वह अपना विषय बड़े मनोयोग से प्रस्तुत करता है। अनेक लोग उसके प्रस्तुतीकरण की दाद देते हैं। कुछ लोग तालियाँ भी बजाते हैं। सभा समाप्त होती है। उसके चारों ओर मँडराने वाले चेहरे गायब हो जाते हैं। मेरे पास आकर वह कहता है : "मेरा भाषण कैसा रहा ?"

"बहुत अच्छा भाषण दिया तूने। पर एक बात तो बता ? तू कभी खुश नहीं दिखता ? हमेशा परेशान-सा लगता है !"

"लगता है, तूने मुझे बहुत दिनों बाद आड़े हाथों लिया है। अरे, आज तक मैंने तुझसे छिपाया ही क्या है ?"

"तुम्हारा एक प्रोफ़ेसर दोस्त तुम्हें 'दलित ब्राह्मण' कहकर गाली देता है !"

"उसके कहने में सत्यांश है। ऊपरी तौर पर देखने से कोई भी कहेगा,

मैंने एक सुखी आदमी की शर्ट पहन रखी है। सात-आठ सौ की सरकारी नौकरी है। वह भी ऑडिटर की। माई-बाप सरकार ने, किराये का ही सही, सबर्ब में मकान दिया है। पढी-लिखी पत्नी है। दो लड़कियाँ पढ रही हैं। अपना नाम चलाने के लिए पाँच-छ. साल का लड़का हाथों-कंधों पर नाच-फुदक रहा है। बडी लड़की की शादी हो गयी है। पिछले साल ही उसे लडका भी हुआ। यानी मैं उम्र के चालीसे में ही नाना बन गया। मुझे देखकर ऐसा नही लगता। कुल मिलाकर बेल ऊपर चढती हुई फल-फूल रही है।"

"फिर भी तू उदास रहता है? *क्या खो गया है तुम्हारा?*"

"उस गुरखे लड़के की कथा मालूम है तुम्हें? उसकी टोपी गुम हो गयी थी!"

मेरे 'नही' कहने पर वह बोला, "एक गुरखे की टोपी गुम हो गयी थी। लडके को टोपी की याद आयी। खाते-पीते उसे टोपी ही दिखती। इसको लेकर वह सदैव बेचैन रहता। एक दिन हमेशा की तरह वह जगल मे ढोर चराने गया। जंगल मे शहर से आया एक प्रेमी-युगल प्रेमालाप कर रहा था। गुरखा उनका संवाद सुनता है। प्रेमी अपनी प्रेमिका की आँखो मे झांकते हुए कहता है, 'हे प्रिये, मुझे तुम्हारी आँखो में चाँद, सूरज, फूल, सागर, सुहानी शाम का नंदनवन दिखायी दे रहा है।' चोरी से संवाद सुनने वाला गुरखा आगे बढ़कर पूछता है, 'अरे, जरा देखना भाई, मेरी गुमी टोपी उन आँखों में कहीं दिखायी देती है?'"

"दार्शनिकों का मुखौटा पहन इस तरह मत बको। ठीक-ठीक बताओ, क्या हुआ? सीधे-सीधे क्यों नही बताते।"

"*कैसे बताया जा सकेगा सीधे-सीधे? वह सारा क्या एक दिन का है?* पूरे चालीस साल की ज़िंदगी का जीवित इतिहास है...रात मे कौन-सी सब्ज़ी खायी, आज याद नही रहता। वैसे मैं बड़ा भुलक्कड हूँ। विस्मरण की आदत के कारण ही जीवित रह सका, नही तो सिर फटवा कर मरने की बात थी। मुझे एक भी बच्चे की जन्म-तिथि याद नही। पत्नी ही उनके जन्म-दिनों की याद दिलाती है।"

"पर तू कैसे बड़ा होता गया, किसकी गोद मे तुम्हारी परवरिश

हुई, यह सब बताने में क्या एतराज है ?"

"ठीक है। जैसा याद आये, बताता हूँ...।"

कोंडवाडा [काँजी हाऊस] मे मेरी पसंद की एक कविता है :

सागर में हिमखंड ज्यों डूब कर बचे
ठीक उसी तरह ये दुख
शिखर लाँघ-लाँघ कर आते हैं
यादों की दाहक बूंदे
शरीर पर तेज़ाब छिड़कने-सी
आग दहका जाती हैं
काँधे पर जिंदगी का यह सलीब
और माथे पर भाग्य की तख़्ती ठोंक कर
तुमने खुल्लम-खुल्ला हाथ झटक लिये हैं
अब भूतकाल की खाल खीच कर
साफ़ चेहरे से कैसे घूमा जा सकता है !

यह कविता मुझे अपनी ही उम्र का आईना लगती है। मेरा चेहरा इस तरह जमा हुआ, ज्यों समुद्र में कोई हिमखंड डुबोया हो। उसका सिर, शिखर लोगों को दिखता है। इसके आधार पर लोगों के तर्क-वितर्क। मैंने जो भूतकाल भोगा है, वह सागर में पोसा-पाला गया बर्फ़ के पहाड़-सा विशाल-विस्तृत है। जब से मुझमें समझ आयी है, तब से वह मुझे चकमा दे रहा है। इसे पकडते समय प्राण काँपने लगते हैं। काफ़ी दिनों तक तो ऊपरी सतह पर दिखने वाले इसी शिखर पर मोहित हुआ। अनेक बार शॉक दिया। अब कुदाल लेकर इसे तोड़-फोड़ डालें, ऐसी कुछ तुम्हारी इच्छा लगती है। मुझे शंका है, वह टूटेगा भी या नही ! परन्तु तोड़ते समय मेरी दशा पोतराज-सी होगी। तूने देखा होगा—पोतराज अपने ही खुले बदन पर कोड़े बरसाता था। पैरों के घुंघरू बजाता। मजबूत बाहुओं में सुई घोंप लेता। उसके बदन से खून का फ़व्वारा फूटता। लोग तालियाँ

बजाते। कोई 'बेचारा' कहकर आहें भरता।...मेरी भी हालत ठीक वैसी ही होगी .और यदि मैं दया का पात्र बन गया तो ?

"इसमे तुम्हारा क्या दोष ?"

यह मुझे अच्छी तरह मालूम है। यदि मेरा जन्म बर्फीले टुन्ड्रा प्रदेश में हुआ होता तो क्या ऐसा ही भूतकाल मेरे हिस्से आता ? वहाँ भी दुख-तकलीफ़ें होगी, परन्तु उनका स्वरूप अलग होगा। इस तरह का मनुष्य-निर्मित भयकर दुख न होगा। यह सब बताते समय ठीक मुझसे ही मुलाकात हो पायेगी या नही, यह मैं फ़िलहाल नही बता सकता। यह कोई जरूरी तो नही कि आईने को उसके सामने खडे हुए आदमी के बारे मे सब-कुछ मालूम हो ही। अब इसी बात पर गौर करो न। मेरा नाम है 'दगड़ू'। यह तो तू भूल ही गया होगा। मैं भी भूल गया था। पर आज भी तुम्हे स्कूल के सर्टिफ़िकेट मे यही नाम मिलेगा। आज इस शहर में मुझे इस नाम से कोई नही जानता। पता नही, बीवी-बच्चो को भी यह नाम मालूम है या नही। मुझे बचपन से ही इस नाम से घृणा-सी रही। शेक्सपियर कहता है—'नाम में क्या रखा है ?' पर मेरे ही हिस्से यह 'दगड़ू' नाम क्योकर आये ! धरती के जिस टुकड़े पर जन्म लिया, वहाँ सभी के इसी प्रकार के नाम हैं—कचरू, धोंड्या, सटवा, जबा...सब इसी तरह। किसी माँ ने बड़े प्यार से गौतम नाम रखा कि उसका तत्काल 'गवत्या' हो जाता। यही परंपरा थी। 'मनुस्मृति' में शूद्रों के नामों की सूची देखी—इसी प्रकार तुच्छता-दर्शी। ब्राह्मणो के नाम विद्याधर, क्षत्रियो के बलराम, वैश्यों के लक्ष्मीकात और शूद्रों के शूद्रक, मातंग। वही परपरा बीसवी सदी मे भी जारी रही।

बचपन में माँ कहती थी : 'बेटा, तुझ से पहले दस-बारह बच्चे दफ़न कर चुकी थी। बच्चे जीते ही नही थे। मनौती की। तू पैदा हुआ। किसी ने कहा कि 'दगडू,' 'धोड्या' नाम रखो, बच्चा जियेगा...।'

इस तरह मेरा नामकरण हुआ। स्कूल जाने लगा। यह नाम मुझे पसद नही, यह बात कक्षा के लड़को को मालूम थी। इसलिए वे मुझे डी० एम० कहते। कोई मित्र घर आकर दरवाजे पर मुझे पूछता तो दादी कहती : 'डलाम् घर मे नयी हय।'

डी० एम० का उसकी भाषा में यही रूपांतर था।

मेरा बचपन कभी गांव में तो कभी शहर में बीता। मेरा एक पैर गांव में ओर दूसरा शहर में होता। इसलिए आज भी मैं पूर्णतः गांव मे या पूर्णतः शहर मे नही रहता। मेरी मानसिकता भी दो भागो मे बॅटी हुई है, दो दिशाओं की ओर—जरासंध-सी।

पिताजी बंबई की सुक्या गोदी में काम करते थे। उन्हें मैं 'दादा' कहता था। आज भी मेरा बेटा मुझे 'दादा' कहता है। वह डैडी या पप्पा कहे, यह मुझे क़तई पसंद नही। यह सब देशी कँटीले झाडो मे विलायती कैक्टस की क़लम लगाने-सा लगता है!

हाँ, तो मैं कह रहा था...उन दिनों हम कावाख़ाना में रहते थे। दस बाई बारह का कमरा। भीतर ही नल। संडास कॉमन। माँ, दादी और चाचा का परिवार भी वहीं।

आज आपको बबई के नक्शे में कावाख़ाना नही मिलेगा। उन दिनों फ़ारस की खाड़ी से छूटने वाली ट्राम फोरास रोड नाका से गिरगांव की ओर जाती थी। दादी ने घोड़ों की ट्राम देखी थी। दादी पुरानी बातें सुनाती। मेरी आँखों के सामने एक दृश्य कौंध जाता। घोड़ा ट्राम कैसे खींचता होगा...उसके नथुनों से कैसा झाग निकलता होगा...इसी पुल के पास से नागपाड़ा शुरू होता था। इसी नागपाड़ा मे कावाखाना था। आज वहाँ पाँच-छ मंजिल की विशाल इमारत है। कावाखाना के एक ओर चोर बाजार। दूसरी ओर कामाठीपुरा। गोलपीठा मे वेश्याओं की बस्ती। इन दोनों के ठीक बीचोंबीच कावाख़ाना की बस्ती थी।

इस इलाके में महार लोग छोटे-छोटे द्वीप बनाकर रहते थे। ये संगमनेर, अकोला, जुन्नर, सिन्नर की तराइयों से आये हुए लोग थे। आसपास ईसाइयों-मुसलमानों की बस्ती थी।

महार लोगो के मकानों की व्यवस्था बड़ी घटिया थी। एक-एक दड़बे में दो-तीन उप-किरायेदार। बीच में लकड़ी की पेटियों का पार्टीशन। लकड़ी के इन्हीं संदूकों में उनका सारा संसार!

पुरुष हमाली (मजदूरी) करते। किसी मिल या कारख़ाने मे जाते। स्त्रियों को कोई भी परदे में न रखता। उलटे पुरुषो की अपेक्षा वे ही अधिक

खटती थीं। शराबी पति उन्हें कितना भी पीटें, वे उनकी सेवा करतीं। उनका शौक़ पूरा करतीं। सड़कों पर पड़ी चिंदियाँ, कागज़, काँच के टुकड़े, लोहा-लगर, बोतलें बीन कर लाना, उन्हें छाँट-छाँट कर अलग करना और सुबह बाजार में ले जाकर बेचना—यही उनका धंधा था। वहीं पास ही मगलदास मार्केट में कपडे का व्यापार चलता था। उन दुकानों से फेंके गये कागज आदि ये औरतें इकट्ठा करतीं। सब की अपनी-अपनी दुकानें तय थीं। कचरा उठाने के लिए झगड़े होते। वहाँ की दुकानों के नौकरों को छोटी-मोटी रिश्वत भी दी जाती। कुछ औरतें पास के ही वेश्यालय में वेश्याओं की साड़ियाँ धोतीं। कीमा-पाव से ऊबी वेश्याओं के लिए कुछ औरतें बाजरे की रोटियाँ और रायता पहुँचातीं। शौक़ीन ग्राहक इन आयाओं की ही माँग कर बैठता! ऐसे समय काँच-सी इज्जत बचाने के लिए वे सिर पर पैर रख कर भागतीं।

कावाखाना की एक और ख़ासियत थी। बस्ती के पास ही एक क्लब था—करीब-करीब खुला। बडे हॉल के सामने खुली जगह में चटाई की दीवारें। विलायती टाट की छत। इसी क्लब को कावाख़ाना कहते। यहाँ गोरे साहब, यहूदी, ऊँची कद-काठी के अरबी लोग, उनमें एकाध हब्शी—ये सारे लोग दिन-भर जुआ खेलते। उनके खेल भी विविध—ताश के तीन पत्तों के खेल, बिलियर्ड आदि। चमकदार रंग-बिरंगे गोले चिकनी छड़ी से छेद में लुढकाते। इस बिलियर्ड खेल को हम बंद दरवाज़ों की दरारों से देखते रहते। वे लोग अपने व्यवहार से यह ज़ाहिर करते रहते कि यह खेल गरीबों का नहीं है।

क्लब के ये अमीर लोग काम-धंधों पर कभी जाते न दिखते। सुबह से रात के बारह तक वहीं पड़े रहते। बिना दूध की चाय पीते। ऐसा ही एक और पेय वे पीते, जो कोको के बीज से तैयार किया जाता। उसे वे 'कावा' कहते। इस गहरे काले पेय से गाजर जैसे लाल सुर्ख़ यहूदियों को कौन-सा आनंद मिलता होगा, भगवान जाने!

यहूदियों से एक बात याद आयी। मुर्गी मारने का उनका बड़ा अजीब तरीका था। वे मुर्गी के आरपार छुरी नहीं घुमाते थे। सिर्फ़ आधा गला काटकर मैदान में फेंक देते। मुर्गी के गले से होता ख़ून का छिड़काव और

उसकी जानलेवा छटपटाहट। यह क्रूर खेल देखा न जाता। यहूदी मंडली के विशाल मंदिर के पास ही यह हत्याकांड निरंतर चलता रहता। स्कूल जाने-आने का वही से रास्ता था। यह सब देखकर रोंगटे खड़े हो जाते।

कभी-कभी क्लब के लिए बस्ती को हैरानी होती। कब हुल्लड़ होगा, कुर्सियों-बरनियों[1] की फेंक-फाक होगी—बताना मुश्किल होता। दिन-भर सट्टा, बेटिंग, रेस—यही शब्द कानों से टकराते। बैठे-बैठे हज़ारों रुपये आरपार हो जाते। कोई कंगाल होता, कोई मालदार। हम जब सो कर उठते तो पूछा जाता, रात में कौन-सा सपना देखा ?

सपने में आग देखी तो अमुक आँकड़ा, पानी दिखा तो फ़लाँ आँकड़ा—बस यही सिलसिला जारी रहता। 'चिनाबेटिंग' खेलने के लिए एक आना भी पर्याप्त होता। इस खेल में घर के सभी स्त्री-पुरुष बड़े उत्साह से भाग लेते। फ़ुटपाथ के धूल-धूसरित पगले को भी इस खेल मे अच्छा मूल्य मिलता। उसके इशारो के अर्थ निकाले जाते। इससे किसी की किस्मत चमक जाती तो उस पगले को योगी-सा मूल्य मिलता।

क्लब के पास ही घोड़े के नाल के आकार की एक खपरैली चाल थी। उसी में हम लोग रहते थे। हमारे कमरे के पास ही दादी की बड़ी बहन के चार कमाऊ पूत रहते थे। मेरे सगे चाचा का नाम जवा था। मौसेरे चाचाओं के नाम थे—रभा, नबा, शिवा और कवा। इनमें से किसी को मैं 'तात्या' कहता, किसी को 'बावा'। इनमें से कोई हथगाड़ी खीचता, कोई हमाली करता। शुरू-शुरू में अकेले पिताजी ही गोदी मे थे। बाद में उन्होंने एक-एक कर सब को गोदी मे चिपका दिया।

दादी भायखला के पास ही कुत्तों के दवाख़ाने में काम करती थी। एक परिचित साहब की मेहरबानी से उसे काम मिला था। वहाँ साहब लोगों के कुत्ते उपचारार्थ आते। कुत्तों का मैल निकालना, उन्हें साबुन से नहलाना, उन्हें दूध पिलाना आदि काम दादी के थे। कभी-कभी मैं भी दादी के साथ जाता। मुझे कुत्तों के पिल्ले बड़े प्यारे लगते। उन्हें देखते रहना बड़ा अच्छा लगता। चीनी-मिट्टी के उथले बरतन में दूध पीते समय

---

1. मर्तबान

उनकी 'मच्-मच्' आवाज़ बड़ी मज़ेदार लगती उन्हें सहलाने का मोह होता। परन्तु साहब बिगड़ेगा, यह सोचकर हाथ लगाने का साहस न होता।

वैसे कावाखाना में हमारे रिश्तेदारों का एक छोटा-सा द्वीप ही था।

बारिश में आदमी ज्यों अपना कोट समेट लेता है, ठीक उसी तरह ये सारे रिश्तेदार एक-दूसरे के सहारे रहते। उनका प्रेम और द्वेष साथ-साथ चलता। लड़ाई-झगड़ों के समय ऐसा लगता कि वे एक-दूसरे का मुंह भी नहीं देखेंगे। इतने विशाल महानगर में अलग-अलग बिखर जायेंगे। परन्तु वैसा न होता। मूंगफली का पौधा उखाड़ने पर ज्यों सारी फलियाँ बेल के साथ बाहर आ जाती हैं, ठीक वैसी ही उनकी एकता थी। ये लोग जब यहाँ रहने आये, तब सामने वाली विशाल इमारत खाली ही थी। परन्तु सीढ़ियाँ चढ़ने-उतरने की तकलीफ न हो, इसलिए उन्होंने तल की यह खपरैली चाल पसंद की। शायद कभी यह घोड़ों का तबेला रहा हो। उनकी नासमझी पर आज भी हँसी आती है।

परन्तु यही कारण रहा हो, ऐसा नहीं लगता। उनका धंधा सारे बंबई का कचरा जमा करने का था। ऐसी हालत में कचरा जमा करने वालों को फ्लैट में भला कौन रहने देगा ? परन्तु इस कारण उन्होंने नरक-से दिन काटे ! बाद में मेरे जीवन के उत्साह-भरे दिन इसी गटर में बरबाद हो गये। बरसात में करीब-क़रीब सब के घर चूते। सारी रात छतें टपकती रहतीं। घमेले[1]-पतीली जगह-जगह रखे जाते...इस जलतरंग की आवाज़ में कब नींद आ जाती, पता भी न चलता।

आसपास के घरों से मैं अकेला ही छोटा था। मेरा बड़ा लाड-प्यार होता। सिर-दर्द के बहाने यदि मैं गुदड़ी पर पड़ा रहता तो तुरंत मेरे लिए ईरानी होटल से गरम-गरम पोहा आ जाता। मेरा सिर-दर्द तत्काल गायब हो जाता। मेरी बीमारी की घर में खिल्ली उड़ायी जाती। परन्तु मुझ पर कोई न बिगड़ता।

---

1. तसला

ऐसा ही एक पगार का दिन था। पिताजी और चाचा को एक-सी पगार मिलती थी। मैंने सूट-बूट की जिद की। मैं सात-आठ साल का था। सूट-बूट पहनने की शायद मेरी उम्र न रही हो। मैंने रो-रो कर आसमान सिर पर उठा लिया। अंत में वे मुझे पीला-हाउस ले गये। इतनी भव्य, चमकदार, कांच की दुकान मैंने पहली बार देखी। मेरे लिए वूलन कोट-पैंट, पाँवों के लिए चमकते जूते ख़रीदे जाते हैं। घर जाने तक का धीरज मुझमें नही था। दुकान में ही कपड़े बदलता हूँ। मुझे देखकर पिताजी को न जाने क्या लगा कि उस दिन सबका ग्रुप-फ़ोटो खिचवाया जाता है। मैंने यह फोटो कई वर्षों तक संभाल कर रखा था। पर इन बीस-पच्चीस सालों की ख़ानाबदोश गृहस्थी को पीठ पर लादे-लादे बबई में ही कई तबादले सहे। इस भागदौड़ में वह फ़ोटो कब गायब हो गया, पता नही। मुझे आज भी लगता है कि मेरा अनमोल ख़ज़ाना लुट गया। पिताजी और चाचा का वह दुर्लभ फ़ोटो...सिर्फ़ इतनी ही याद मैं संभाल सका था। पर वह क्षण भी समय की गर्त मे दफ़न हो गया।

पिताजी का चेहरा आज भी याद है। पिताजी काले सांवले, शीशम-से। ऊँचे, लंबे-लंबे। उनकी पोशाक बड़ी शानदार होती। सफ़ेद-शुभ्र मर्सराईज़ की मँहगी धोती। वूलन का कोट। सिर पर ऊँची, काली गधर्व छाप टोपी। बहुत सुन्दर हँसते। हँसते समय उनके दाँत में लगी सोने की कील चमकती। वैसे वे अँगूठा-छाप थे, परन्तु फ़ोटो खिचवाते समय हाथ में भारी-भरकम ग्रंथ और कोट की जेब में पेन रहता।

चाचा बड़े रोबदार। पीछे की ओर मुड़ते हुए घुँघराले बाल। अप-टू-डेट रहते। शुरू-शुरू में अखाडे जाते थे। गतका-पेटी, लाठी-काठी खेलते। गतका-पेटी से नीबू के दो टुकड़े यूँ ही कर डालते। उनके गले मे ताक़त की तावीज़ बँधी होती।

दादी बडी भोली, बातूनी। देवकी नाम था उसका। जवानी मे ही पति मर गया। बड़ी हिम्मत से उसने अपना वैधव्य निभाया।

बड़ी मेहनत से रोटियां जुटाकर उसने अपने दो बेटे किसी लायक बनाये।

उससे यदि पूछा जाये, "दादी, तू बम्बई कब आयी ?" वह दूर कहीं देखते हुए कहती .

"उसका ऐसा है बेटे, तेरा दादा भाँग-ताडी से मरा। तेरा बाप इत्ता-सा था। चाचा तो बहुत छोटा। उस वक़्त गाँव में बड़े ज़ुल्म होते, तालुके के मामलेदार-सा ज़ुल्म। महारकी की पारी आती। घर मे कोई प्रमुख नही था। तब भाई-भतीजे भी छलते। मरी-माँ की गाडी खीचने जाना पड़ता। साथ ही गाँव की महार विधवाएँ देवी का आह्वान करती। धारणा यह थी कि इनके इस तरह चिल्लाने से गाँव मे देवी का कोई कोप नही होता। तभी गाँव मे चेचक की बीमारी आयी। उस समय मरी-माँ की गाड़ी मुझे एक गाँव से दूसरे गाँव खीचते हुए ले जाना पड़ता। होली का त्योहार था। उस त्योहार में यह डर होता कि तले पदार्थ या मीठे पकवानो के कारण देवी का प्रकोप बढ़ सकता है। इसलिए गाँव के पटेल मुझे यह ऐलान करने को कहते थे कि 'गाँव मे कही भी पकवान न बनें'। तब मैं घुँघरू वाली लाठी लेकर आवाज़ देती जाती। विठोबा के मन्दिर की सीढ़ियों पर कोडीबा बैठा हुआ था। उसकी आँखो में जवानी की मस्ती थी। पता नहीं, उसके मन मे क्या आया। शायद मेरा मज़ाक उड़ाना चाहता था, बोला, 'पकड़ो रे, इस महारिन को ! इसका दिमाग खराब हो गया है। इसे चौपाल पर बाँध दो। मन में जो आया सो बकती है !' तब तक काफी लोग जमा हो गये। कोई मुझ पर हँस रहा था, कोई आँखें तरेरकर देख रहा था।

"मैंने गाँव वालो को हाथ-पैर जोडे। मैंने किसके कहने पर आवाज़ दी है, यह बात कसम खा कर बतायी। परन्तु गाँव वाले सुनने को तैयार नहीं थे। महारवाड़ा मे चचेरे-देवर को ख़बर लगी। गाँव मे उसकी थोडी-बहुत इज़्ज़त थी। जब वह आया, तब गाँव वालों ने मुझे छोडा। रात-भर नीद नहीं आयी। सोचा, माँ पांढरी मे नहीं रहना चाहिए। दो बच्चो को लेकर बम्बई आयी। यहाँ बहन के आसरे रही।"

ससुर को छोड़ दादी को किसी का नाम याद न आता। अनेको की वंशावली किताबों मे पढता हूँ। कुछ लोगो के वंश-वृक्ष किताबों मे पढ़े हैं। परन्तु मुझे परदादा से पहले के किसी पूर्वज का नाम नहीं मालूम। ऐसा

कहते हैं कि वंशावलियाँ तीर्थक्षेत्रों के पंडों की पोथियों में रहती हैं...परन्तु मेरे पूर्वज ऐसे तीर्थक्षेत्रों में गये होंगे क्या ? यदि गये भी होंगे तो जेजुरी के खंडोवा के दर्शन हेतु गये होंगे ।

एक दूसरी घटना के कारण दादी मेरे मन में गहरे बैठ गयी । घर का कमाऊ आदमी खाना खाने बैठता कि दादी भी उसके सामने आ बैठती । उसकी पीठ पर हाथ फेरती और उसके मुँह से ये शब्द निकलते, "बेटा, गपागप खा !"

पिताजी घर के मुखिया थे । जब तक वे रोटी-पानी ला कर देते रहे, तब तक दादी उनके पास बैठी । पिताजी के बाद चाचा का नम्बर लगा । वे एक बार धुत्त पीकर घर आये । चाचा खाने बैठे और दादी की रट चालू हुई, "बेटा, गपागप खा !"

उस दिन चाचा बहुत क्रोधित हुए । गुस्से मे आकर उन्होंने अपनी थाली सामने के आँगन में फेंक दी । सारा खाना मिट्टी मे मिल गया । वे गुस्से में बोले, "अब फिर कहेगी, गपागप खा, गपागप खा ! क्या मैं छोटा बच्चा हूँ ?"

बस, दो-चार दिन के लिए दादी मौन रही । पर उसकी आदत नही छूटी । बाद में जब मैं बडा हुआ, दो पैसे कमा कर घर लाने लगा, तब दादी मेरे भोजन के वक़्त पास बैठती । पीठ पर हाथ फेरती और कहती, "बेटा, गपागप खा !" मेरी आँखें डबडबा जातीं ।

आज दादी नहीं है । जब खाना खाने बैठता हूँ, उसकी याद आती है । उसके शब्द कानों मे गूँजते हैं । वैसे दादी ने अपनी सारी उम्र में इत्ता-सा भी सुख नहीं भोगा । आज भी मुझे आश्चर्य होता है कि उसके स्वभाव की कोमलता इतने कड़वे यथार्थ से भी कैसे नही खुरची गयी ? दादी जैसी पुरानी पीढ़ी के लोग आज लुप्त हो रहे हैं । सिर्फ़ अपने व्यवहार मे कड़वाहट लिये लोग ही चारों ओर दिखायी देते हैं ।

मैं तालुके के अँग्रेज़ी स्कूल में पढ रहा था । जब दादी को बम्बई में यह मालूम हुआ कि मेरे दाढी-मूँछ निकल आयी है, तब उसकी खुशी का ठिकाना न रहा । चाचा-चाची को बिना बताये उसने मेरे लिए दाढ़ी बनाने का सामान भेजा । कितना ही वक़्त गुज़र गया है, फिर भी मैं उसी मशीन

से दाढ़ी बनाता हूँ। वैसे मशीन अब बहुत खराब हो चुकी है, पर उसे फेंकने की इच्छा नहीं होती।

कुछ लोगों को पुनर्जन्म की घटना याद रहती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसी मेरी बुद्धि तेज़ नहीं है कि मैं अपने पुनर्जन्म की घटनाएँ बता सकूँ। परन्तु आँखों पर ज़ोर देकर जब मैं मुड़कर देखता हूँ, तब स्कूल जाने से पहले की एक घटना मेरे कलेजे पर कुरेद कर लिखी गयी दिखती है। उस घटना ने मेरे भीतर गहरा ज़ख्म बनाया।

माँ और मैं गाँव मे रहते थे। पिताजी बम्बई से कभी-कभी मिलने आ जाया करते। उस दिन पिताजी रात में ही आये। साथ बम्बई का पाव-खजूर, चमकीली कृष्ण छाप रेशेवाली टोपी, कोरे शुभ्र कपड़े लाये। मैं रात-भर खुशी के मारे सो नहीं सका। सुबह-सुबह नींद लगी और जल्दी ही खुल गयी। पिताजी घर के सामने वाले बड़े पत्थर पर बैठकर मजन कर रहे थे। इतने मे हमारे घर की ओर दो पुलिस वाले आते है। कुछ समझने से पहले ही पिताजी के हाथों में हथकड़ियाँ पहना दी जाती हैं। माँ दहाड़ मारकर रो रही थी। मेरी तो ज़ुबान ही बन्द हो गयी। स्तब्ध आँखो से मैं इस दृश्य को देख रहा था। महारवाड़ा मे यह बात हवा की तरह फैल गयी। पिताजी को खून के आरोप मे गिरफ़्तार किया गया था। उन दिनों महारवाड़ा मे आपसी बैर बहुत अधिक था। पवार विरुद्ध रूपवते—ऐसे दो दल। आपसी दुश्मनी इतनी थी कि पवार-दल का यदि कोई मर जाता तो रूपवते-दल एक पुतला बनाकर उसकी शव-यात्रा निकालते। बाजे के साथ वह 'जनाज़ा' निकाला जाता। इसी तरह रूपवते के ग्रुप मे किसी के मरने पर पवार-दल भी ऐसा ही करता। इन्ही झगड़ो की यह परिणति थी कि पिताजी पर खून का आरोप लगाने तक की साज़िश रची गयी।

महारवाड़ा में उमाआजा नाम का एक बूढा रहता था। टूटे-फूटे मकान मे वह अपनी गूंगी बीवी के साथ रहता था। ताबीज़ देना, भविष्य बताना, रामायण-महाभारत पढना—यह सब उसका धधा था। उसे सब 'शकुनी मामा' कहते। वह बहुत ही काइयां आदमी था। किसी का भी सुख उसे फूटी आँख न सुहाता।

मरे जानवरों की किसके खेत में चीड-फाड़ की जाये, इस बात को लेकर गाँव में विवाद उठ खड़ा हुआ। पंचायत के पास ही जगताप नाम के एक भिक्षुक का घर था। यह जगताप हमारे गाँव का नही था। भूले-भटके इस गाँव में आ गया था। साथ मे बीवी-बच्चे भी थे। पुरानी बात है कि उस समय मेरे परदादा नि.संतान थे। बुढ़ापे मे अपनी सम्पति का क्या करें, यह सोचकर उन्होंने आधी ज़मीन, बाड़ी का आधा हिस्सा, महारकी के दो आने हिस्सा इस भिक्षुक को दान में दे दिया। फिर परदादा का वंश बुढापे में फलने-फूलने लगा। परन्तु थूक कर चाटें कैसे? इसलिए उन्होंने दान वापस नही लिया। इस ख़ाली जगह में भिक्षुक ने शंकर की स्थापना की। इस मन्दिर के पास मरे जानवरों की चीरफाड़ न हो, इसलिए पवार-रूपवते में मारपीट, विवाद हुआ। जगताप का ख़ानदान अब रूपवते के साथ। इस जमीन के लिए कोर्ट-कचहरी हुई। पवार मडली जीत गयी। इसका बदला कैसे लिया जाये, इस ताक मे था उमाआजा। उसने एक युक्ति ढूंढ निकाली। *दादा जब बम्बई रहते थे, तब उसके साथ ही उनका लँगोटिया यार मुर्हा* था। एक चाय वे दोनों आधी-आधी कर पीते। पता नही कैसे वह बम्बई से पारे की तरह गायब हो गया। उसका ख़ून पिताजी ने ही किया। उन दोनो की एक ही रखैल थी, इसलिए पिताजी ने मुर्हा का काँटा निकाल फेंका है, यह बात फैलायी गयी। मुर्हा की माँ दगड़ाव मुर्गे का ख़ून बेटे के कपडों पर छिड़ककर रोती-चिल्लाती तालुके पहुँची। वैसे इस सारे नाटक का सूत्रधार उमाआजा ही था। पिताजी पर ख़ून का आरोप लगाया गया। जब मैं माँ के साथ पिताजी से मिलने तालुके की कचहरी जाता हूँ तो पिताजी घंटा बजाने की जगह सलाखों के पीछे खड़े दिखते है। उन्हें इस हालत मे देख कर मैं रोने लगता हूँ। *पास ही दो मील पर माँ का मायका था।* वहाँ से माँ का चाचा तानाजी भागता-दौड़ता आया। अपनी पत्नी के गहने महाजन के पास गिरवी रखता है। फ़ौजदार की डाँट-डपट करता है। मामले में वैसे कोई ख़ास दम तो था ही नहीं। पर ख़ूनी होने का आरोप लगना ही घर के सभी लोगों के लिए रोंगटे खड़े कर देने वाली बात थी।

इस घटना को पिताजी उम्र-भर नहीं भूल पाये। दोनों भाई मुर्हा की खोज में इधर-उधर भटकते हैं। यह अपमान चाचा के मन में भी डंक मार

रहा था। उसी समय उमाआजा अपनी बेटी से मिलने बम्बई आया। उसकी बेटी कावाखाना में ही ब्याही थी। उस रात चाचा ने उमाआजा को हरा-नीला होने तक पीटा। उमाआजा ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था। छुडाने कोई नहीं आया। इस घटना के बाद पिताजी हम माँ-बेटे को बम्बई ले आये। पिताजी के रिटायर होने तक हम कावाखाना में ही रहे।

सन् 1944 याद आ रहा है, क्योंकि उस साल गोदी में बम-विस्फोट हुआ था। बांद्रा में दादी की ताईबाई नाम की एक बहन थी। दादी की यह 'दूध-बहन' थी, अर्थात् माँ एक और बाप दो। उसे बचपन से ही खंडोबा की देवदासी बना दिया गया था। परन्तु जैसे ही वह सब समझने लगी, उसने वह धंधा छोड दिया। मजदूरों-सा कष्ट उठाती। बहुत प्यारा स्वभाव था उसका। उसने एक बार जो राजपुरी चूड़ियाँ पहनी तो मरने तक नहीं फूटी, इसकी आज भी प्रशंसा होती है। वह अपने भाई के परिवार की मदद करती। भरी जवानी में भाई मर जाने के कारण उसकी जवान बीवी को उसने बच्ची-सा संभाला। उसके इकलौते बेटे की परवरिश की। बांद्रा में मुसलमान-ईसाई बस्ती में रहने पर भी इन्हें कोई छेड़ने का साहस न करता। ननद को छेड़ने वाले एक मुसलमान को उसने पत्थर पर पछाड़ा था—ऐसा उसका दबदबा था!

माउंट-मेरी के पास ईसाई लडके-लड़कियों का एक छात्रावास था। वहाँ बाज़ार-हाट पहुँचाना, मटन पहुँचाना—दादी का यही धंधा था। माउंट-मेरी का मेला जब लगता, तब परिवार के सभी सदस्य सात-आठ दिन पहले ही उसके घर जा धमकते। एक बात तो यह थी कि उसके घर खाने-पीने की मौज थी। मटन-मछली पर्याप्त मात्रा में मिलते; माउंट-मेरी के मेले में ऊधम-मस्ती करने को मिलता। उसका घर खाड़ी के पास ही था। वहीं किनारे थोडा तैर भी लेते। सारे वातावरण में मछली की गंध शंख-सीपियों की बहार। समुद्र-किनारे लकड़ी और रेती के घर बनाने का खेल।

ऐसी ही एक शाम समुद्र-किनारे तैर रहा था। सूरज डूबने में बहुत समय नहीं था। अचानक कुलाबा की दिशा से समुद्र में भयानक ज्वाला दिखने लगी। मिट्टी के तेल से समुद्र सुलग उठा। ऐसा था दृश्य। कान के परदे फाड़ने वाला विस्फोट भी हुआ। दौड़ते-भागते घर आया। साथ में दादी। रेलगाड़ी में इसी की चर्चा। बॉम्बे सेंट्रल पर उतरा। बाहर आकर देखा कि हर कोई जो भी वाहन मिले, उससे बम्बई छोड़ रहा है। सारे शहर में हाहाकार। क्या हुआ, ठीक से किसी को नहीं मालूम। कावाखाना में आते ही मालूम हुआ कि गोदी में बम-विस्फोट हुआ है। हम घर में सभी चिंता मे चूर। दादा और तात्या गोदी में काम पर थे। दादा और तात्या घर आये, खुश-ख़बरी लेकर। अभी गोदी में अग्निकांड हुआ है। बहुत बड़ी सम्पत्ति अब हाथ लगेगी, इसी खुशी में सब मस्त थे। कावाखाने में कई तरह की चर्चाएँ होती। किसी के यहाँ छप्पर फटने से सोने की ईंटो की वर्षा हुई तो किसी को राख में सोने का घड़ा मिला। बस, यही चर्चा।

प्रात: सब लोग जो भी वाहन मिला, उसी से अग्निकांड की दिशा की ओर भागते हैं। सात-आठ दिनों तक यही क्रम। एक दिन तो वे सफ़ेद-शुभ्र कागज़ हाथगाड़ी पर लाद कर लाये। उनके चेहरे पर अलादीन की खुशी झलक रही थी। सब भीगा हुआ था। बहुत बडे कागज़ की रील थी। सारे घर में, आँगन में, सभी ओर कागज़ सुखाया जा रहा था। घर में गीले कागज़ की चमत्कारिक गंध। कागज सूखने के बाद पास के ही कागज़ गोदाम में अच्छे भाव पर बिक गया। भविष्य में इसी कागज से पाला पड़ेगा। इसका सपना भी उस समय कैसे आता? कावाखाना में मुझे राख के अलावा कुछ नही मिला। रत्ती-भर सोने का नाम न था।

नागपाडा के नगर परिषद स्कूल में मेरा नाम लिखवाया गया। शायद दूसरी तक मैं वहाँ था। अँगुलियों में सोने की अँगूठियाँ पहनने वाला एक चमार मास्टर याद आता है। स्कूल के सर्टिफ़िकेट में मेरी जो जन्म तारीख़ है न, वह मुझे कभी भी सही नही लगी। कैसे लगेगी? माँ-बाप अनपढ़। अंदाज़ से कोई तारीख़ डालनी थी। इसलिए कभी जन्मदिन नहीं मनाया गया। इसी बीच कुछ साल गाँव और बम्बई की आवाजाही में कट गये।

दूसरी के बाद बम्बई छोड़ दी। उसके लिए प्रतिकूल कारण भी थे।

पिताजी दारू के फंदे में पूरी तरह फँस चुके थे। इसकी लत उन्हे कब लगी, याद नही। कौन बताये? शायद मेरे जन्म के पहले से ही पीते हो। वैसी परम्परा भी थी। उस वातावरण में दारू पीना कोई बुरा न समझता। वैसे घर मे उनका तनिक भी ध्यान न रहता। पगार मिली कि पिताजी दस-पन्द्रह दिन गायब। घर आते ही नही थे। माँ बेचारी बाजार जाकर कागज जमा करती। उसकी कमाई पर रो-धो कर गुजारा होता। कभी-कभी माँ निराश हो जाती। पर पिताजी के सामने मुँह खोलने की उसकी हिम्मत न होती। पगार के दिन माँ मुझे अँगुली पकड कर गोदी के गेट के पास ले जाती। हम घटो पिताजी की राह देखते। गोदी के कई दरवाजे थे। पिताजी किस दरवाजे से ग़ायब हो जाते, मालूम ही न पड़ता।

गोदी में पिताजी क्या काम करते थे, उन्हे कितनी पगार मिलती थी, यह अब नही बता सकते। पर एक-दो बार उनके लिए रोटी लेकर गोदी में जाने की बात पक्की याद है। बाहर से गोदी की भीतरी व्याप्ति का अदाज नही लगता। मचलता, खूब दूर तक फैला हुआ मचलता नीला समुद्र। उस पर ऊँची इमारतों की तरह झूलते जहाज, जहाजों में चढ़ते-उतरते गोरे साहब। उनका उस समय कितना रुआब था! भारतीय मजदूर उनके लिए कचरा थे।

उन दिनो गोदी में हुई एक घटना के बाद कामगारों में बहुत असंतोष फैल गया था। गेट के दरवाजे के पास बैठा एक मजदूर लच टाइम में अपनी पोटली की रोटी खा रहा था। वहां से जा रहे एक गोरे अधिकारी ने उसका भोजन बूट की ठोकर से उडा दिया। कामगार को गालियाँ दी। पूरी गोदी में इस कारण असतोप की आग भडक उठी। रोकड़े नाम के एक तरुण ने इसका विरोध बड़े धैर्य से किया। अधिकारी जब तक माफी नही माँगता, तब तक आमरण अनशन की घोषणा। इस बात का समुचित असर हुआ। कामगारों को अपनी अस्मिता का बोध हुआ। आगे चलकर रोकड़े को मजदूर-नेता के रूप में बहुत प्रसिद्धि मिली। ये रोकड़े कावाखाने में आते हैं। पिताजी और चाचा से बातचीत करते हैं। इस बात का बचपन

में मुझे बड़ा गर्व होता।

तो मैं क्या बता रहा था ? पिताजी का काम। वे स्किल्ड वर्कर नहीं थे। एक बड़ी भट्टी के पास बैठते। सारी गोदी का कचरा जलाना ही उनका काम था। अब पता लगता है कि पिताजी की सर्जनात्मक शक्ति गोदी ने क्यों नष्ट कर दी ! पिताजी में कितने हुनर थे। गाँव में जब थे, तब शहनाई बड़ी अच्छी बजाते। ढोलक में स्याही भरते। नौकरी पर आने से पहले वे एक ब्राह्मण के घर सालाना नौकर थे। वहाँ वे बडी कुशलता से बुआई का काम करते। एक बार तो उन्होने सरपट भागने वाले साँप की पूँछ ही पकड़ ली। उसे खूब ज़ोर से घुमाया और पत्थर पर पटक दिया। उसकी हड्डियाँ ढीली पड़ गयी। ऐसे थे मेरे पिता। पर गोदी में कचरा जलाने के काम पर। क्या इसी कारण तो उनकी दारू पीने की लत नही बढ़ी ? आज कुछ नही कहा जा सकता।

काम से वे सीधे दारू के अड्डे पर जाते। उस जमाने में कदम-कदम पर पारसियों के ये अड्डे थे। मुझे लगता है, मोरारजी का जमाना आया और,ये अड्डे गायब हो गये। खुले रूप से दारू मिलना कठिन हो गया ! पर पिताजी तो रुक नही सकते थे। जगल के किसी जीव को जैसे आदमी का खून मुँह लग जाता है, वैसे ही उनका यह व्यसन उनसे आगे बढता गया था। क्या करें वे ? वे स्पिरिट पीने लगे। बोहरा की दूकान पर वे मुझे स्पिरिट लाने भेजते। स्पिरिट लाते समय छोटा जर्मन टोप साथ ले जाने को कहते। किसी ने पकड़ा तो सीधे टोप नीचे रख देना, ऐसी युक्ति उन्होंने समझायी थी। है न दिमाग ? बचपन में नाक मे घँसी स्पिरिट की गध आज भी याद है। आठ-बारह आने मे स्पिरिट उन्हें आसानी से मिल जाता। स्पिरिट में पानी मिलाते। उस पेय का सफ़ेद-शुभ्र दूध-सा रग हो जाता। नाक के पास लाते ही बदबू से सिर फटने को होता। सही अर्थों में वह जहर ही था।

पीते समय पिताजी बड़े विचित्र लगते। मुँह विचका-विचका कर वह पेय गले से नीचे उतारते। लगता, पीते समय इतनी तकलीफ़ होती है तो क्यों पीते हैं ? एक-दो साल में यदि अँतड़ियों में छेद न हो जाते तो ही आश्चर्य होता। इस पर खाना भी अगड़म-बगड़म। पेट का गड्ढा भरने

तक ही। दिनोंदिन उनका शरीर छँटता गया।

माँ की हालत ऐसी थी, जैसे मुँह दवाकर उसे मुक्कों से पीटा जा रहा हो। पिताजी कोयले-से काले। पर काली लकडी में भी शीशम की-सी चमक थी। माँ उनकी तुलना में बहुत उजली। गेहुँए रंग की। पिताजी ताड-से ऊँचे तो माँ ठिगनी। नौ-गजी साड़ी पहनती। सुहाग की प्रतीक बडी-सी सिंदूर-बिंदी लगाती। गले में हमेशा काली गुरियों की माला। कभी-कभी 'डोरल' और दो-चार सोने की मणियाँ। गहने भी क्या? हाथों में चाँदी की चूड़ियाँ। उसे भी कभी-कभी पिताजी महाजन के पास गिरवी रख देते।

पीने के बाद पिताजी 'दादा' न रहते। साक्षात शैतान हो जाते। ऐसे समय माँ उनके सामने न जाती। परन्तु उसके प्रेम का रहस्य अंत तक न खुल सका। पिताजी के प्रति उसे तिल-भर सी घृणा न होती। उसके पास जितने भी पैसे होते, वह उनके सामने डाल देती। नशा उतरने पर 'दारू फिर नहीं छुऊँगा', इस प्रकार की वे सौगंध खाते। पर सवेरे ली गयी कसम शाम तक भी न टिकती।

पिताजी कुछ-कुछ रंडीबाज भी थे। एक घटना तो साफ़-साफ़ याद आती है। शायद वह पगार का दिन था। घर आये तो पीकर ही। आये तो 'नाके तक जाकर आता हूँ', कहकर बाहर निकलने की तैयारी की। मैं पीछे पड जाता हूँ। मुझे साथ लेकर ही वे बाहर निकले। ईरानी होटल के 'फ़ैमिली-रूम' में बैठ जाते हैं। मैंने देखा कि वहाँ पहले से ही एक महिला बैठी हुई है। काली-साँवली-सी। उस छोटी उम्र में भी यह सब क्या है, मेरे ध्यान में आ जाता है। मैं पिताजी को गालियाँ देने लगता हूँ कि यही करना था तो मुझे क्यों लाये? उन्हें खरी-खोटी सुनाता हूँ। वे मेरे संवाद को मुसकराते हुए झेल लेते हैं। इस कारण मैं और भी क्रोधित होता हूँ। सामने बैठी महिला मुझे लाड करने लगती है। मुझे पास बिठाने की कोशिश करती है। मैंने गुस्से में उसके हाथ झटक दिये। लगता, इस महिला से मेरी माँ कितनी गुनी अच्छी है। फिर पिताजी ऐसा क्यों करते हैं? मैं वहाँ नहीं ठहरना चाहता, यह देखकर पिताजी ने मुझे वापस घर लाकर छोड़ दिया।

मैं घर आकर माँ को सारी घटना बताता हूँ। तब वह फीकी हँसी

हँसती है। शायद उसे इस बात की जानकारी हो। पुरुष द्वारा की गयी रडीबाज़ी अर्थात्, छाती पर एकाध मेडल लटकाने जैसा वातावरण चारों ओर था। गर्व से देखा जाता था। वैसे पिताजी की रंडियाँ भी साधारण ही होती थीं—कोई बंगलों मे काम करने वाली आया तो कोई लारी पर मिट्टी ढोने वाली। कितनी बदली होंगी, कोई गिनती नही।

दारू के नशे मे भी पिताजी द्वारा माँ को मारने-पीटने की कोई घटना याद नही है। एक ही घटना याद है, पर वह भी दूसरे कारणों के लिए। इसमे पिताजी के मन का एक दूसरा ही कोना खुलता है। भगवान जानें, एक बार उनके मन में क्या आया कि उन्होंने घर के सभी लोगो को बाहर निकाल दिया। भीतर सिर्फ़ माँ। दरवाज़े-खिडकियाँ बद। शायद आज सखू का पसीना निकलेगा, चालीसी की औरतों की कानाफूसी। मैं रुआँसा। माँ की ज़ोर-ज़ोर से चीख़ने की आवाज़ और पिताजी की लाठी की आवाज। सामने के क्लब से यहूदी लोग दौड़े। पिताजी बाहर की खटखटाहट पर कोई ध्यान नही देते। अब शायद सखू मरेगी, यह बाहर की चिंता। यहूदी लोग दरवाज़ा तोड़ते हैं। भीतर जाकर देखते हैं तो पिताजी बिछौने पर लाठी पटक रहे है और माँ कोने मे रो रही है। बाहर के लोगो को लगा कि बीवी को पीट रहा है; पर वैसा कुछ भी नही था। इतने साल बीत गये, पर इस घटना का रहस्य नही खुल पाया।

माँ की लड़की के लिए बड़ी इच्छा थी। मेरे बाद एक बहन हुई, पर बचपन मे ही मर गयी। इसलिए वह लड़की के लिए हमेशा मिन्नत करती। सायन जाकर सटपाई की पूजा करती। माँ के लड़की हुई और उसके बाद तुरंत मेरे चाची की हमेशा बीमार रहने वाली लड़की मर गयी। इसका सारा दोष माँ पर आया। माँ ने ही कुछ करनी करके लड़की मार डाली और स्वयं की कोख आबाद कर ली। ऐसी कुछ ग़लतफ़हमी चाची को हुई जो उम्र-भर रही। बाद में, उन दोनों में भयकर दुश्मनी हो गयी। वे दोनों एक-दूसरे का अनिष्ट चाहती। चाची के मन से यह द्वेष आज तक नही गया। वह सब-कुछ भूल जाये, इसके लिए मैंने और पत्नी ने मिलकर बहुत प्रयत्न किये। परन्तु उसके मन में बैठा भूत नही निकला। एक-दो बार वह घर भी आयी, पर उसने हमारे घर का एक बूँद पानी तक नही

पिया। ऐसे समय खाना तो दूर ही रहा। शायद हम जहर दे दें या कुछ गडबड़ कर दें—ऐसी ही उसकी भावना रही होगी।

एक-दो साल पहले की बात है। किसी रिश्तेदार ने यह अफवाह उडा दी कि मैं ट्रेन-दुर्घटना में मर गया हूँ। चाची और उसके रिश्तेदार चीखते-चिल्लाते घर आये। ऐसा यह प्रेम !

मैं क्या कह रहा था ? बहन के बारे मे। घर मे मेरे बाद छोटी बच्ची के आने पर वह सबके लिए मन-बहलाव का विषय हो गयी। मैं उसे जान से भी ज्यादा चाहता। उसका नाम इंदु रखा गया। जिस हॉस्पिटल में माँ की जचकी हुई, वहीं की नर्स ने मेरी बहन का यह नामकरण किया था। माँ की तरह ही बहन का गोल चेहरा, वैसी ही उजले रंग की, छोटे कद की, बोलती आँखें।

मुझे अपने-आप पर शर्म आये, ऐसा कुछ व्यवहार उस समय पिताजी करते। उनकी टट्पूंजी पगार। उस पर रंडीबाजी। दारू की लत। शौक पूरा करने के लिए पैसों की हमेशा कमी रहती। अपनी लत पूरी करने के लिए वे गोदी से पीतल, तांबा चुराकर लाते। वैसे गेट पर पूरा बन्दोबस्त होता। उन सबकी आँखो मे धूल झोंककर वे साफ निकल जाते। जेबों की तलाशी में उनका माल मिलना असंभव होता। वे लँगोटी मे माल बाँधते। यदि उनकी चोरी पकड़ी जाती, तो आज मुझे भी समाज में मुंह दिखाना मुश्किल हो जाता। और उनकी अपनी कितनी फजीहत होती ?

मुझे वे सब घटनाएँ बहुत बुरी लगती। पर कौन कहे ? इतना साहस उस छोटी उम्र मे असंभव था। एक ओर स्कूल में मैं 'सदा सच बोलो' पढ रहा था और दूसरी ओर पिताजी का चोरी का माल चोर-बाज़ार में बेच रहा था। यथार्थ की दुनिया से स्कूल की दुनिया बहुत नकली लगती—तसवीरों मे नयन-मनोरम चित्र टाँगने जैसा।

बस्ती में क्या नही था ? एक आदमी तो रोज़ घर मे दस रुपये के नोट छापता। उसे हम छत पर सुखाते। हममे से किसी लडके को वह उसे भँजाने के लिए देता। इस आदमी का संयम ऐसा था कि वह ज्यादा नोट न छापता। दिन-भर का खर्च चल जाये, बस। ज्यादा लालच करने पर जेल की हवा खानी पड़ेगी, इस बात की उसे पूरी जानकारी थी। ऐसी थी

बस्ती की दुनिया। ऐसी दुनिया में यदि मेरी परवरिश हुई होती तो यह सब परिवर्तन असंभव था। कौन कह सकता है कि मैं भी उनमे से एक होता ! परन्तु पिताजी का बढता व्यसन। सारी पगार कर्जदारों मे बँट जाती। सिर पर पठानों का कर्ज। दिनोदिन यह सब शायद उनके लिए असह्य होता जा रहा था। एक दिन अचानक ही वे नौकरी से इस्तीफ़ा दे देते हैं। प्राप्त फ़ड आदि वे क़र्जदारों मे बाँट देते हैं और गांव लौटने की योजना बनाते है।

वैसे पिताजी का दर्शन बडा अजीब था। 'नगा आया, नगा जाऊँगा'— शराब के नशे में वे ऐसा ही बड़बडाते। उन्होने अपने जीवन मे कभी भी माया जोड़ने की बात नही सोची। गोदी में भी वे जो चोरी करते, उसके लिए उनका अपना तरीक़ा होता। बड़ी चोरियों में वे हाथ न डालते। क्लब मे खेलने के लिए आने वाला बूढा यहूदी उनके अच्छे परिचितो मे से था। सूटबूट में वह गोराचिट्टा यहूदी घर आता। हैट निकालकर गुदडी पर बैठता। हमारे घर का मटन-शोरवा खाता। उसका होंठ, गाल—तीखी-मिर्च के कारण लाल-लाल हो जाते। सू-सा करता रहता। उसका हीरों का व्यापार था। छोटी-सी लकड़ी की पेटी काँख में दबाकर वह धनवानो के पास जाता। उसे एक बार कुछ दिनों के लिए पैलेस्टाईन जाना था। उसे पिताजी पर विश्वास था। पेटी हमारे घर रख गया। एक-दो साल बीत जाते हैं, वह वापस नही आता। हमको लगा, शायद बुढ़ऊ लंबा हो गया। पर पिताजी के मन में उन हीरों को बेचने का कोई लालच नही था। दो साल के बाद वह वापस आता है। उसको उसका माल सही-सलामत वापस दिया जाता है। ऐसे थे पिताजी !

वैसे बंबई छोड़ते समय मुझे दुख हुआ था। न जाने क्यो, गाँव पसद ही न था। बंबई में बत्तियो की रोशनी से झिलमिलाती दुनिया। यह शहर अँगूठी के पत्थर-सा लगता। बहुत दिनों तक मुझे गाँव में एक सपना दिखता रहा। एक ऊँची दीवाल से मैं छलाँग लगाता हूँ और तत्काल बंबई पहुँचता हूँ। बंबई में चाय के साथ पाव-बटर मिलता। कभी पाव-मस्का। सिनेमा

तो हमेशा ही देखता हूँ मारधाड़ का। पिताजी ने एक बार माँ को खास तौर पर 'संत सखू' दिखाया। पूरी पिक्चर मे माँ सखू के दुखो को देखकर रोती रही। उसे अपना दुख सखू के रूप में तो नही दिखा? उसका भी नाम सखू, शायद इसीलिए यह पिक्चर पिताजी ने उसे दिखायी। ऐसी रुलाने वाली पिक्चरें मुझे कभी अच्छी नही लगती। नादिया, जॉन कावस की पिक्चरें मन को भाती। पीला-हाउस में चार आने में वे देखी जा सकती थी। मेरी उम्र के लडको के कितने मजेदार खेल। 'चिकोटी-हुंग्याप, इ-हुंग्याप' कहा कि हाथ ऊपर कर देते। जेब मे जो कुछ भी माल होगा, कहने वाला निकाल लेता। पर कंचे और ताश खेलना कभी नही सीख सका। चिकोटी मे हमेशा कूल्हों पर हाथ रखना पडता। यदि वहाँ हाथ नही रहता तो जोरदार तमाचा पडता। सामने ईसाई लोगों द्वारा शुरू किया गया 'नेबरहुड' था। वहाँ लोहे के झूले, 'रपटना', 'सी-साँ' आदि खेलने के साधन थे। 'नेबरहुड' की दीवाल पर बैठकर लडके आने-जाने वाली मोटरगाडियो के नंबर पर जुआ खेलते। इस खेल मे मेरी कोई रुचि नही थी। लेकिन व्हिक्टोरिया के पीछे लटकना, उसके चाबुकों की मार खाना—यह सब थ्रिल लगता। पीठ पर फटी चद्दर बाँधकर बगीचे मे भटकना, टारझन-सा आवाज देना, इस सब मे भी बड़ा मजा आता। इन सब खेलो से अब वंचित रहना पड़ेगा, इसी बात का अफसोस हो रहा था बंबई छोडते वक्त।

उन दिनों रेल से जाने पर घोटी उतरना पड़ता। वैसे हम घाट के रहने वाले। तालुके में सह्याद्री की कतारो से एक रास्ता गया है। ऊँचा कलसूबाई का शिखर। वहाँ से बंबई द्वीपसमूह स्पष्ट दिखते—ये सब पुराने लोगो की बातें। जन्मगाँव के पास से ही अमृतवाहिनी प्रवरा नदी बहती है। गाँव पहाडों की गोद मे। तालुके मे देश के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होने वाला विशाल बाँध भंडारहरा। उसका पानी नीचे कोपरगाँव, श्रीरामपुर आदि तालुको मे जाता। शक्कर, गन्ना और मोसबी के बगीचे होते। वैसे हमारा तालुका सूखा। पथरीला। 'पत्थरो का देश'—यह वर्णन शायद हमारे तालुके को देखकर ही कविता में आया होगा। तालुके में अधिकतर आदिवासी, ठाकर, धीवर, लँगोटी पहननेवाले। परन्तु मेरा गाँव

बहुसंख्यक मराठों का।

घोटी से संगमनेर तक मोटर-यात्रा। उस जमाने में राज्य परिवहन नहीं था। तालुके के एक धनी मारवाड़ी का, बस का धंधा था। इसमें आदमी भेड़-बकरियों-से ठूंसे जाते। छत पर भी लोग। गांव का कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति सवार होता तो उसके घर के सामने बस खड़ी होती। ड्राईवर के पास की सीट उनके लिए रिज़र्व।

ऐसी बसों से गांव जाने की बात अच्छी तरह याद है। घोटी तक मैं 'विदाउट' ही रहता हूँ। छोटे बच्चे का टिकट लेकर क्या फ़ायदा, ऐसे मां-बाप की धारणा रही होगी। मैं विदाउट हूँ, कभी भी पकड़ा जा सकता हूँ—यह डर हमेशा चेहरे पर होता। स्टेशन आते ही अंधेरे में टी० सी० की आंख बचाकर मैं बाहर आता हूँ। मां-पिताजी मुझे प्लेटफार्म पर ही खोजते हैं। मैं उन्हें अंधेरे से ही इशारा करता हूँ। बाद में मां और पिताजी मेरी बहुत तारीफ़ करते हैं। वैसी ही दूसरी घटना गाड़ी की। तालुके के गांव में हम उतरते हैं। और बाद में खयाल आता है कि सफ़ेद चादर से लिपटी गठरी उतारने की याद ही नहीं रही। वह संगमनेर चली गयी है। मां को स्टैण्ड पर बैठाकर पिताजी और मैं गठरी की खोज में निकले। संगमनेर के स्टैण्ड पर मोटर-मालिक के पास वह लावारिस गठरी पड़ी मिलती है। मालिक देने को तैयार नहीं। 'यह आपकी ही है, [illegible] सबूत !' इस पर झंझट। मैं छोटा होने के बावजूद उसमें रखी चीज़ों के नाम [illegible] हूँ। मज़ेदार बात यह थी कि हम गांव के लिए निकले, [illegible] के सभी गांव वालों ने हमें सामान की पोटलियां दे दी। उन पर [illegible] नाम लिखकर। सुई-धागे से सीया हुआ। भीतर की [illegible] व्यक्तियों के नाम सब मैं बिना देखे बताता हूँ, [illegible] होता है। मालिक गठरी वापस देता है। उसमें [illegible] रहता। बस यही मिरची-मसाला, [illegible] खजूर-पाव। हम यदि वह माल वापस न [illegible] हमने ही वह सब हड़प लिया है, पिताजी [illegible] चतुराई के कारण माल मिल गया, [illegible] क्या बताऊँ? वे आते-जाते गांव [illegible]

यदि मेरी छाती गर्व से न फूलती तो ही आश्चर्य था !

तालुके का नाम अकोला। वहाँ से तीन-चार मील पर मेरा धामण-गाँव। गाँव के नाम में वैसे कोई बडी बात नहीं है और न ही किसी ऐतिहासिक स्थल की याद ही है। रास्ता बहुत ही धूल-भरा। बैलगाडियों के चक्के बहुत भीतर तक धँस जाते। बरसात में रास्तों में अत्यधिक कीचड। कचहरी छोड़ने के बाद गाँव जाने का रास्ता शुरू होता है। आज भी गाँव के बजाय महारवाडा के बारे में मैं अधिक बता सकता हूँ। गाँव और मेरे बीच आज भी एक अदृश्य दीवार है। वे उस पार—मैं इस पार। गाँव और महारवाडा से सीधे एक रास्ता जाता है। वही गाँव और महारवाड़ा का बॉर्डर है। यह गाँव की गोद-सा है। एक टीले पर महारवाडा। गाँव के निचले हिस्से पर। ऐसा कहते हैं कि हवा और नदी का पानी उच्च जातियों को शुद्ध मिले, इसलिए गाँवों की रचना प्राचीन काल से इसी तरह की गयी। सबके घरों के दरवाज़े गाँव के विरुद्ध दिशा में। बचपन में देखा महारवाडा याद आता है। बहुत भीड-भाड़। महारवाडा में विशाल चावडी थी। खपरैली, ऊँची-ऊँची लकडी के खंभों की। चावड़ी के फाटक नहीं थे। किसी सार्वजनिक हॉल-सा खुला-खुला। रात को सभी पुरुष चावडी में सोने आते। विशेषकर युवक-मंडली। सोने की जगह को लेकर झगड़े होते।

घर से चावडी, सामने का मैदान, वहाँ के खेल—सभी-कुछ आँखों के आगे घूमता रहता। वैसे हमारा घर बहुत मामूली। हमारे घर के दोनों ओर अच्छे मकान। इसके कारण हमारा घर बहुत ही दक़ियानूसी दिखता। जैसे बुढापे से कोई बूढ़ा ठूँठ झुक जाये। मिट्टी की दीवारें, खपरैलों के नीचे की कमान बहुत काली हो गयी। बीम के कारण अपने-आप ही घर के दो भाग हो गये थे। जब हम आये तो स्वाभाविक ही घर के सामने छोटी-छोटी कँटीली झाड़ियां, घास का जंगल फैल गया था।

कुछ ही दिनों में माँ का हाथ दीवारों पर फिरने लगता है। मकान को घर का स्वरूप मिलने लगता है। यहाँ कभी लोग भी रहते थे, इसकी

निशानी तक न थी। रॉकेल[1] की ही क्यों न हो, रोशनी घर में टिमटिमाने लगी थी।

माँ कहती, "बेटा, इसी जगह तुम्हारा जन्म हुआ।" माँ ने जन्म के समय की कौतुक-कथाएँ अनेक बार बतायी। माँ की कहानियाँ मुझे अच्छी लगती हैं।

जिस प्रकार सवर्णों की सारी विधि ब्राह्मण पुरोहित करता है, वैसे ही उस जमाने में महारों की विधि भाट करता था। यह भाट तालुके में रहता। बच्चो का नामकरण, शादी-ब्याह इत्यादि काम भाट ही करता था। वैसे ये भाट जाति से महार ही थे। परन्तु इन्हे महार लोग छोटा समझते। दरवाजे पर आने के बाद 'रावसाहेब, पुण्य महाराज' इस तरह पुकारते। हमारे घर आने वाला सीताराम भाट स्वभाव का बहुत ही मीठा था। बातें करने में एक अलग ही मिठास थी। सभी को प्यारा लगता था उसका व्यक्तित्व।

गाँव में पिताजी अपनी दिलदारी के लिए प्रसिद्ध। मेरे जन्म के समय पिताजी ने एक छोटी-सी बछिया, पाँच बर्तन भाट को दान में दिये थे। बड़ा होने पर जब-जब तालुके में सीतराम भाट से मिलता, तब-तब वह पिताजी के बारे में गौरव भरी बातें करता। 'तू उनकी दिलदारी के सामने कुछ भी नही है,' ऐसा भी कह देता। पिताजी, मात्र धर्म के डर से यह सब दान करते थे, ऐसा बिलकुल नही लगता। मुझे जितना याद है, उनके व्यक्तित्व का विद्रोही स्वरूप ही मुझे याद रहा है। वे कभी भी पूजा या उपवास में विश्वास न करते। गाँव में, 'पूजास्थान पर खंडोबा को कम-से-कम रविवार को तो स्नान कराइये,' माँ ऐसा आग्रह करती। पर पिताजी ने वह काम मुझ पर सौंप दिया था। मेरे जन्म के समय उन्होंने भाटों के लिए थे बड़ा शानदार भोज तैयार करने के लिए कहा था। परन्तु भाटों की कोई बात न मानते हुए उन्होंने बकरा काटा और सारे महारवाडा को शोरबायुक्त भोज दिया।

पिताजी के विद्रोही स्वभाव के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक दिन की बात है कि वे अपने एक मित्र सटवा के साथ शादी में गये थे।

1. मिट्टी का तेल

वे दोनो मांत्रिक के रूप में चारों ओर प्रसिद्ध थे। शादी निपट जाने के बाद एक महिला में प्रेत का सचार हुआ। उसकी लटें खुली हुई। पूरे माथे पर सिंदूर पुता हुआ। वह महिला झूमती है। सामने की गोलाकार ज़मीन नीबू, पिन नारियल से भरी हुई। पिताजी को क्या सूझा, पता नही! वे आगे बढ़ते है, वह घेरा ठोकर से उड़ाते है और उस महिला को माँ की गाली देते हैं। अब महिला का प्रेत और वेताल हुआ। महिला झूमते-झूमते कहती है, 'माँ की ऐसी-तैसी कहा?' सटवा उसी धुन में उत्तर देता है, 'जाता है वापस कि घर का ही है?' यह रंगीन वार्ता उन दोनों के बीच चलती रही। सारे बाराती हँसते-हँसते निढाल हो जाते है। इतने में पिताजी उसके चूतड मे जब बबूल का कांटा चुभोते हैं, तब कहीं उसका भूत-पिशाच भागता है। बाद मे कई दिनो तक महारवाड़ा मे यह मज़ाक सुनाया जाता रहा।

पिताजी के स्वभाव मे बुरे-भले का मिश्रण था। गाँव के अखाड़े मे महारवाड़ा के लड़को की जोर करने की मनाही है, यह देखकर उन्होंने अपने घर मे ही अखाडा शुरू किया। उस समय ओसारे में हम रहते। घर का पिछवाड़ा अखाड़े के लिए खोदा गया। लाल मिट्टी डाली गयी। अखाडे मे वे भी कभी-कभी उतरते। अपने मे छोटे लडको को कुश्ती के दाँव सिखाते। गाँव के मृदग और ठकारवाडी की ढोलकें स्याही भरने के वास्ते हमारे पास आती। मालूम नही, यह विद्या उन्होने कहाँ से सीखी!

पिताजी जब गाँव आये तो बंबई की जगमगाहट कुछ ही दिनो मे खत्म होने लगी। पेट के लिए हाथ-पैर मारना ज़रूरी हो गया। बबई में गोदी का काम उनके लिए विशेष कष्टदायक नही था, लेकिन गाँव मे आकर बबूल की, नीम की लकड़ियाँ फाड़नी पडती। वे खेतों की झाड़ियाँ खरीदते। अपने एक-दो साथियो के साथ वे कुल्हाडी कधे पर रखकर घर से निकल पड़ते। बबई की बुरी आदतों से झुलसा शरीर गाँव की आबो-हवा और मेहनत के कामों से स्वस्थ होने लगा। गहरे सूखे कुएँ के पास वे लकड़ी फाड़ रहे है, यही बचपन का दृश्य मुझे याद आ रहा है। माँ भी गाँव के मराठा लोगों के खेतों पर जाकर गोडाई, खुरपना, कटाई आदि

का काम करने लगी।

उन दिनों गाँव में दारूबंदी बड़ी आम थी। पिताजी के मन मे कभी-कभी पीने की लहर उठती। ऐसे समय वे क्या करें? वे सीधे घर में ही हाथ-भट्टी शुरू कर देते।

उनका मित्र सटवा बड़ा हुनर वाला था। उसके सान्निध्य में किसी को ऊब न होती। वह घंटों हँसाता रहता। 'पट्ठे बाबूराव की पवला मैंने नचायी है,' वह गर्व से बताता। उसके सौंदर्य का वह वर्णन करता। वैसे पवला हमारे ही ज़िले की देवदासी थी। वह इतनी गोरी थी कि पान खाते समय उसके गले से लाल भक्क पीक दिखती, यह किस्सा सटवा हमेशा बताता। दो मील की दूरी पर स्थित वाशेरे गाँव का वह रहने वाला था। दो बीवियों का धनी। वे दोनो रात-दिन खटती और इसे पालती। यह उन्ही की मेहनत पर पलता। बगुले-सा सवेरे ही उठकर वह तालुके या हमारे गाँव आ जाता। सटवा की इन दोनो बीवियो को झगडते मैंने अनेकों बार देखा। दोनो के मुँह में असख्य गालियाँ। लगता, ये अब एक-दूसरे का टेंटुआ दबाकर ही दम लेंगी। झगड़ते-झगड़ते वे बीच में ही रुक जातीं। चूने, तम्बाकू का लेन-देन करती। झगड़ा फिर शुरू करती। उनके झगडे मे बड़ा मजा आता।

शायद सटवा ने ही पिताजी को दारू निकालने की कला सिखायी होगी। जब-जब सटवा घर आता, तब-तब उसकी यही बातें। सडा गुड़, नौशादर। नशा बढाने के लिए वे किसी पेड़ की छाल भी उसमे डालते। सात-आठ दिनो तक वे डिब्बा कचरे के ढेर मे दबाकर रख देते। पर तब तक वे बेचैन हो जाते। फिर-फिर जा कर वे माल को सूंघते। दारू निकालने के लिए लकडी, घेरा उन्होने घर में ही बना लिया था। दारू की पहली धार निकलते ही वे उसमें माचिस लगा कर देखते। भक्क-से आग लगी कि माल अच्छा उतरा। तब वे खुश हो जाते। लेकिन माँ को इस भट्टी के सामने खटना पड़ता। दो फ़र्लांग की दूरी से कुएँ से पानी लेकर आना पड़ता। इसी में वह पस्त हो जाती। भट्टी मे लकड़ियाँ कम पड़ने पर पिताजी सहज ही गाँव चले जाते और अँधेरे में किसी के आहाते से हल उठा लाते। वैसे घर में भट्टी लगती, पर पिताजी ने दारू का धंधा कभी नही

किया। दारू खास दोस्तो को, गांव की मंडली को, ख़ास-तौर पर पिलायी जाती। ऐसे समय किसी के दडबो से मुर्गियाँ गायब हो जाती। एक बार पडोसी की मुर्गी मारने के लिए उमाआजा ने मुझे प्रवृत्त किया। पर मुझे यह सब पसद न था। मैं इनकार करता हूँ। पिताजी के पास जब शिकायत पहुँचती है, तब उनका ज़ोरदार थप्पड गालों पर झेलना पड़ा। मुर्ग़ी पकडने का भी उनका एक विशेष तरीका था। मुर्गी पर गीला कपड़ा डालते। वह न चीखती, न चिल्लाती। कभी-कभी जिंदा बकरा खेतों से उठा लिया जाता...उसके कानों में कडे रखे कि उसका चिल्लाना बंद।

पिताजी ने दारू निकालने के कई प्रयोग किये। एक बार तो वह तालुके से टोकरी-भर मौसमी ले आये। डिब्बे मे सडने दी। पर उस दिन भट्टी नही जमी। सारा माल खट्टा निकला। उनसे ग़लती कहाँ हुई, इसी बात पर वे रात-भर विचार करते रहे।

ऐसी थी दोस्ती पिताजी और सटवा की। उनके पास बातचीत करने के लिए कई विषय रहते, कुछ तो शुद्ध रंडीबाज़ी के। मैं छोटा था। शायद उनका खयाल था कि बातचीत बच्चे की समझ में क्या आयेगी? पिताजी बंबई आने से पहले एक ब्राह्मण जमीदार के घर सालाना नौकर थे। वहाँ कुछ औरतें घास काटने आतीं। उनके हँसिए छिपाते। 'अपने साथ सोने दो, फिर हँसिए दूँगा,' कहना उन्हे बहुत अच्छा लगता। शायद यह सौदा खुशी-खुशी होता रहा हो। नही तो पिताजी को गांव के लोग पीट डालते। वैसे बचपन में इस बाबत बडा स्वच्छद वातावरण था। 'सोने दो और मेड़ चुनो'—यह कहावत कैसे शुरू हुई होगी, इसका इससे सबूत मिलता है।

अनेक बार उनकी बातों मे 'तमाशा' का जिक्र आता। वैसे ये दोनों ही तमाशा के पीछे पागल थे। तमाशा की टोली आती तो हमारे ही घर ठहरती। देवठाण का दशरथ तमाशगीर हमेशा अपने साथियों के साथ हमारे यहाँ रुकता। दशरथ बहुत ही रोबदार, गोरा-चिट्टा था। राजसी पोशाक मे वह राजकुमार ही लगता। लावणी रचता। निजी बातचीत में भी वह बड़ा शुद्ध बोलता। हरिभाऊ बडगाँवकर का वह नाचने वाला लौंडा। इसने एक बार एक 'तमाशा' किया। हरिभाऊ, बाबूराव पट्ठे का चेला। उनके कारण पट्ठे बाबूराव के लिए इसके मन मे बडी श्रद्धा। आज

कल का सुप्रसिद्ध 'गाढवाच लग्न' (गधे की शादी) बडगाँवकर का लोकनाट्य है। बचपन में मैंने 'साँवला कुम्हार' के नाम से देखा था। जब दशरथ बूढ़ा हुआ, तब उसने देवठाण के महारवाडा में सोलह-सत्रह साल के लड़कों की तमाशा की एक अद्वितीय मंडली तैयार की। टिकट ख़रीदते समय यदि पैसे न होते तो पाव-भर ज्वार-बाजरी चल जाती। इसी कारण मुझे भी कई बार तमाशगीर बन जाने की इच्छा होती। उन दिनों के लावणी के मुखड़े-टुकड़े मुझे आज भी याद हैं।

लावणी में बहुत अश्लीलता भी है, ऐसा सुनने वालों को न लगता। औरतें भी बडी सख्या मे लावणी सुनने-देखने आती।

उन दिनों जिसके नाम की चर्चा थी वह तात्याबा शिंदे याद आता है। उसका कितना रोब था। तंबू में दस-बारह नचनियाँ। उनमें से चंदा बहुत सुंदर थी। दो-तीन बैलगाड़ियाँ। बहुत अच्छा गाता था वह। उसका 'पाथर्डी का राजा' लोकनाट्य विशेष रूप से चर्चा का विषय था। जैसा राजा नपुंसक, वैसा ही उसका दरबार नपुंसक। सब राजा का ही अनुकरण कर रहे हैं। बाद में तात्याबा का दुखांत क्यों हुआ? रात में स्टेज पर सरदार की भूमिका करने वाला व्यक्ति फुटपाथ पर आ गया। बीडी तक को वह मोहताज हो गया। जब मैं तालुके में पढ़ने गया, तब मैंने उसे लकड़ियों के गट्ठे बेचते देखा। उन दिनों तात्याबा पर रची एक कविता याद आती है। बाद में यही शिंदे बंबई मे 'गधे की शादी' के मंचन के समय लालबाग थियेटर में परदे खींचता देखा गया। उसकी यह हालत देखकर मेरे मन पर गहरा आघात हुआ।

सटवा को मैं मामा कहता। उनके कारण हमारा एक फ़ायदा हुआ। उसकी बाजा बजाने वालों की एक टोली थी। उसमें वह 'कांडा' बजाता। शहनाई-सा यह वाद्य। परन्तु आवाज ऊँचे सुर की। इस टोली मे पिताजी भी कांडा बजाते। पहले सटवा बोल कहता, फिर पिताजी गाना उठाते। बजनियों में चार लोग होते। दो कांडा बजाते। तीसरा सुर मिलाता और चौथा संबल बजाता। सुरकरी सिर्फ़ 'भोऽभोऽ' आवाज में सुर मिलाता। वाद्य फूंकते समय उसकी साँस फूल जाती। ऐसा लगता कि भीतर-ही-भीतर उसका दम घुट जायेगा। कलेजा फटने से मर जायेगा।

वाद्य फूंकते समय उसके गाल फूल जाते। ऐसा लगता, उसके दोनों गालों के भीतर नींबू भरे हों। महारवाड़ा में बिलकुल बचपन से ही सांस रोक कर वाद्य कैसे फूंका जाता है, यह शिक्षा दी जाती थी। कांडा बजाने वाले को यह विद्या सीखनी बहुत जरूरी था। डिब्बे-भर पानी में बाजरे की पोली डठल से छोटे लडकों को फूंकना सिखाया जाता। स्कूल जाने के कारण मुझे शर्म आती। आज कोई भी चर्म-वाद्य या स्वर फूंकने वाला वाद्य मैं नही बजा सकता। वास्तव मे यह सब घर में ही चल रहा था। शबल बजाने वाला वास्तव मे अच्छा लगता। दायें हाथ में पतली लकड़ी की छोटी-सी छडी और बायें हाथ में लकडी का ही एक आंकडा। इन दोनों की सहायता से वह शबल बजाता। जिस प्रकार बैलों को झूल पहनाया जाता है, वैसा ही झूल शबल को पहनाया जाता। उसे गजमुख कहते हैं। उस पर आईने के छोटे-छोटे कांच के टुकड़े लगे हुए। सामने लेझिम की टोली नाचती है और बीच के घेरे में बजनियां खड़े हैं। लेझिम के ताल पर शबल बजाने वालों के रंग-बिरंगी पगडी का तुर्रा डोलता है—यह दृश्य मन में बस गया।

बजनियों की टोली के साथ-साथ मैं भी कभी-कभी जाता। सटवा मामा को कहता, "मामा तुम कांडा कितना अच्छा बजाते हो परन्तु तुम्हारी पत्तल तो कचरे के ढेर में!" वह हमेशा की पेटेंट गाली देता, "उनकी माँ की बारात में मैं नाचा था!" फिर कहता, "इन टुटपूंजियों को कांडा से गाली दूं?"

और फिर वह बारातियों की ओर घूम कर कांडा से गालियां देता। बारातियों को वह सब समझ न आता। सिर्फ हम दोनों को इसका अर्थ मालूम था। मैं खिलखिलाकर हँसता।

गाँवों में शादी का सीजन आया कि हमारे घर दीवाली-दशहरा झलकता। पिताजी के हाथों में पैसे खेलते। नये कपडे आते। साल-भर की 'दरिद्री' हटती। शादी की बची खीर, मालपुआ, नैवेद्य आदि घर आते। आदिवासियों की शादी में सिर्फ भात और मसाले का लाल भूसा मिलता। यही उनके शादी की दावत थी!

शादी के गाने बड़े मजेदार होते—'क्यों रे दूल्हे, इतनी रात रे। अब

खायेगा, बासी भात रे।' दूल्हा लड़का किसी की गोद में या कंधे पर होता। इनको गाड़ी-घोड़ा कहाँ से? सारे बाराती पहाड़ों-तराइयों से, तपी धूल से विवाह-स्थल तक आते। ये आदिवासी वैसे ग़रीब थे, फिर भी वे मराठों-साही बजनियों को अछूत समझते। उन्हें दूर बिठाते। लोटे में ऊपर से पानी परोसते। खाने की पत्तलें क़तारों से दूर रखते। बजनियों का जीना भी क्या जीना! मराठा-मंडली तो काफ़ी अमीर-धनी। आज मैं देखता हूँ, बैंड बजाने वालों का कितना सम्मान है। पर बजनिये चार दिन के बँधे गुलाम। कोई भी लड़का-बच्चा आये और डाँटकर कहे, 'बजाओ।' उसका कोई टाइम-टेबल नहीं था। विवाहपूर्व प्रीतिभोज, 'बजाओ।' हल्दी लगी, 'बजाओ।' शादी में, 'बजाओ।' बारात आयी, 'बजाओ'। बाराती हाथ-पैर धो रहे हैं, तब भी 'बजाओ!' वर और बाराती के विदाई-सौगात के समय तो दो-तीन बजे भी बजाना पड़ता। पाई-पाई वसूल की जाती थी। एक बार शादी सम्पन्न हुई फिर विदाई-बख़्शीश में भी हुज्जत। कोई पता तक न लगने देते। ऐसे समय सटवा का दिमाग़ खूब चलता। एक बाजे का ग्राहक मिलता तो उसके पीछे-पीछे वह सुरकरी भेजता। बाहर निकलने तक नाक में दम कर देता। 'यह आफ़त हटाओ भई'...और सारे पैसे वसूल हो जाते।

तालुके में गुरुवार के दिन बाजार लगता। किसी मेले में जाने-सा उत्साह होता। हमारा सारा घर-परिवार इसमें शामिल होता। माँ ने मुर्गियाँ पाली थीं। उसे अंडे बेचने होते थे। उन दिनों एक आने में एक अंडा बिकता। बाजार में मुझे बड़ा मजा आता। मिक्सचर, जलेबी मिलती ही थी। इस बाजार की एक और विशेषता थी। बाजार के आसपास, पेड़ों के नीचे, गाँव-गाँव से आये लोग घेरा बनाकर बैठते। वह भी जाति-वार। महार-मंडली मरी-माँ के मंदिर के पास बैठते। किस गाँव के महार कहाँ बैठेंगे, यह बात भी परंपरानुसार तय होती। आँख बंद कर लोग बराबर अपनी जगह पर पहुँच जाते। परन्तु होटल में महार-माँग-चमारों के लिए अलग कप होते। उसका कान टूटा हुआ। चारों ओर मकोड़ों की कतारें। चाय पीने वाले को ही वह कप भी धोना पड़ता। बैठने की जगह अलग—बाहर बरामदे में लकड़ी का बेंच रखा रहता।

पिताजी सुबह चाय पीकर तालुके के बाजार मे आ जाते। काम-धंधा न रहने पर वे तालुके का एक चक्कर लगाते। आसपास के गाँव के सभी महारो की यह आदत थी। हमारे गाँव मे नदी नही थी। गहरे कुएँ से पानी खीचना पड़ता। इसलिए तालुके की नदी मे कपड़े धोने जाते। कपडे सूखने तक वे लँगोटी पहनते। जब गाँव आते तो बगुलो से सफेद-शुभ्र। रोज धोये कपड़े पहनना उन्हें बहुत भाता था।

उनके साथ नदी की ओर जाते समय मुझे एक भव्य कोठी के खँडहर के पास अकसर डर लगता। दादी ने इस कोठी की एक कथा सुनायी थी। इस कोठी मे पहले एक मुसलमान तहसीलदार रहता था। उसमे उनका भारी सामान-असबाब था। दो पत्नियो का ससार। अँग्रेजों का जमाना। ऐसे में यह मुसलमान तहसीलदार बहुत मस्ती में था। नदी के किनारे मछलियाँ पकड़ने का उसे बड़ा शौक था। वह वही कचहरी बुलाता। कहते है, अनेक साधु-सतो के मुँह में उसने मछलियाँ ठूँसी। सारे तालुके में असतोष की हवा फैल गयी। एक बार बाजार के दिन सारे उत्तर महाराष्ट्र के पहाड़ी और जगली प्रदेशों के आदिवासी भडक उठे। सबके हाथों में भाले, तीर-कमान। वैसे यह नियोजित विद्रोह था। सबने कोठी के चारो ओर घेराबदी की। तहसीलदार तलघर में छिप गया। बाहर निकल भागने की संभावना नही थी। लोग क्या करें? रॉकेल के पीपे, मिर्चो के बोरे कोठी में भरकर कोठी सुलगा दी! पर वे लोग तहसीलदार के बाल-बच्चो तथा अन्य सदस्यों को सुरक्षित स्थानों पर ले जाना नही भूले। थोड़ी ही देर में तहसीलदार राख हो गया। जब भी कोठी के पास से जाता हूँ, इस आग लगाने की घटना मेरे सामने कौंध जाती है। लगता है, कही तहसीलदार का भूत न मिल जाये?

हमारा स्कूल लोकल बोर्ड द्वारा बनाया गया। शायद इसलिए हम बाहर न बैठाते। इस सदर्भ में तात्या का अनुभव उलटा है। तब कक्षाएँ हनुमान मदिर में लगती। महार के लड़के, सीढ़ियो पर बैठते। एक बार ब्राह्मण मास्टर ने तात्या को रूल फेंककर मारा। तात्या क्या कर सकते थे?

उन्होंने वही रूल फिर मास्टर को दे मारा। उनके माथे पर गहरी चोट आयी। मास्टर का बहता खून देखकर तात्या महारवाड़ा से गायब हो गये। तब से तात्या स्कूल गया ही नहीं। महारवाड़ा के ऊपरी भाग में विशाल चट्टानें थी। वहाँ बड़े-बड़े विशाल काले पत्थरों की शिलाएँ पड़ी थी। चारों ओर 'साबरबोंड' का जंगल। ये साबरबोंड महारवाडा में अकाल के समय बहुत उपयोगी साबित होते। ऐसे पथरीले हिस्से में हमारा स्कूल था। स्कूल की इमारत भव्य; दूर-दूर से दिखती। उस स्कूल में मेरा नाम तीसरी क्लास में लिखवाया गया। मास्टर ब्राह्मण ही थे, एक पैर से लँगड़े। सफ़ेद कपड़े पहनते। सिर पर गांधी टोपी। उनके पास जाने पर दूध-घी की गंध आती। स्कूल चौथी क्लास तक ही था। पहली से चौथी तक कक्षाएँ एक ही हॉल में लगतीं। स्कूल जाते समय स्लेट-बस्ते के साथ-साथ बैठने के लिए बारदाने का एक टुकड़ा भी ले जाते। शुरू-शुरू की बात स्पष्ट याद है। गांव के मराठे लड़कों के साथ एक ही लाइन में हमें बैठने नहीं दिया जाता था। अलग से बैठना पड़ता। प्यास लगने पर स्कूल में पानी न मिलता। सीधे महारवाड़ा आना पड़ता। पास के चमारवाडा में भी पानी न मिलता। सप्ताह में एक दिन लड़कों को ही सारा स्कूल गोबर से पोतना पड़ता। लड़कों की बारी तय रहती।

वैसे ये काम ऊँची कक्षा के लडकों को ही करने होते थे। ब्राह्मण मास्टर दोपहर में मस्त हो सो जाते। सामने टेबल पर पैर रखकर सोना उनकी आदत थी। कभी-कभी मास्टर हमें सामने के बगीचे से नीबू-मौसबी चुराकर लाने को कहते। ब्राह्मण मास्टर कक्षा में हमसे छुआछूत मानते है, यह महसूस न होता। परन्तु घर पर मास्टर बहुत ही अलग तरह का व्यवहार करते। सुबह पूजा-अर्चन में रहते। उनकी छोटी-सी किराने की दुकान थी। दुकान जाते समय पैसे न रहने पर अँजुरी-भर अनाज लेकर जाने से भी सामान मिल जाता। परन्तु मास्टर के घर, बाहर ही देहरी पर खड़े रहना पड़ता। घर में प्रवेश करने की मनाही थी। देहरी से भी छूत तो नहीं लगेगा, इसकी सावधानी रखकर ही माल दिया जाता। स्कूल के मास्टर और घर के मास्टर में बहुत अंतर दिखायी देता। ऐसा लगता कि घर आते ही उन्होंने खूँटी पर टँगी अपनी जाति का जनेऊ फिर चढ़ा

लिया हो।

मैं शहर में आ गया था। इसलिए मेरे साथ कुछ शब्द भी शहर आ गये। मेरे बोलने में अकसर 'सबर' शब्द आता। विशेष कर कबड्डी खेलते समय 'रुको' के अर्थ में मैं उसका उपयोग करता। मराठों के लड़कों को यह शब्द समझ में न आता। उनको यह गयी-गुज़री भाषा लगती। वैसे देखा जाये तो देहात के लड़कों से मैं अच्छी मराठी बोल लेता था। फिर भी मेरी हँसी उडायी जाती। धीरे-धीरे उनके साथ मेरा खेलना बद हो गया।

भाषा के कारण एक बात याद आयी। तालुके के स्कूल मे भी इसके लिए 'महारों की भाषा' कहकर तिरस्कार किया जाता। मर्मांतक घाव लगता। जोश में आकर मैं लडकों से झगड़ा कर लेता। हमारी भाषा कैसी शुद्ध है, यह बात उनके गले उतारता। मेरी बातचीत में 'नही' और 'बाजार' शब्द खास तौर पर आते। 'नही' और 'बाजार' शब्द उर्दू के खास शब्द हैं और ऐसे ही अनेक शब्दों को मराठी में राज्यमान्यता मिल गयी—तब मेरी भाषा के 'नही' और 'बाजार' शब्द किस तरह सर्वथा उचित हैं, यह मैं विशेष रूप से स्पष्ट करता। 'पाणी' का 'ण'—इस शब्द का उच्चारण कई सालो तक ठीक से न जमता। इस कारण भी मेरी बडी हँसी उड़ायी जाती।

पर एक बात समझ में आयी। किताबी दुनिया के कारण मैं अपने बस्ती के अनुभवों से दिनोदिन दूर हटता जा रहा हूँ। पढ़ने-लिखने के कारण भी अधिक संवेदनशील होता जा रहा था। अनावश्यक प्रश्न खोपडी में घोंसला बना लेते। **कोंडवाडा** [काँजीहाऊस] संग्रह में एक कविता में मैंने लिखा है :

> किताबों से भला क्योंकर पहचान हुई ?
> अच्छी थी गोशाला, नदियों के किनारे।
> गाँव के ढोर चराए होते—
> ऐसे डंक तो न डँसते।

यह मुझे अपना ही वर्णन लगता है । इन जहरीले डंकों के कारण जीवन में जो थोड़ा-बहुत मुक्त आनंद था, वह भी जाता रहा गया। महारवाड़ा के लोग वैसे जानवरों की ज़िंदगी जी रहे थे। उनके जीवन में भी एक हठी दर्शन था। लेकिन मुझे उनसे घृणा होने लगी। दूसरी तरफ़ जिनका जीवन आदर्श लगता, वे मुझे अपने में समा लेने को तैयार न थे। ऐसी चमत्कारिक पहेली के बीच मैं घिरा था।

जैसे-जैसे मुझमें समझ आती गयी, मैं अकेला होता गया। गाँव के लड़के खेलों में तुच्छता से पेश आते और महारवाड़ा के लड़कों का खेल पसंद न आता। उनके साथ खेलने में मन न रमता। फिर एक ही आनंद रह गया। जो भी किताब हाथ लगी, उसमें रम जाना। स्कूल के सामने एक ऊँचा पहाड़ था। उन दिनों वह बहुत ही हरा-भरा था। आज की तरह उसका सिरा नंगा-बुच्चा नहीं था। उस पहाड़ी पर माँ लकड़ियों का गट्ठा लाने जाती। इस पहाड़ के पीछे क्या होगा? यह प्रश्न हमेशा मेरे दिमाग में कौंधता। इस पहाड़ी के पठार पर एक पोस्टमैन दोपहर में नियमित जाता और शाम को वापस उतरता था। तालुके की ओर उसका जाने का रास्ता हमारे स्कूल से ही था। उसके हाथ में झुनझुने से सजी लाठी होती। सिर पर लाल पगड़ी होती। खाकी कपड़े। उसका आगमन स्कूल की घड़ी थी। उसकी झुनझुनेदार लाठी से हमारे स्कूल छूटने का समय हो गया है, इसका अंदाज होता। मुझे बहुत समय तक यह प्रश्न सताता रहा कि यह रोज ऊपर पहाड़ पर क्यों जाता है? बाद में इस प्रश्न का समाधान हुआ। उस पार कोतुल नाम का एक बाजार गाँव। उस तरफ़ की डाक लेकर यह जाता। वह पहाड़ की चोटी पर जब पहुँचता, तब दूसरा पोस्टमैन कोतुल की डाक लेकर वहाँ पहुँचता। उनकी डाक की अदला-बदली होती। मैं सोचता, जंगली जानवरों से इन्हें डर क्यों नहीं लगता?

शायद स्कूल में बच्चे बढ़ गये होंगे। एक की जगह दो शिक्षक हो गये। नये मास्टर आये। वे महार थे। काले-साँवले चेहरे पर चेचक के दाग़। नेहरू-कुरता और सफ़ेद लुंगी पहनते। बाल सँवार कर अच्छी तरह रखते। उनके सिर पर टोपी न होती। गाँव में रहने के लिए कहीं

मकान मिलना उनके लिए असंभव था। वे हमारे ही घर के ओसारे में रहने लगे। मास्टर की शादी नहीं हुई थी। मास्टर को कविता लिखने का शौक था।

परंतु उनकी कविताएँ गीत हुआ करती—डॉ० अंबेडकर के आंदोलन के संदर्भ में। डॉ० अंबेडकर के शहरी आंदोलन के बारे में सबसे पहले उन्हीं से सुनने को मिला। घर में मास्टर मुझसे बड़ा अच्छा व्यवहार करते, परंतु स्कूल में खूब डाँटते-फटकारते। मुझे ठीक से गणित न आता। एक-दो बार उनसे अच्छी पिटाई होने की बात भी याद आती है। उनका गाँव ऊँची पहाड़ियों के पीछे था। एक बार उनके पिताजी बकरी लेकर आने वाले थे। मास्टर को ताज़ा दूध मिले, इसलिए उनके पिताजी ने यह बकरी ख़ास तौर पर ख़रीदी थी। बकरी लाने के लिए एक दिन मैं उनके साथ उस पहाड़ी पर गया। पहाड़ी की चिपटी सीढ़ियाँ चढ़ते हुए बड़ी घबराहट होती। वहाँ से गाँव चित्रों की आकृति-सा दिखता। आदमी, पेड़—सब चींटियों-से दिखते। वहाँ से पहाड़ के उस पार वाला अज्ञात प्रदेश पहली बार ही देख रहा था। मास्टर बता रहे थे—"वह दूर—जो दीख रहा है न, वह है कलसूबाई का शिखर!" मुला नदी चाँदी की धारा-सी चमकती दिखायी देती। जब तक हम उस पार नीचे उतरें, तब तक मास्टर के पिताजी बकरी लेकर आ गये।

वैसे मास्टर औरतों के मामले में बहुत 'चालू' थे। पहाडी के उस पार के गाँव की दो औरतें हमेशा अडों से भरी टोकरी लेकर आया करती। वे यह माल तालुके तक पहुँचाते। पता नही, उन दो औरतों के साथ मास्टर ने कैसे संबंध स्थापित कर लिये! अकसर वे स्कूल के बरामदे में ही आराम करती। स्कूल की चाबियाँ मास्टर के पास ही रहा करती। एक दिन जब मैं स्कूल जाता हूँ, तो देखा कि वहाँ कागज, धागा, लड्डू का चूरा पड़े हुए थे। मेरे मन में अजीबोगरीब शकाएँ घूमने लगती हैं। स्कूल की छुट्टी होने के बाद क्या हुआ होगा, इसका अंदाज़ लगता है। चाचा, मास्टर का दोस्त था। उन दोनों की बड़ी गहरी दोस्ती। वे दोनों आते-जाते इन औरतों का मज़ाक उड़ाते। मुझे ऐसा लगता कि इस प्रकार किसी की बदनामी नहीं करनी चाहिए। इतने दिनों के बाद आज मैं यह बता पा रहा हूँ।

वैसे यह सब महारवाड़ा के लिए नया नही था। अनेक बातें सुनने में आती। डलिया-भर सूखी-बासी रोटियाँ किसी ज़रूरतमंद महिला को देने पर वे तुरंत अपने वश में हो जाती है।

चौथी कक्षा की बात है। मराठे की एक हट्टी-कट्टी लड़की मेरी कक्षा मे पढ़ती थी। उसे पहला मासिक-धर्म आया और उसका पूरा लहँगा खून से सन गया। तब मैंने ही खोज की—यह लड़की अब औरत बन गयी है।

बंबई में कावाखाना मे रहते समय लडकों के बहलाने में आकर दरवाज़ों की दरारों से कई बार छिप-छिपकर छोटी आयु मे ही संभोग के कई दृश्य मैंने देखे हैं।

एक घटना तो अच्छी तरह याद है। मेरे एक मौसेरे चाचा थे। उनका नाम था शिवा। शादी हुई और बीवी मर गयी। विधुरता के दिन काट रहे थे। सड़कों पर कसरत के खेल दिखाने वाली एक काली हुड़दंगी औरत उन्होंने घर मे रख रखी थी। वैसे यह औरत बडी अजीब थी। पुरुषों की तरह पैंट-शर्ट पहनती। लंबे बालों को जूडे में बाँधती। चाचा को कावाखाने में मिलने आती, वह भी साइकिल पर बैठकर। सडकों पर उसके खेल होते। बालों में वह पत्थर की बडी शिला बाँधकर उठाती। अपना सारा शरीर लोहे के रिंग से 'पास' करती। जब कावाखाने के स्त्री-पुरुष काम पर चले जाते, तब शिवा चाचा उसे कमरे मे ले आता। बूढ़ी औरतों को शिवा चाचा चाय-पानी के पैसे देते और वे दूर फुटपाथ पर जाकर बैठ जाती। हम लड़कों को इसी बात का आश्चर्य होता कि कसरत के खेल दिखाने वाली यह औरत चाचा के सामने गाय के समान कैसे शांत-लीन हो जाती है ! वे नगे हो जाते। पसीने से लथपथ। दीवाल का आईना ज़मीन पर कोण बनाकर रखते। औरतों की जाँघों के बीच बाल होते हैं, इस बात का मुझे कई दिनों तक आश्चर्य होता रहा... !

शिवा चाचा के अंतिम दिन बड़े बुरे गुज़रे। कसरत करने वाली वह औरत पता नही, कहाँ गायब हो गयी। इसके कारण शिवा चाचा बहुत दुखी हुए। हँसते-खेलते शिवा चाचा गूँगे हो गये। घर में हमेशा सोने

की जगह की तकलीफ़ थी। ऐसे समय हम फ़ुटपाथ पर सोते। शिवा चाचा की बग़ल में मेरा बिस्तर होता।

एक दिन बगल मे सोये शिवाचाचा को देखकर मुझे लगा कि शिवा चाचा रात-भर बिस्तर पर हाथ-पाँव मारता रहा है। लगा, शिवा चाचा ने ख़ूब दारू चढा ली है। सुबह झाड़ूवाला आया। फिर भी शिवा चाचा नही उठे। जब उनके ऊपर की चादर हटायी गयी, तब मालूम हुआ कि शिवा चाचा मर गया है। उसके मुँह से झाग आयी थी। पंचनामे मे यह सिद्ध हुआ कि शिवाचाचा ने अफीम खाकर आत्महत्या कर ली। कई दिनों तक यह बात सालती रही कि शिवाचाचा ने क्यों आत्महत्या की होगी ?

ऐसी ही एक और घटना याद आ रही है। हमारे घर के सामने तिमज़ली इमारत थी। तल पर विठाबाई नाम की गोरी-भूरी औरत रहती थी। उसकी गोरी देह कोढ़-सी लगती। तिल-मात्र भी चमड़ी का रग नही था। पलकें भी भूरी, परन्तु आँखें नीली थी। पीठ पर झूलते रेशमी रग के पीले बाल थे। उसका शरीर भरा-पूरा था। आने-जाने वाले उसे एक नज़र देखते। महार-समाज में जन्म लेकर भी उसकी भाषा और रहन-सहन सफ़ेदपोश समाज की महिलाओ-सा था। धूप में चलती तो गाजर-सी लाल हो जाती। उसकी तुलना में उसका पति बहुत कुरूप था। काले-जामुनी रग के चमड़े-सा उसका रग। एक आँख खराब। चेहरे पर चेचक के दाग। दिखने में साधारण होने के बावजूद उसकी आमदनी अच्छी-ख़ासी थी। वह मोटर-मेकेनिक था। जब देखो, तब वह मोटर के नीचे आड़ा पड़ा रहता। हम सब परिवारो से इस महिला का घर सबसे अधिक आकर्षक। दरवाजे पर झूलता हुआ परदा, भीतर पलँग, कोच, महँगा फ़र्नीचर, काँच लगी आलमारियाँ। काँच के नक्काशीदार साँसर मे काँटे-चमचो से भोजन खाया जाता। बचपन मे मुझे इस घर के प्रति बड़ा आकर्षण रहता। इसके कई कारण थे। विठाबाई को इतने ऐश्वर्य मे भी कोई बाल-बच्चा नही था। इस कारण वह मुझ से बहुत लाड़ करती। बच्चे न होने के कारण वह महिला बड़ी बेचैन रहती। इस कारण उसने एक बार क्या किया कि सीधे उसने गर्भवती होने का नाटक किया। उसने नाभि के निचले हिस्से मे चिंदियाँ बाँधी। पर यह खबर कावाख़ाने मे फैल गयी। सभी औरतों ने

बाद में उसकी बहुत फजीहत की।

मुझ पर वह जान देती थी। अच्छी-अच्छी चीजें खाने को देती। सिनेमा-नाटक दिखाती। मुझे बहुत मजा आता। मैंने उसके साथ रॉक्सी में 'खजांची' पिक्चर देखी थी, आज भी मुझे याद है। घर में कोई न रहने पर वह मुझे अपने ऊपर बैठाती। पलँग पर चित सोती। मुझे जाँघें दबाने को कहती। ऐसे समय वह साड़ी ऊपर सरका लेती। उसके केले के पेड़ के गूदे-सी जाँघें दबाते समय मेरे मन मे एक अजीब-सी बेचैनी उठती। वैसे मेरी उम्र बहुत छोटी थी। परन्तु यह सब देख कर भीतर बड़ी उथल-पुथल मचती।

पिताजी की बीमारी दिनोदिन बढ़ती जा रही थी। गाँव आने के कारण उनके स्वास्थ्य में हुआ परिवर्तन कुछ दिनों के लिए ही टिक पाया। जैसे कोई दीया बुझने से पहले खूब भड़कता है, वैसा ही उनके साथ हुआ। बंबई में पिया स्पिरिट उनकी अंतड़ियों तक पहुँच गया था। और शराब की लत अब तक न छूटी थी। गाँव मे उनकी बीमारी का इलाज कोई न कर सका। कोई कहता, भूत-ब्याधा हो गयी। कोई कहता, किसी ने करनी की है। परन्तु शायद उन्हें अपनी बीमारी का कारण मालूम हो। उन्होंने अपनी माँ और भाई से मिलने की ज़िद की। वे बंबई गये। दस-पद्रह दिनों के बाद उनके सीरियस होने का तार मिला। जाकर देखा, पिताजी की हालत बहुत गंभीर थी। निरंतर कराहते। सनकी-से बड़बड़ाते रहते। घर की समाधि का अगारा लगाने का क्रम शुरू हुआ। अस्पताल में भर्ती करने की बात किसी को न सूझी। उनकी मौत बड़ी तकलीफ़देह थी। मरते समय उनकी बड़ी दुर्दशा हुई। सनक में आकर वे कपड़ों को तह करते, उन्हें एक-दूसरे पर रखकर घर बनाते। वह बार-बार गिर जाता। हाथ-पैर घिस-घिस कर उन्होंने बलि के बकरे-से प्राण त्यागे। आदमी कैसे मरता है, यह बहुत करीब से देखने का मौका मिला। मरते वक़्त 'मेरे बाल-बच्चों को किसी प्रकार की कमी नही होने दोगे', इस प्रकार का चाचा से वचन लेना पिताजी नही भूले।

घर में बड़ा रोना-धोना हुआ। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं नहीं

रोया था। अपलक निरंतर देखता जा रहा था। "अरे, बच्चे को रुलाओ, नही तो घुटकर मर जायेगा।" मेरी ओर देखकर कोई कह रहा था। कैमरामैन लाया गया। शव के साथ सगे-संबंधियों का फ़ोटो खिंचना चाहिए, यह कावाखाने की प्रथा थी। लेकिन, आज वह घटना मुझे बड़ी अजीब लगती है। उस दुखद क्षणों में भी 'पोज़' देने की भाग-दौड़ मचती। उस ज़माने का कैमरा भी बड़ा अजीब था। काले परदे के भीतर कैमरामैन अपने को ढँक लेता। सामने की डिबिया एक हाथ से खोलता।

सबके सामने माँ के गले की काली मणियों की माला तोड़ दी गयी। उसमें से एक सोने की मणि पान के बीडे मे रखकर पिताजी के मुँह मे डाली गयी। माँ के माथे का सिंदूर पोछकर चूड़ियाँ फोड़ दी गयी। शव को नहलाने के लिए दरवाज़े का पल्ला निकाला गया। उस पर नहलाने की प्रथा। माथे पर चाँदी का कलदार रुपया। नये कपड़ों पर फूल की चादर। अर्थी बाँधी गयी। रास्तों पर शव पर फेंकने के लिए कुछ छुट्टे पैसे। उड़द, लाइयाँ[1]। फिर भूत बनकर न आये, इसलिए उड़द।

चाचा ने पानी दिया। वरली में महार-मंडली के लिए अलग श्मशान-घाट था। उन दिनो शव को दफ़नाते थे। पुरुष जितना गहरा गड्ढा खोदा गया। कब्र पर सब लोगों ने मुट्ठी-मुट्ठी मिट्टी डाली। तेरहवी की। मेरे सिर से बाल न निकाले जायें, मैंने ज़िद की। "जाने दो, बच्चे की ज़ात है", कहकर किसी ने ज़बरदस्ती नहीं की। कौवा कुछ खाये, इसके लिए लोग कितने परेशान। निवाले के साथ दारू-बीड़ा भी रखा गया। मैंने पिंड को हाथ लगाया, तब कही निवाला लिया।

हमारा सारा आकाश उजड गया था। हताश होकर हमने गाँव की राह ली।

सही अर्थों में सिर पर आकाश ढह गया था। पिताजी किसी तरह चोरी-चकारी कर घर की गाड़ी खीच लेते थे। माँ का नैहर पास ही, दो मील पर। उनकी खेती-बाड़ी थी। चचेरे दादा भागे-दौड़े आये। माँ पुनः विवाह कर ले, उनकी यह ज़िद। कोई एक विधुर था। उसने माँ को देखा

---

1. धान से बनी खील

था। हम दो छोटे बच्चे। मैं तो बहुत ही छोटा। बहन सात-आठ साल की। महारवाड़ा कुछ ऐसा था कि किसी के काम न आता था। और कभी भी इज्जत झट से मिट्टी में मिल जाये सो अलग। दादा इज्जत को सब-कुछ समझने वाले। दादा के कहने पर मां पर ज्यों बिजली गिरी हो। एक तो ननिहाल के बारे में उसके मन में बचपन से ही नफ़रत-सी थी। उसे दादा की यह बात कसाई-सी लगी।

"मैं आपके दरवाज़े भीख नहीं माँग रही। मैं मेहनत-मजदूरी कर अपने बच्चों को पाल लूंगी।" दादा से साफ़-साफ़ कह डाला।

जब माँ पैदा हुई, तब उसका बाप मर गया। बाप को मिट्टी दी और सद्यःप्रसूता का छल शुरू हुआ। लड़का नहीं हुआ, यह गुस्सा था ही। नानी को भूखा रखते। उससे ढोर-डंगर-सा काम लेते। आटा छानकर निकालने के बाद जो चोकर बचता, उसकी रोटी नानी को दी जाती। इस प्रकार छल शुरू हुआ। उन दिनों ससुराल की यंत्रणा जेल-सी जानलेवा थी। इन तकलीफ़ों से तंग आकर नानी अपने ननिहाल चली गयी। मां बहुत छोटी थी। उसे नानी से अलग किया गया। माँ बताती थी—

"तुम्हारी नानी एक बार ननिहाल गयी तो फिर वापस ही नहीं आयी। उसने दूसरा घर बसा लिया।"

माँ का बचपन ननिहाल में बीता, माँ के बिना। जिंदगी में उसे माँ का सुख नहीं मिला। शादी होने तक माँ की और नानी की मुलाकात न थी। परंतु पिता बहुत ही समंजस थे। उन्होंने पहल कर माँ और नानी की मुलाकात करवायी। बाद में नानी हमारे घर कई बार आती। नानी अंधी हो गयी थी। लाठी पकड़कर उसे गाँव से मैं लेकर आता। दूसरा घर बसाने के बाद भी उसे लड़का नहीं हुआ। वहाँ एक छोड़ तीन लड़कियाँ हुईं। नानी और मौसा-मौसी का हमें बड़ा आसरा रहता। वैसे नानी और उसकी लड़कियों का संसार बड़ी ग़रीबी का था, परन्तु ये लोग बड़े अनुरागी थे। माँ के मायके से ये लोग हमें बहुत क़रीबी लगते।

माँ ने मर्दों-सी कमर कस ली। ज़िंदगी-भर तूफ़ानी कष्ट उठाये। उसके सामर्थ्य से मैं चकाचौंध हो गया। पिताजी जितने लाड़-प्यार से मुझे न पालते, उससे अधिक लाड़-प्यार से माँ ने पाला। हाथ के फोड़े-सा उसने

मुझे सभाला। वास्तव में आज मैं जो कुछ भी हूँ, वह पिताजी के रहते बन पाता क्या? पढ़-लिख भी पाता या नहीं, पता नहीं! मेरे साथ पढ़ने वाले महारवाड़ा के लड़के अब कहाँ हैं? माँ ने जो त्याग किया था, उसी से इस कीचड़ से निकलने की ऊर्जा मेरे अंतर से फूटने लगी। पिताजी का रास्ता मेरा रास्ता नहीं है। उन्होंने जो भी किया, वह सब मुझे टालना है—भीतर-ही-भीतर मैंने यह तय कर लिया था। माँ से एक दिन यूँ ही पूछी हुई एक बात याद आ रही है, "माँ, तूने क्या देखकर पिताजी से शादी की?"

इस पर वह आँखें भरकर समूचे जीवन का इतिहास बताने लगी। उसकी कब शादी हुई, माँ को मालूम ही नहीं। उस समय वह पालने में थी। कहते हैं, पालने में ही विवाह के मौर बांधे गये। जब वह घाघरा-पोलका पहनने लगी थी, तभी उसकी शादी हो गयी थी—इस बात पर उसे विश्वास ही न होता। ग्राम-द्वार पर किसी का भी दूल्हा आता कि 'मेरी भी शादी करो', इस प्रकार का हठ माँ चचेरे दादा-दादी के पास करती। गले की काली-पोत उसे झूठी लगती। बड़ों के समझाने पर भी उसे भरोसा न होता। उसे फुसलाने के लिए फिर दूल्हे के पीछे उसे बिठाते। साड़ी की गठरी उसके पेट के पास जमा हो जाती। सिर पर लोटे में नारियल रखा रहता। इस पोज़ में उसे कलसा लेकर बैठाया जाता। माँ को लगता, उसकी शादी हो रही है।

माँ की शादी का क़िस्सा बड़ा मज़ेदार है। पिताजी की माँ देवकी और माँ का मायका एक ही था। दोनों के मायके के उपनाम भी एक—कसबे। दादी उन दिनों बम्बई में थी। पिताजी की शादी की जब बात चली, तब दादी को अपने मायके का गाँव बड़ा अधिकारपूर्ण लगा। उसकी एक ही ज़िद थी—बहू लाऊँगी तो औरंगपुर की ही। उन दिनों औरंगपुर में पिताजी के लिए उचित लगने वाली एक भी लड़की नहीं थी। माँ के लिए बात चली। परन्तु चचेरे दादा ने यह बात ठुकरा दी। हमारा गाँव उनकी समझ से बहुत ही बदनाम गाँव था। *'मवालियों का धामणगाँव'*—ऐसा ही वे कहते। महारवाड़ा के करीब-करीब सभी लोग बम्बई चले गये। किसी के पास न खेती, न वाड़ी। थोड़ी-बहुत ज़मीन थी भी तो काम करने में सब को

नानी मरती। करीब-क़रीब सभी लोग दारू-ताड़ी और जुए में पूरी तरह डूब चुके थे। जब कभी कोई बम्बई वाला आता तो एकदम अप-टू-डेट आता, पर वापस जाते समय पूरा भुक्खड़ होकर जाता। गाँव की मराठा-मंडली वस्तुएँ गिरवी रखकर उसे गाड़ी-भाड़े के लिए पैसे देते। गाँव की मराठा-मंडली मूल्यवान वस्तुओं को गिरवी रखने की ताक मे रहती। मिट्टी के मोल गिरवी रखते। कंधे का कोट, हाथ का छाता—सब चलता। ऐसे गाँव में बेटी देना उन्हें पसन्द न था। पर दादी पीछे हटने वाली नही थी। वह महारवाड़ा से उठकर सीधे गाँव जाती है। वहाँ पटेल के सामने अपना रोना रोती है, "मैं आपके गाँव की बेटी। आपके गाँव की मुझे बहू चाहिए, यह मेरा अधिकार है।" उन दिनों मुखिया की बात कौन काटता? नाना-नानी को पंचायत में बुलाया गया। गाँव के निर्णय के ख़िलाफ़ नाना-नानी मे विरोध करने की क्या बिसात थी? ऐसे हुई पिताजी के साथ माँ की शादी!

जब तक पिताजी जीवित थे, उनकी अनुपस्थिति मे, माँ उन्हे कोसती रहती। बड़बड़ाती रहती—"मेरी तो क़िस्मत फूटी है!" भाग्य को दोष देती। पर पिताजी के मरने के बाद उसमें गजब का परिवर्तन आ गया। पिताजी की याद कर वह घंटो बिलखती रहती। "तुम्हारे बाप ने मुझ पर कभी हाथ नही उठाया", ऐसा कहकर वह सुबकती रहती। माँ बताती, "जब तुम्हारे पिताजी खाना खाने बैठते तो उनका सारा ध्यान चूल्हे की ओर होता। तुम्हारे लिए कुछ बचा या नही? मेरे लिए कुछ बचता है या नहीं, इसका वे बड़ा ध्यान रखते।" पिताजी की उदारता की तारीफ़ करने वाले काफ़ी लोग थे। जब मैं बड़ा हुआ, नौकरी लगी, जेब मे पैसे कुलबुलाने लगे और जब-जब भी गाँव जाता, तब-तब पुराने लोग मिलते। कहते, "क्या रे बाबू, तू कितना कंजूस! किसी के लिए पैसे ख़र्च नही करता। तेरा बाप देख कैसा था! बम्बई से आया कि गाँव मे दारू-ताड़ी, और मटन की पार्टी होती और एक तू है, चाय तक नही पिलाता?" मैं क्या उत्तर देता? भीतर-ही-भीतर हँसता रहता। उनकी उदारता के कुछ प्रसग मुझे भी याद आ रहे हैं। पचायत मे आया मेहमान हमारे घर भी भोजन को आता है। ऐसे ही एक बार दूर का रिश्तेदार हमारे घर आया। उस दिन चूल्हा ठंडा था। हम रात की माँगी गयी रोटियो पर गुजारा करने वाले थे।

परन्तु मेहमान को बासी रोटियाँ कैसे दी जायें ? पिताजी ने माँ को कौन-सा इशारा किया, पता नहीं। माँ इकलौता तांबे का हंडा लेकर घर से बाहर निकली। मेहमान को लगा होगा, पानी के लिए गयी है। जब माँ वापस आती है, तब उसके आँचल मे सारा बाज़ार बँधा होता है। गेहूँ, गुड़ सब-कुछ खरीद लायी थी। रात में मेहमान को 'पुरणपोली' का भोजन दिया गया। मेहमान के चले जाने के बाद हंडा गिरवी रखने की बात उसके मन को तकलीफ़ देती रही। पिताजी कहते, "जाने भी दे। दाने-दाने पे लिखा है खाने वाले का नाम।"

उनकी इन आदतों के कारण या कहिये उनकी बिगड़ती आदतों के कारण हम जीवन-भर टटपुंजिए ही रहे। ईमानदारी से जीते, तो भी हाथ क्या लगता ? घर मे कौन ढेर सारा सामान था ? दो मिट्टी के राजन[1] ज़मीन मे धँसे हुए। ज़मीन मे धँसे होने के कारण ही वे बच पाये। पत्थर की चक्की, मिट्टी का चूल्हा, एक लकडी का बक्सा और कुछ जर्मन बर्तन। पीतल के एक-दो ही, नाम-मात्र को। ठंड से बचने के लिए गुदडी संपूर्ण महारवाड़ा मे सिर्फ़ हमारे घर ही थी। माँ गुदड़ी बहुत अच्छी सीती। गोलाकार परिधि में एक-एक गोला छोटा होता जाता। आज भी हमारे घर में माँ के हाथ की बनी गुदडी संभालकर रखी हुई है। माँ के स्नेह-सी ही। वह आज भी नहीं फटती। बम्बई की भटकन में यह लकडी का बक्सा बडा उपयोगी साबित हुआ। सारा संसार उसमे समा जाता—सौदा, मसाला, राशन का अनाज। कौन-सी पोटली मे क्या है, यह माँ छूते ही बता देती थी।

लकडी का बक्सा पार्टिशन के रूप में भी काम में लाया जाता—'यहाँ तक आपकी सीमा, पेटी से इधर हमारी।' क्या मजाल है कि बच्चे भी इधर से उधर हो जायें। वे एक ही ख़ून के पारिवारिक सदस्य है, बड़े आश्चर्य की बात लगती।

पिताजी के जाने के बाद एक काम मैंने बड़ी निष्ठा से कर डाला। दारू निकालने का सामान—जिसमें दारू सड़ाने का डिब्बा, लकड़ी की

---

1. मटका

पटरी वगैरा थी—सब तोड़ डाला। इन सबकी विरासत मुझे निरुपयोगी लगी। मैं अपनी जिंदगी में दारू के वशीभूत कभी नहीं हुआ। कई सकट आये, प्राण छटपटाने लगते, आत्महत्या करने तक की स्थिति होती। ऐसा कहते हैं कि इस तरह व्याकुल होकर आदमी दारू को समर्पित हो जाता है। अपना दुख क्षण-भर के लिए भूलने के लिए वह ऐसा करता है। परन्तु दारू का नाम लेते ही मेरे सामने सम्पूर्ण ख़ानदान की एक लम्बी दुखपूर्ण क़तार खड़ी हो जाती है—दादा, पिताजी, चाचा। यह सब देखकर मैं घबरा जाता हूँ। इन दिनों यह परपरा मेरा चचेरा भाई निभा रहा है। हद तक अल्कोहॉलिक हो गया है। उसे परावृत्त करने मे मैं असफल रहा हूँ।

इसका यह मतलब नही कि मै दारू छूता भी नही। छोटे-बडों के साथ आजकल उठता-बैठता हूँ। उनके आग्रह करने पर एकाध पेग ले लेता हूँ। पर सच बताऊँ? पीने की अपेक्षा सामने रखे पदार्थों पर मेरा ध्यान अधिक रहता है। एक ज़माना था, जब यह लगता कि दारू मुझे लील लेगी। पर आज वैसा नहीं लगता। जीवन में भीतर से जो मस्ती उठी है न, इस नशे के सामने वह नशा बहुत तुच्छ लगता है।

घर के सामान के बारे में, पिताजी की दूसरी वस्तुओं के बारे में, मुझ में ऐसी कोई घृणा नही थी। वे जो वाद्य 'काडा' बजाते थे, वह मुझे मन से भाता। कई दिनों तक वह दीवाल की खूँटी पर टँगा रहा। एकांत मे उसके सुर मैं सुनता, पर इसे कभी बजा न सका। पिताजी की यह अमूल्य निधि हाथ से निकल गयी, इसका दुख होता। दिनोदिन किताबी होता जा रहा था। महारवाड़ा से, वहाँ की अनुभूतियों से दूर-दूर जाने लगा।

इन सभी यादों के निश्चित साल मैं नहीं बता सकता। पर अभी तक याद है, स्वतंत्रता की जलेबी चौथी कक्षा में मिली थी। एक चमकदार बिल्ला मिला, जिसमें भारतमाता की प्रतिमा अंकित थी। बडे गर्व से उसे छाती में लगाकर घूमता। परन्तु स्वतन्त्रता मिली अर्थात् वास्तव में क्या हुआ? वैसे जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन याद नहीं। गाँव के स्कूल में नेताओं के भाषण हुए। वे जो कुछ भी बोल रहे थे मेरी समझ के बाहर था।

मैं कक्षा मे काफ़ी होशियार था। बम्बई के टेढे नल का पानी पी आया

था ! स्कूल मे जब कभी सुपरवाइजर आता, धैर्य से खड़े रह कर उनके प्रश्नों का मैं ही उत्तर देता। कविता अच्छी आवाज़ में गाता। परन्तु स्कूल में मेरा गणित विषय बड़ा कमज़ोर था। किस टोंटी का पानी किस हौज़ मे गया, तथा समय, काम और गति का गणित मुझे कभी नही जमा। भाषा और इतिहास विषय मेरे हाथ के मैल। वैसे मेरे सहित चौथी में कुल पाँच विद्यार्थी। शारीरिक तौर पर मैं अकेला ही दुबला-पतला। बाकी सब हृष्ट-पुष्ट। भगवंत आवारी तो भरा-पूरा, गोरा-चिट्टा। एक घूंसे में मुझे ज़मीन दिखाता। पर मेरे प्रति बड़ा स्नेहिल था।

वार्षिक परीक्षा मे मैं गणित मे फेल हो गया। बाकी तालुके के गाँव में पढने जाने वाले थे। इसी को अकेले यहाँ क्यों रखना ? ऐसी बात मास्टर के दिमाग में आयी होगी। उन्होंने भड़ाभड़ ग्रेस मार्क्स देकर मुझे अगली कक्षा में ढकेल दिया।

मुझे आगे पढाया जाये या नही, शायद ये विचार माँ के सामने रहे हों।

महारवाड़ा के उमा दादा की माँ को सलाह—"सखू, लडके को क्यो स्कूल भेजती हो ? हम क्या ब्राह्मण है ? गली-कूचे घूमेगा और दाना-पानी कमा लेगा। नही तो जायेगा ढोर चराने। चार पैसे लायेगा। तुम्हारे नोन-तेल की व्यवस्था हो जायेगी !"

माँ ने उमा दादा की सलाह नही मानी। बच्चे को पढ़ाना है, उसे बड़ा साहब बनाना है, यह प्रेरणा उन दिनों उसे किसने दी होगी ?

बाबासाहब कहते : 'महारिन के मन में अपने बेटे के लिए कौन-से सपने होते हैं ? यही कि वह चपरासी हो या सिपाही। पर ब्राह्मणी की इच्छा होती है, उसका बेटा कलेक्टर बने ! ऐसी इच्छाएँ महार की माँ की क्यो नही होती ?'

शायद इसी भाषण का माँ पर अनजाने में कोई असर हो गया होगा। मैं तालुके के गाँव के स्कूल में जाने लगा। सुबह-शाम तीन मील की परेड करने लगा।

उमा दादा से याद आया—उमा दादा हमारे घराने का छूटा हुआ आदमी। वैसे हमने उनकी कोई बात मन पर नही ली। पर उखाड़-पछाड़

की आदत किसी-किसी को होती है। किसी का अच्छा चलता रहे तो भी फूटी आँखों नही सुहाता। उमा दादा का भी स्वभाव कुछ ऐसा ही था। फिर भी उमा दादा का हम बुरा न मानते। बडा कुतूहल होता। एक बात तो यह थी कि वे भूत-प्रेतों की कथाएँ सुनाते। 'नीलावती' की बातें बताते कि उसे पढ़ने से पशु-पक्षियों की भाषा हम समझ सकते हैं। "थूक से आदमी मारे जा सकते हैं," इसी प्रकार का उलटा-सीधा वह 'नीलावती' के बारे में बोलता। एक बार माबर के जंगल में 'नीलावंती' पढने के लिए गया और पाँच फन का नाग किस तरह अचानक सामने आकर फुफकारने लगा—यह बात कई बार उन्होंने हम लडकों को नीम के नीचे बने चबूतरे पर बतायी। परन्तु यह 'नीलावंती' हमने उनके पास कभी नही देखी। पर पीले कागज़ों में 'रामायण', 'महाभारत' की पोथियाँ हमने उनके पूजाघर में ज़रूर देखी थी। उन्हें पढने की इच्छा होती, पर वे हाथ न लगाने देते।

उमा दादा ने इसी प्रकार की एक छोटी-सी घटना मुझे सुनाकर मेरे जीवन में कितना बड़ा तूफ़ान खडा कर दिया। आज भी उस घटना की मात्र याद से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मैं इतना क्रूर क्यो हो गया? माँ सारी ज़िंदगी क्या वह प्रसंग भूल पायी होगी? माँ के चरित्र पर शका? वह भी बेटे द्वारा? मेरी उम्र ही क्या थी! यह सब चरित्रहनन समझने की मेरी उम्र भी थी क्या?

एक दिन, स्कूल से वापस आकर चबूतरे पर उमा दादा के साथ गप्पें मार रहा था। बुड्ढा बडा धूर्त था। किसी घास के ढेर पर ज्यों जलती तीली फेंक दी जाये, ऐसा ही कुछ हुआ। मुझ से कहा—

"क्यों रे, छोरे! तेरा बाप मर गया, फिर भी तेरी माँ को दिन चढ़ गये? ये कैसा है रे?"

इस जलती तीली से मेरा मन भड़क कर जल उठा। मन बेचैन। दिमाग में प्रश्नों का अंबार। भयानक दुविधा। बम्बई मे रहते समय मैंने विधवा महिलाओं के अनेक किस्से सुन रखे थे। एक बार तो कचरे के डिब्बे में मैंने नवजात शिशु देखा था। मन मे घुटन लिये घर आता हूँ। देखा कि माँ ने खाट पकड ली है। उसका मुंह देखने की इच्छा नही रही। उसके लिए नस-नस मे घृणा भर आयी थी। पडोस की बूढी स्त्री चूल्हे पर पानी

गरम कर रही थी। बुढ़िया मुझे लकड़ियाँ लाने के लिए दौड़ाती है।

"ऐ, छोरा, दौड़ ! तेरी माँ का गर्भ गिर गया...।"

मैं सन्तुलन खो बैठता हूँ। अनापशनाप बकने लगता हूँ। "बाप मरने के बाद भी गर्भिणी कैसी ?" मेरा प्रश्न था ! माँ यह समझ न सकी कि वह हँसे या रोये। वह पागलों-सी मुझे देखती है। बुढ़िया मुझे समझाती है। माँ और मेरे बीच दो-तीन दिन तक बातचीत बन्द। सामने जो कुछ भी आता, खाता और स्कूल जाता। अंत में एक दिन माँ के मन का बाँध फूट पड़ता है। वह मुझसे लिपट पछाड़ मार रोने लगती है। सारी बात स्पष्ट करती है। बात यह थी कि पिताजी के रहते ही माँ के दो-तीन महीने निकल चुके थे। जब यह सब स्पष्ट होता है, तब मुझे यों लगा जैसे मैं नरक से निकला हूँ। अपने समझ के फेर के कारण माँ को कैसी मौत-सी सजा दी !

फिर मैं एक बात गाँठ बाँध लेता हूँ कि माँ को उम्र-भर कभी नहीं दुखाऊँगा। पर माँ यह घटना कभी नहीं भूली। औरतों के बीच गप्पें मारते समय यह घटना उसे विशेष रूप से याद आती और सारी औरतें मेरे इस पागलपन पर हँसती।

मेरी जिंदगी की यह भयानक घटना यदि दो-एक साल पहले पूछी जाती तब शायद न बता पाता। मैं अपने-आप से डरता था। रोंगटे खड़े हो जाते। परन्तु मेरी माँ का ही एक नियम था कि किसी एक व्यक्ति को अपना सब-कुछ बता देना चाहिए। उसी ने यह साहस दिया है।

मैंने भी भूतकाल को पूरी तरह भूल जाने की कोशिश की। पर क्या इतनी सहजता से भूतकाल पोंछा जा सकता है ? कुछ दलितों को यह कूड़ा-करकट बाहर उलीचने जैसा लगता है। परन्तु आदमी यदि अपना भूतकाल नहीं जानता तो वह अपना भविष्य भी तय नहीं कर सकता।

मैंने बचपन में जो महारवाड़ा देखा था, वह अब उजड़ गया है। परन्तु बचपन में वहाँ के देखे चित्र मैं कैसे पोंछ सकता हूँ ? वे सतत मेरी आँखों के सामने घूमते रहते हैं। इतना सच है कि मैंने जहाँ तक देखा था, महारपन में भिखारी वृत्ति नहीं थी। महारों को जो 'बलुत'[1] मिलता, वह उनके

1. बनिहारी। वर्ष का मेहनताना पैसों में न पाकर अनाज आदि के रूप में पाना।

अधिकार का होता। पूर्वजों को पुरस्कार स्वरूप 52 अधिकार देने वाले फ़रमानों की दंतकथा कई पीढ़ियों तक चलती रही। सबको इस परम्परा पर बहुत गर्व था। कहने मात्र को इनके पास ईनाम में मिली ज़मीन थी। विशेषकर यह पश्चिम महाराष्ट्र में ही था। घर के पास ज़मीन का जो टुकड़ा होता, उसे 'हाडकी' कहते। शायद इस खेत में जानवर छोड़ने से उनकी हड्डियाँ उभर आती होंगी। इसीलिए इसे 'हाडकी' कहते। गाँव से दूर पहाड़ों की तराइयों में जो ज़मीन थी, उसे 'हाड़वला' कहते। अपने गाँव के महार लोगों को मैंने कभी भी हाड़वला ज़मीन पर काम करते नहीं देखा। ऐसा कहते हैं कि मेरे जन्म से पहले महार लोग यहाँ की ज़मीन जोतते-बोते थे। परन्तु कुछ दूर होने के कारण बाद में गाँव के लोगों ने उसे चरागाह के रूप में उपयोग करना शुरू किया। उसका मुआवज़ा नाममात्र का था।

52 अधिकारों के बारे में महार-मंडली के बीच एक आश्चर्यकारक दंतकथा थी। पैठण के बेदर के मुसलमान बादशाह ने ये 52 अधिकार महारों को दिये, ऐसी दंतकथा थी। बाद में विट्ठल रामजी शिंदे की 'भारत में अस्पृश्यता की समस्या' नामक पुस्तक में यह फ़रमान देख पाया। फ़रमान कुछ इस प्रकार था: *"पुरंदर क़िले में 'शेंदरी बुरज' का काम शुरू किया गया, पर काम समाप्त ही न होता। इसलिए बादशाह को सपना दिखा कि ज्येष्ठ पुत्र और ज्येष्ठ बहू दोनों को यदि 'बुरज' को समर्पित किया जाये तो यह काम पूरा हो सकता है। बादशाह ने जागने के बाद यह सपना येसाजी नाईक चिवे को कह सुनाया।*

"तब येसाजी नाईक ने कहा, 'मैं अपना बेटा और बहू देता हूँ।' फिर बहरिनाक और सोननाक का पुत्र नाथनाक व देवकाई दंपत्ति आश्विन बदी अष्टमी को शेंदरी बुरज में गाड़ दिये गये। बाद में बुरज के काम को सिद्धि मिली।"

52 अधिकारों का फ़रमान मिलने के अलावा महार-मंडली में उसकी ईमानदारी की एक और दंतकथा प्रचलित थी। बादशाह की रूपवती युवा कन्या को दिल्ली पहुँचाना था। उन दिनों घने जंगलो में से होकर रास्ते थे। आवागमन के आज-जैसे साधन नही थे। उसके साथ एक विश्वास पूर्ण

ईमानदार महार को भेजा गया। यह महार नौजवान भी बड़ा हट्टा-कट्टा था। राजा की कन्या पहुँचाकर वापस लौटने के बाद दरबार में उस पर सशय व्यक्त किया गया। इसने कन्या को रास्ते में कलंकित किया होगा, यह उस पर आरोप था। जाने से पहले उस महार नौजवान ने एक लकड़ी की छोटी-सी पेटी राजा को दी और बोला, "मेरी बहुत महत्वपूर्ण वस्तु है इसमें। आने के बाद वापस करें।" महार नौजवान पेटी खोलने के लिए कहता है। उसमें उसका लिंग पहले से ही काटकर रखा हुआ था! राजा उसकी ईमानदारी पर खुश होता है। "जो चाहो, माँग लो," वह उस नौजवान से कहता है। महार युवक कहता है, "मुझे कुछ नहीं चाहिए। हमारी जाति को पीढियों तक कोई लाभ मिलता रहे, ऐसा कुछ कीजिये।" बादशाह ने 52 अधिकारों की सनद प्रदान की। ऐसी यह गौरवशाली परम्परा यानी 'महारकी'!

बचपन में देखी इस महारकी की कलेजे पर एक स्पष्ट रेखा खिंच गयी है। यह भूतकाल लाख पोंछने पर भी नहीं मिटता। यदि मिट गया तो मेरे साथ ही जायेगा। मेरे चेहरे पर जो लाचारी का लेप दिखता है न, यह तभी से है। अब कितना भी घिसिए, खून निकलेगा, पर पोंछा नहीं जा सकता। वैसे महार के काम का कोई टाइम-टेबल न था। चौबीस घंटे का बँधा हुआ नौकर। इसे बेगार कहते। बेगारी का कुछ स्वरूप रहा होगा। ऐसा काम करने के लिए विशेष अनुभव या कला की जरूरत न होती। महार जाति के कुछ काम तो गल कर गिर गये, पर कुछ काम गरदन पर जूँ-से पड़े रहे। गाँव का सारा लगान तालुके में पहुँचाना, गाँव में आये बड़े अधिकारियों के घोड़ों के साथ दौड़ना, उनके जानवरों की देखभाल करना, चारा-पानी देना, ढिंढोरा पीटना, गाँव में कोई मर जाये तो उस मौत की सूचना गाँव-गाँव पहुँचाना, मरे ढोर खींचना, लकड़ियाँ फाड़ना, गाँव के मेले में बाजा बजाना, दूल्हे का नगर-द्वार में स्वागत करना आदि काम महारों के हिस्से आते। इसके बदले मिलता 'बलुत'। बचपन में माँ के साथ यह बलुत माँगने खासतौर पर जाया करता। प्रत्येक घर से एक-एक आदमी बलुत माँगने बाहर निकलता। माँ दूसरी महार-मंडली के साथ मराठों के खेत-

खलिहानों में बलुत लेने जाती।

साथ में धोती का टुकड़ा होता। गुड आदि देते समय किसान बड़ी चख-चख करते। कहते, "अरे धेडो ! तुम्हारी माँ की...काम के नाम पर नानी मरती है और बलुत लेने सबसे आगे ! क्या तुम्हारे बाप का अनाज है ?"

महार भी कुछ कम नही थे। काले-भिल्ल। धाकड। वे मराठों से निडर हो बोलते। वे ऊपरी भाग देने की कोशिश करते, महार-मडली नीचे का अच्छा गुड चाहती...नीचे दानेदार गुड़ रहता है, इसकी सबको जानकारी थी। जब गुड़ बनने का अंतिम चरण होता, तब महार-मडली अपने कपड़े नीचे बिछा देती। एक बार यह कपड़ा बिछा दिया गया कि नीचे का गिरा हुआ सारा गुड महारों को दे दिया जाता। पर देते समय वे लगातार गालियाँ बकते रहते। महार-मडली अपनी गठरियाँ ऐसे बाँधते, जैसे कुछ हुआ ही न हो।

महारकी के काम की एक घटना याद आती है। सपूर्ण गाँव का लगान जमा हो गया कि वह सब लेकर महार तालुके जाता। उसे 'पट्टी' कहते थे। यह पट्टी भरने पर कचहरी के क्लर्क से प्राप्त रसीद लेनी होती।

एक दिन एक बूढी विधवा पास के गाँव पट्टी भरने गयी। बेचारी भोली बुढ़िया थी। क्लर्क को पट्टी दी परन्तु पावती माँगना भूल गयी। क्लर्क का ईमान डोल गया। दूसरे दिन बुढिया पावती लेने कचहरी में दौड़ते-भागते आयी। क्लर्क ब्राह्मण था। कुछ भी पता नही लगने देता। बुढ़िया अपने ही दोनों हाथों से बाल नोंचते गाँव पहुँची। उस पर गबन का क़ानूनी आरोप दायर किया गया। बुढ़िया बहुत याचना करती है। देवी माँ की शरण लेती है। पर उस पर किसी को दया नही आती। सब लोग उस पर थू-थू करते है। उसे हथकडी पहनाकर तालुके में लाया जाता है। कोर्ट में पैसे हड़प लेने का आरोप सिद्ध हो जाता है। कचहरी का क्लर्क हाथ झटक-कर चैन की साँस लेता है। दो-तीन महीनों की सजा काटकर वह वापस आ जाती है। कभी-कभी महारकी में इस प्रकार की जानलेवा घटनाएँ भी घटती।

एक बलुत लेने वाले को लेकर गाँव और महारवाड़ा में बहुत बड़ा विवाद खड़ा हो गया। बात कुछ यूँ थी। परम्परा थी कि गाँव से बलुत आया कि तुरत ही उस ढेर का बँटवारा हो जाता। अपने उत्पादन में से कितना हिस्सा महारों को जाता है, इसका वे अदाज लगाते। जैसे कुत्ते-बिल्लियाँ पलते है, वैसे ही महार। ऐसा गाँववालों को सीधा-सा गणित था। साथ ही यह भी विश्वास प्रचलित था कि महार बच्चो को खिलाने से पुण्य भी मिलता है। गाँव में महार का होना गाँववालां के लिए शान की बात हुआ करती। एक गाँव की बात बताते हैं।

महार लोग गाँव वालो के अत्याचार से तग आकर गाँव से भाग निकलने को हुए। गाँव वालों ने रास्ता रोक लिया। उन्हे समझाया और महार लोगो को सम्मान-पूर्वक वापस ले आये। गाँव मे महार नही अर्थात् कुछ अमगल होगा। शायद इस बात का उनके मन मे डर रहा हो। ऐसी ही घटनाएँ। इसलिए महारो और गाँववालो के बीच का रिश्ता टूटते न टूटता।

एक साल महारों ने तय कर लिया कि इस बार बँटवारा नही किया जायेगा। चारों ओर के चालीस गाँवों को भोज देने की उनकी योजना थी। निश्चित ही भोजन के लिए सिर्फ़ महार-मंडली ही होगी। गाँव के पास ही महारो के बलुत का एक बडा ढेर लगाया गया। गाँव के पटेल की भी इतनी बड़ी ढेरी नही थी। सब गाँव वालों की आँखें चौंधिया गयी। 'अपनी ही मेहनत पर ये महार मस्ती कर रहे हैं,' इस प्रकार की प्रतिक्रियो गाँव से उठने लगी। बस, इस घटना के बाद महारो को बलुत देना बद कर दिया गया। महारों के पच्चीस-तीस घर और डेढ़-दो हज़ार की गाँव की बस्ती। वैसे यह विषम लड़ाई थी। गाँव मे चमार का सिर्फ एक ही घर था। परन्तु महारों के झगड़ो में वे कभी न पड़ते। उस घर का रहट और चमड़े के पट्टों का धंधा गाँववालों पर ही चलता था। उनकी तुलना मे महारवाड़ा के कुछ परिवार काफ़ी अच्छे थे। कुछेक के आँगन में खिल्लारी बैलों की गाड़ियाँ, घर में दूध-घी। इनका कोंकण में जानवर बेचने का धधा था। आसपास के गाँवो से अच्छे सांड, डांगी बैल ख़रीदते और बेचने के लिए

कोकण जाते। बचपन में महार लोग देखे थे। खूब ऊँचे धाकड, भरे-पूरे, काले-भिल्ल। इनसे सारा गाँव थर्राता। घबराने का कारण था इनकी विद्या—'सोमा महार'। 'सोमा महार' एक प्रकार का जहर था। एक बार उमा दादा के पास छोटी पुड़िया में मैंने देखा था। सफेद-शुभ्र। महारों ने यह अस्त्र उड़ाया नहीं कि गाँवों के जानवर सिर पर पैर रख कर भागते। वैसे यह एक अघोरी क्रिया थी, परन्तु जो अमीर आदमी महारो को छलता, उसके ख़िलाफ़ यह हथियार काम में लाया जाता। महार ऐसा करते कि ज्वार के गुच्छे में या रोटी की लुगदी में यह जहर मिला देते। और सबकी आँखें चुरा कर रात-बेरात जानवरों को खिला देते। महार-वाड़ा के बित्ते-भर लड़के भी यह काम करते। महार एक पत्थर से दो शिकार करते। विरोधियों का काँटा ढीला हो जाता और जानवरों की सगौती। उसका चमड़ा भी महारों को मिलता। कभी-कभी महारो को ठंडा करने के लिए गाँव वाले जानवर महारों को न देकर खेत में एक गड्ढा खोदकर गाड देते।

लेकिन इस समस्या पर गाँव कभी एकमत न होता। महारवाड़ा की तरह गाँव मे भी कई गुट थे। दो गुट तो बड़े ज़बरदस्त थे। वे केवल उपनामों पर आधारित—आवारी और पापल।

आवारी अधिक संख्या में थे और पापल कम संख्या में। इसलिए पटेल बनने का मान आवारी को मिलता। पोले के त्योहारों में, मेलों में ये आवारी आगे रहते। पापल बाहर से आये हुए थे। इसलिए आवारी उन्हे 'बाहरी' समझते। पापल जब आये तो अपने साथ एक महार भी लेते आये। वही अर्थात हमारे गाँव का रूपवते। पवार आवारी लोगों के घर बलुत माँगने जाते। रूपवते-मंडली पापलों के घर जाती। ढोर किसी का भी मरा हो, मिलकर फाडते। वैसे वह भी बारी-बारी से ही होता। यदि गाँव वाले बिगड़े और थोड़ी भी तू-तू मैं-मैं हुई तो महार-मंडली अपना आपसी वैर भूल एक हो जाती। ढोर फाड़ने के चमकदार छुरे पंचायत के पास तरतीब से रखते। 'एक-एक की तोंद फाड़ देंगे।' महारों का आक्रामक रुख़ होता। इस पर गाँव वाले महारों का बहिष्कार करते। गाँव बंद। रास्ता बंद। मेहनत-मजदूरी बंद। ऐसे समय गाँव का एकाध चतुर आदमी

समझौते की कोशिश करता।

ऐसी ही एक समझौते की घटना याद आ रही है। गाँव और महार-वाड़ा मे बेहद तनाव फैल गया था। महारवाड़ा की सीमा पर ईंट-पत्थरों का ढेर लगा दिया गया। हरेक ढेर पर प्रत्येक घर की स्त्री कमर कस कर खड़ी थी। *अब खून-खराबा होगा*, इसलिए *महारो को मदिर मे बुलाया* जाता है। नग-धडग, फटे-पुराने कपड़ो मे लोग कधों पर चमचमाते छुरे लेकर मदिर के सामने मैदान मे खड़े हो गये।

पटेल कुलकर्णी और गाँव के प्रभावशाली लोग मदिर मे बैठे थे। वही मे सवाद शुरू होता है:

'अपने-आप को समझते क्या हो?'

नौजवान, काला-कलूटा, हट्टे-कट्टे शरीर वाला काशाबा बोलता है—'*हम राजा है!*'

'किस के?'

'*हम अपने ही राजा है!*'

इस तरह उस दिन समझौता न हो सका।

पानी ले जाने के रास्ते को लेकर बहुत बडा विवाद उठ खड़ा हुआ। गाँव के पश्चिम मे महारो का कुँआ। यदि पानी लेने जाना हो तो गाँव होकर ही—वह भी हनुमान मदिर के सामने से जाना पडता। महारों की बस्ती के निचले हिस्से मे गाँव का कुँआ था। उस कुँए के पास लोकल-बोर्ड की एक तख्ती थी। उस पर लिखा होता: "*यह कुँआ सभी धर्म-जाति के लोगों के लिए उपलब्ध है।*" परन्तु महार-मंडली उस कुँए पर कभी नही दिखी।

महारों के कुँए मे पर्याप्त पानी था, कांच-सा साफ़। मीठा, गर्मी मे भी नये घड़े का-सा ठंडा। मुझे हमेशा लगता, ये ज़िद्दी लोग इतने पागल क्यो हैं? सही बात यह थी कि हमारा कुँआ ऊँचाई पर और गाँव का कुँआ निचले हिस्से पर था। हो सकता है कि हमारे कुँए का पानी झरता हुआ उस कुँए मे जाता हो। परन्तु जो बात मुझे उस बचपन मे सूझती थी, वह मराठा-मंडली को भी न सूझी होगी। पर चमार हमारे कुँए का पानी कभी न पीते। वे महार के पानी से छुआछूत मानते। चमार परिवारो को

औरतें मराठों के कुँओं पर घंटो एक घड़ा पानी के लिए भीख माँगती बैठी रहतीं। मन में बड़ी उथल-पुथल मचती। गाँव के कुँए पर अच्छी फरसी थी। घिर्री घिर्राती रहती। उसकी आवाज निरतर कानों में आती रहती। हमारे कुँए पर घिर्री न थी। झुककर खड़े रहकर ही डोल से पानी खीचना पडता। गर्मी के दिनों में कुँए पर जाकर घटो पानी खीचकर स्नान करना हमें बड़ा अच्छा लगता।

पानी लेने के लिए आते-जाते महार स्त्रियों की छाया हनुमान पर पड़ती। भगवान अपवित्र हो जाता है, इसलिए गाँव वालों ने एक बार रास्ता बंद कर दिया। कुंए पर यदि दूसरे रास्ते से जाना हो तो तालाब के किनारे-किनारे कीचड़-से लथपथ होकर जाना पड़ता, एक मील तक। यह रास्ता महारों के लिए खुल जाये, इसलिए महारों ने संघर्ष किया। कोर्ट-कचहरी हुई। 'हम अपनी राह नहीं छोड़ेंगे। यदि आप आवश्यक समझें तो हनुमान की स्थापना दूसरी ओर कीजिये।' इस प्रकार का आक्रमक पैंतरा महारों का होता। यह विवाद जब चल रहा था तो एक चमत्कार ही हुआ। इसी दौरान तालुके में एक ईसाई तहसीलदार आया। यह ईसाई तहसीलदार कोई और नही, बहुत पहले का महार ही था। महार लोगो की व्यथा उसने भोगी थी। उसने मन मे तय किया कि महारों के साथ न्याय होना चाहिए। महार यदि ईसाई हो जाता तो उससे गाँव अपवित्र न होता और यदि ईसाई आदमी ऑफ़िसर है तो बात ही निराली। सारा गाँव उसकी सेवा में हाज़िर। धामणगाँव का दौरा निकाला जाये। हमारी समस्याओ का निदान हो, इस के लिए महार-मंडली ने तहसीलदार से मुलाक़ात की। आज तालुके का तहसीलदार किस खेत की मूली है? पर वह युग अंग्रेज़ों का था। गाँव के दौरे का कार्यक्रम बना। ईसाई तहसीलदार ने जाहिर कर दिया, 'मैं गाँव में नही ठहरूँगा।' महारों की पंचायत में ही उन्होंने बैठक बुलायी। जिंदगी में पहली बार तहसीलदार महारवाड़ा मे आने वाले थे। महारो को अतीव आनंद हुआ। झंडियो, तोरणों से महारवाड़ा सजाया गया। पंचायत के पास रंग-रँगोली की आयोजना की गयी। महार-मडली ने उस तहसीलदार का स्वागत बैंड-बाजा बजाकर किया। उसे एक कीमती पगड़ी बाँधी गयी। पाटिल

महारवाडा मे आकर इंतज़ाम की देख-रेख कर रहे थे। गाँव के प्रमुख लोगो की बैठक बुलायी गयी। वह भी पंचायत मे।

तहसीलदार गांव न जाकर महारवाडा में ही ठहरता है, इसे गांव वाले अपना अपमान समझते है। परन्तु राजा और वर्षा की मार की शिकायत किससे की जाये? सब लोग अपना क्रोध दबाकर महारवाड़ा आये। गांव के चार-पांच अगुआ लोगो पर मुकदमा दायर किया गया। सबसे माफीनामा लिखवाया गया। भविष्य मे महारों को सतायेंगे नही, उनका रास्ता बंद नही करेंगे, इस प्रकार का *लिखित क़रारनामा अगुआ लोगो से लिखवा* लिया गया। बहुत दिनों तक जावजीबुआ के पास टीन के चोंगे[1] मे ये काग़ज़ात रहे। जावजीबुआ इसे प्राणो से लगाकर रखते। बाद में जब मैं पढ-लिख गया, तब वे मुझे पढ़ने के लिए देते। मुझसे पढ़वा लेते। उसे वे 'मुचलका' या ऐसा ही कुछ कहते। उनकी छाती गर्व से फूल जाती। जिस प्रकार सोने की मुहरों का खानदानी हंडा अपनी अगली पीढ़ी को सौंपा जाता है, ठीक उसी प्रकार उन्होने यह अपने बेटे को, मरते समय सुपुर्द कर दिया।

"मरे जानवरों का मांस तूने खाया है क्या? कैसा स्वाद होता है?" यह प्रश्न गत दिनों मुझसे 'साहित्य सहवास' में एक विचारक ने पूछा। उस समय मेरा दम घुटने लगा। बौखलाकर मैंने कहा, "जिन दिनों मैंने यह मांस खाया, मेरी उम्र स्वाद परखने की नही थी। सिर्फ पेट का गड्ढा भरना जानता था। अकाल में विश्वामित्र ने कुत्ते की टाँग खायी अथवा महायुद्ध के समय मराठों की सेनाओं ने घोड़ो का मांस खाया, इसलिए मैं मरे जानवर का मास खाने का समर्थन करना उचित नही समझता।"

ढोर मरने के बाद महारवाड़ा में एक चेतना दौड़ जाती। उसमें भी बैल यदि कगार से फिसलकर मर गया तो आनंद दुगुना। ऐसा बैल अधिक ताज़ा समझा जाता। जंगल मे कहाँ ढोर मरा है, इसकी ख़बर महारवाड़ा

---

1. ट्रंक

पहुँचने में देर न लगती। आज के टेलेक्स से भी तेज गति से खबरें पहुँचती। आकाश में चील-गिद्ध विमान-जैसे एक ही दिशा में मँडराने लगते तो महारों को मालूम हो जाता कि खाना कहाँ पड़ा है। गिद्धों द्वारा खाने की बरबादी न हो, इसके लिए भाग-दौड़ मचती। गिद्ध भी कितने ! आसानी से पाँच-पचास का झुंड। पख फड़फड़ाते। मुंह से मचाक्-मचाक् की आवाज़ें निकालते। अण्णाभाऊ साठे ने एक कथा में इन गिद्धों से मख़मली जैकेट पहने साहूकार-पुत्र की उपमा दी है। पत्थर मारने पर थोड़ी दूर उड़ जाते परन्तु बेशर्मों-से फिर खाने की दिशा में सरकते। शायद उन्हें महार लोगों पर बड़ा क्रोध भी आता होगा। उनके मुंह से महार लोग कौर जो छीन लेते थे ! गिद्धों की हिंस्र आँखें, उनकी धारदार चोंच ! मुझे लगता, वे सब मेरा ही पीछा कर रहे हैं।

"कई दिनों से महारवाड़ा में इस तरह का खाना नहीं मिला। मुंह का स्वाद ही चला गया"—ऐसा कहते हुए बूढ़े लोग काफ़ी खुश दिखायी देते। घर में जो भी बर्तन होता—घमेला, परातें—वह लेकर लोग भागते। चमड़ी छिलने तक भी सब्र न करते। उसमें महिलाओं की धूम अलग। हमारी उम्र के लड़के दूसरे कारणों से ही खुश हो जाते। मोटी चमड़ी के साथ ही पतली चमड़ी की एक परत होती। उससे डफली, ढोल बना सकते थे। पतीली का ऊपरी घेरा या खाली डिब्बा इसके लिए पर्याप्त था। ख़ाली डिब्बे को तानकर बैठाया जाता और धूप में सुखा देते। एक-दो दिन के बाद चर्मवाद्य-सी आवाज़ निकलने लगती।

मरे जानवरों को कंधा देने में छठी का दूध याद आ जाता। बहुत वज़नदार चीज़ दो आदमियों द्वारा कंधों पर ढोकर लायी जाती। जानवर के चारों पैर कसकर बाँधते और सुई से जैसे सीते हैं, वैसे-ही चिकनी लकड़ी आर-पार डालते। किसी पालकी-सा यह दृश्य। गाय होती तो उसकी दयनीय आँखें आकाश की ओर एकटक लगी देखकर मन व्याकुल हो जाता। आज भी वे आँखें याद आती हैं।

माँ और गाय की आँखों में मुझे बहुत साम्य लगता। हमारे घर की बारी आती तो ढोर को ढोने का काम माँ पर आता। माँ की फज़ीहत देखी न जाती। लगता, कुछ बड़ा होता तो कितना अच्छा होता ! माँ का बोझ

अपने कंधे पर झेल लेता।

किसी भी बात पर विवाद खड़ा कर लेने की महारवाड़ा की परंपरा थी। हिस्सों के बारे में वे चिल्लाते। महारवाड़ा माने एक कलदार रुपया। उसमें किसी के हिस्से आठ आने तो किसी को डेढ पैसा। इस तरह विषम बँटवारा। उसमें समाज-व्यवस्था का चित्र स्पष्ट होता। जिस घर का फैलाव अधिक होता, उसके हिस्से में कम हिस्सा आता। उनके आपसी सबधी ही बंटवारे में हिस्सेदार होते। जिनका महारवाड़ा में अधिक हिस्सा रहता, उनका बडा मान-सम्मान होता। बड़े घर के रूप में वह जाना जाता। हमारा दो आना हिस्सा होता। पैसे-दो पैसे वाले हिस्सेदारों को कुत्ता तक न पूछता। किसी के घर को तो आधा जानवर मिलता तो किसी के घर अतडियाँ और निकृष्ट माल ही पहुँच पाता।

जानवरों का बँटवारा 'गुडशा' पद्धति से होता। 'गुडशा' शब्द के बारे में उत्सुकता हो सकती है। लक्ष्मीबाई तिलक की आत्मकथा में यह 'गुड़शा' शब्द आया है। मराठी सारस्वतों को भी इस शब्द का अर्थ मालूम है या नहीं, पता नही। परन्तु लक्ष्मीबाई को मालूम था। महार-ईसाइमों की पहचान थी न? वहाँ अपनी ही बिरादरी के चाहिए, यह सही है। हाँ, तो मैं गुडशा प्रकरण के बारे मे बता रहा था। जानवरों के शरीर की हड्डियों के नाम। कमर के पास की, जाँघ से लेकर टखने के ऊपर, घुटने से ऊपर अर्थात् घुटने का जोड़। इसी गुडशा को लेकर महारवाड़ा में दंगे-फ़साद होते। कभी-कभी मार-पीट भी। औरतें एक-दूसरों के झोंटे उखाडतीं। उसमें माँ-बहनों का उद्धार होता। आज भी इस समाज का झगड़ा गुड़शा पर ही होता है। सत्ता-स्पर्धा का झगड़ा। पोला गुडशा किसे नहीं चाहिए? जाने दीजिये। विषयांतर हो गया।

हाँ, तो मैं बता रहा था गुडशा प्रकरण। गालियाँ भी इसी तरह। *चोटी से शुरू कर एडी तक पहुँचकर खाते, ऐसी गालियाँ।* इसी गुडशा पर आधारित बचपन की एक कथा याद आती है। महारवाड़ा में एक ऊँची चट्टान है। उस चट्टान मे जगह-जगह बर्तनों के आकार के गड्ढे खोदे हुए हैं, जैसे वे लकड़ी की पाटें हों। कुछ बुजुर्ग अपने बचपन की यादें सुनाते हैं। कहते, "हम इस चट्टान पर भोजन के लिए बैठते। कुछ गहरे हिस्से मे

पोले-गुड़शे ठोंकने में बड़ा मज़ा आता। क्या गुड़शे थे, उस ज़माने मे ! लगातार भदाभद-धार लग जाती।" न जाने क्यों मुझे स्कूल के इतिहास की किताब याद आने लगती। गुफ़ा के द्वार पर बैठा आदिमानव। चारों ओर आग जल रही है। पूरा जानवर उसमें भूना जा रहा है। दांतों से बोटियाँ नोंच रहा है। उस आदमी के साथ कहीं जुड़े होने का एहसास होता है।

महार-मडली भादवा की पूजा करती। यह भादवा कैसे आया, इसके पीछे एक चमत्कारिक दतकथा है। पतीली मे आटा भिगोकर लोई उबालते और उससे पूजा सजायी जाती। कथा इस प्रकार बताते हैं। किसी समय एक महार ने गाँव के पटेल का बैल मारा। भाद्रपद का महीना था। भाद्रपद मे महार लोगों को खाने-पीने की बडी तकलीफ़ होती। बैल का मास घर-घर देगची मे चढा है। गाँववालो को महारों पर शका होती है। वे खोज-बीन करते हुए महारवाड़ा आये। पकते मांस की गध उन्हे आती है। अब ये महार पकड़े गये। इन्हें कुत्ते की मौत मारेंगे, इस ख़याल मे गाँववाले झडती लेने निकलते है। कहते हैं, उस समय महार लोगों ने भादवा को सकट मे दुहाई दी। 'तुम्हे कभी नही भूलेंगे' का वचन दिया। फिर क्या था, सभी गाँव वालों को देगची में आटे की सफ़ेद-शुभ्र लोई दिखी। भादवा ने सबको सकट से बचाया, इसलिए भादवा की पूजा आज भी चली आ रही है !

मान लीजिये कि किसी घर मे आधे जानवर का मांस उसके हिस्से आया तो वे उसे एक दिन मे तो खा नही सकते थे। उनके पास फ्रिज भी नही था ! फिर इतने मांस का क्या करें ?

वे इसे सुखा देते। मांस कैसे सुखाते थे, यह सवाल बहुतों के दिमाग मे उठा होगा। वे अँगुलियों के आकार के लबे-लबे टुकड़े बनाते जिसे चाणी कहते। छप्पर पर सुखाते। धुएँ के कारण उसका रग सुर्ख लाल हो जाता। यह सब महार-मडली ने कहाँ सीखा, यह नहीं बता सकता। परन्तु सुअर का मांस भी इसी तरह सुखाते। कहते हैं, यह पद्धति विदेशों मे बहुत ही प्रचलित है। जब मैंने यह पढा तो महार लोगों के बारे में मुझे आश्चर्य हुआ।

चाणी के सूखने के बाद उसके छोटे-छोटे टुकड़े बनाते। उसे वे 'तोड़का' कहते। आषाढ़-सावन में पेट की आग मिटाने के लिए इस रिज़र्व कोटे का उपयोग होता। कभी-कभी इन पर सफ़ेद बुर्शी छा जाती या सफ़ेद कीड़े कुलबुलाते। आँगन में लकड़ी लेकर इसे सुखाना बच्चों का काम होता। जानवर का कोई हिस्सा बेकार न जाता। घर में चरबी का दीया जलता। हड्डियाँ ख़रीदने वाला मुसलमान तालुके से आता। है न अजीब बात? अपने बर्फ़ीले टुंड्रा प्रदेश में याक प्राणी के बारे में ऐसा ही पढ़ा होगा। 'चाणी', 'तोड़का' शब्द आपके लिए नये होंगे। इन शब्दों से कुछ और याद आया। बचपन में देखे तमाशे की एक घटना याद आ रही है। कोतुल के *धोंडू-बापू का 'तमाशा' उन दिनों काफ़ी प्रसिद्ध था। वह बापू भी बड़ा* अजीब आदमी था। तवे की पीठ-सा काला-कलूटा। चेहरे पर चेचक के दाग़। तिरछी आँखें। तमाशा में विदूषक का काम करता। राजा जब फांसी की सज़ा सुनाते तो कहते, 'फांसी, तो मैं बहुत खाऊँगा!' सारे श्रोता हँसने लगते। वैसे सिर्फ़ महार-मंडली को ही यह चुटकुला समझ में आता। 'फांसी'—यह जानवरों के एक विशेष हिस्से के मांस का नाम है। वह हिस्सा खाने में बड़ा स्वादिष्ट लगता है, यह बात सवर्णों को मालूम नहीं थी।

यह बात मालूम न होने पर भी गाँव के कुछ लोगों को इस मांस का चस्का लग गया, यह बात याद है। हमारे घर एक मराठा युवक आता। नाम नहीं बताऊँगा क्योंकि आज भी उसका बहिष्कार हो सकता है। वह चोरी-छिपे खाता। गाँव में हम यह बात किसी को न बताएँ, इसके लिए वह बहुत मिमियाता।

ऐसे ही एक बार मैं अच्छी तरह भूनकर 'चाणी' जेब में रखकर तालुके के स्कूल गया। दोपहर की छुट्टी में खाने की योजना थी। बीच की छुट्टी में स्कूल के पीछे छिपकर मैं इसे खा रहा था।

इतने में एक ब्राह्मण-सहपाठी पास आता है। पूछता है, "चोरी-छिपे *क्या खा रहे हो?"* मेरे चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगती हैं। कुछ-न-कुछ उत्तर तो देना ही चाहिए, इस *नियत से कहता हूँ—"चाँदनी खा रहा हूँ!"* अब उसके सामने एक नयी समस्या। चाँदनी का स्वाद कैसा होता है?

"एकाध चाँदनी मुझ भी दे न !" कहता हुआ वह ज़िद पर उतर आया। अपने हाथ से ब्राह्मण का लड़का अपवित्र हो जायेगा और कल यदि किसी को यह मालूम हो गया तो मेरी खैर नहीं ! इस डर से मैं घिर जाता हूँ। वह मिमियाने लगता है। मैं उसे चाँदनी देता हूँ। इसके चटपटे करारे स्वाद से वह खुश हो जाता है। धीरे-धीरे यह ख़बर वह दूसरे मित्रों तक पहुँचाता है। ये मित्र सुनार और दर्जी जाति के थे।

एक घटना तो बहुत स्पष्ट याद है। परीक्षा करीब आने पर हम सब लड़के स्कूल में ही सो जाते। शिक्षक रात्रिकालीन कक्षाएँ चलाते। प्रातः उठाते। माँ जब लकड़ियाँ बेचने आती तो मेरा खाना साथ ले आती। वह सिल पर मांस कूटकर कीमा बनाती और रोटी के साथ लेती आती। न जाने कैसे एक बार दो मित्रों ने मेरी वह रोटी चुराकर खा ली। धीरे-धीरे उन्हें इसकी चटक लग गयी। मैं भूखा न रहूँ, इसलिए वे अपने घर से रोटी-साग लाना न भूलते। स्वय के देहात का और तालुके का अंतर तुरंत मालूम हो जाता। ये सवर्ण दोस्त मुझे बराबरी के रिश्ते से रखते। उनके रसोईघर को छोड़कर मैं उनके घर में कही भी स्वच्छद घूमता रहता। म्हसे और शहाणे बड़े गहरे दोस्त थे। ये जाति के सुनार थे। परन्तु कभी भी यह नीयत न थी कि सवर्णों को अपवित्र करने के उद्देश्य से उन्हे मांस खिलाया हो। यह सब अनजाने में, लड़कपन में हो गया। और तो और, यह बात सब दोस्तों को मालूम हो जाने के बाद भी वे खाते थे। यह बात बाद में स्पष्ट हुई।

येसकर पारी[1] तो कई बार भीख लगती। परन्तु उन दिनों गुलामों को गुलामगिरी का अहसास नहीं था। वे उसे अधिकार समझते। हर हफ्ते येसकर पारी बदलती। गाँव में मराठा-मंडली के दो ज़बरदस्त गुट। ठीक महारवाड़ा की तरह। एक कुल के मराठे पवारों को येसकर पारी बाँटते, तो दूसरे रूपवते को। होली पर महार पहले अंगारे किसे दे, इस

1. गाँव में चौकीदार (कुटवार) के रूप में आने वाली बारी, जिसमें हर घर उन लोगों को कुछ दान देता है।

समस्या को लेकर गाँव में पापल और आवारी लोगों में भयंकर संघर्ष होता।

रोटी माँगने अकसर स्त्रियाँ जाती। जिस घर में स्त्रियाँ न होती, उस घर से कोई बूढ़ा व्यक्ति झोली लेकर जाता। जाते समय वह हाथ में झुनझुने की लाठी ले जाना न भूलता।

इस लकड़ी की भी महारों में एक परंपरा है। कोई कहता, इस लकड़ी मे पहले झंडा भी होता था। हम राज्यकर्त्ता थे। युद्ध में हार गये। 'ये लोग यदि संगठित रहेंगे तो बहुत भारी पड़ेंगे। लकड़ियों-सा फाड़ डालो इन्हें। हर गाँव के प्रवेश-द्वार पर टाँग दो। उनके झंडे, हथियार छीन लो और गुलामी की निशानी स्वरूप लाठी थमा दो !' कहते हैं, तब से महारों के हाथ लाठी आ गयी। बाद में मैं पढ़-लिखकर इन बातों का मर्म समझने लगा। एक दिन बाबासाहब की एक किताब पढ़ने को मिली 'शूद्र मूलरूप से कौन थे।' तब इस इतिहास की कुछ कड़ियाँ मुझे जुड़ती नजर आयी।

पता नहीं, लाठी हाथ में लेने वाले को इतिहास मालूम भी है या नहीं। परन्तु भौंकते हुए कुत्तों को भगाने के लिए इसका बड़ा अच्छा उपयोग होता। गाँव में महारिन आयी कि पक्की कोठियों से कुत्तों के भौंकने की आवाजें आती। हमारी पारी आती तो मैं भी माँ के साथ जाता। महारों को छाछ देना मराठा लोगों के लिए प्रतिष्ठा का विषय होता। 'छाछ माँगने जाओ और बर्तन छिपाओ', यह कहावत भी प्रचलित थी। तब भी छोटा घड़ा ले जाते समय मैं बहुत झेंपता था। स्कूल के मेरे दोस्त न देख लें, इसका मैं विशेष ख़याल रखता।

गौतम बुद्ध के बेटे राहुल के हाथ में भिक्षापात्र वाला चित्र याद आता है। उसकी माँ उसे बताती है : 'बेटे चतुर्दिक् कीर्ति वाला तेरा बाप इस शहर में आया है। उससे अपना उत्तराधिकार माँग।' बाप यदि ज़िंदा भी होता तो छोटे-से घड़े में क्या दान डालता ? इस बात का शायद आपको आश्चर्य होगा। है न ?

टोकरी में कभी भी ताजी रोटी न गिरती। हमेशा बासी रोटियाँ मिलती। कभी-कभी तो उस पर सफेद झिल्लियाँ भी चढ़ी होती। शायद महारिन के लिए आले में रात की ही रोटी सभालकर रख देते होंगे। एकाध

उदार महिला अचार की फाँक रख देती। तब सहज ही मुँह में पानी आ जाता। माँ दूर से ही दरवाज़े से बड़ी दयनीय होकर कहती, "रोटी दे माँ ऽ, येरकरनि को।' पर तीज-त्योहारों में 'पुरनपोली' अवश्य मिलती। सेव-पपड़ियाँ मिली तो पूछना ही क्या! बहुत खुशी होती। पारी आती तब महार लोगों के घर चूल्हा ही न सुलगता। एक घटना याद है। बाजरे के आटे का हलवा मिला, पर बाद में टोकरी से आँगन में ईंट-पत्थर और मुरुम बिछाना पड़ा।

'पाडवा' के त्योहार से याद आया। गाँव में घर-घर इस त्योहार में झंडे फहराये जाते, तोरण लगाये जाते। शाम को मराठा लोगों के वीर निकलते। दस-बारह साल के लड़कों को सजा-धजाकर कंधे पर उठाया जाता। सब हनुमान के मंदिर के सामने मैदान में एकत्रित होते। सामने महार-मंडली का बजनियाँ समूह। इस त्योहार में महारों को मुफ़्त में बजाना चाहिए, ऐसी प्रथा थी। बैंड के सामने लेझिम की क़तार। वीर ऊँची आवाज़ में ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाते। लेकिन महारों के लड़कों को इस खेल की अनुमति न होती। वे दूर खड़े रहकर सिर्फ़ तमाशा ही देख सकते थे।

किसी महार के लड़के के मन में लेझिम खेलने का जोश आता तो भी उसे हाथ में लेझिम देना पाप समझते। हम महारवाड़ा के लड़के उदास हो जाते। गाँव के मेले में दंगल का हंगामा रहता। माँगों की डफों की आवाज़ पर कुश्तियाँ होती। गाँव-गाँव के पहलवान जमा होते। छोटे बच्चों की कुश्तियाँ रेवड़ियों-मिठाइयों पर लगायी जाती। बाद में पैसे, नोट, ज़री की पगड़ी, चाँदी का कड़ा—ऐसे बढ़ते भाव से कुश्तियाँ होती। महार पहलवान कितना भी बलवान होता, उसे सवर्ण पहलवानों के साथ जोड़ करने की इजाज़त नहीं थी। यदि कोई ग़लती से अखाड़े में उतर गया और बाद में बात खुल गयी तो उसे मरते दम तक पीटते। इसलिए कोई भी महार इस झंझट में न पड़ता। महारों की कुश्ती सिर्फ़ उन्हीं के जाति वालों के साथ होती।

यह सब देखकर बचपन में ही मेरे भीतर की खेलने की सारी ऊर्जा कछुए के अवयव-सी आकुंचित हो जाती। मिट्टी का बर्तन जैसे रिसता है, वैसे ही मेरा व्यक्तित्व भी रिसने लगा। महारों के लड़कों के साथ खेलने में

मन न लगता। किताबी कीडा होने लगा। पर 'तमाशा' देखने में बड़ा मजा आता। सुबह पटेल के सामने तमाशगीरो की बारी आती। तमाशा भी महारो का या ठाकुरों का। थोडे समय में जो तमाशा अपनी बानगी बताता, उसे अधिक विदाई-पुरस्कार मिलता।

गाँव का एक मेला याद आता है। वहाँ महार लड़कों को भोजन का आमत्रण। दो मील पर पीर की दरगाह थी। वह भी गाँव के किनारे ही। खाने को मिलेगा, इसलिए महारवाड़ा झुड बनाकर वहाँ पहुँचता। महारों को मिट्टी के बर्तन मे खाना दिया जाता। रोटी की जगह बाजरे की घुघरी। सवर्णों की पगत उठने के बाद ही महारो को भोजन के लिए आवाज दी जाती। खूब तेज शोरबा। नाक-मुँह से पानी बहने लगता। सूऽ-सूऽ करते हुए हम बाजरे की घुघरी के साथ शोरबा सुड़कते। गलती से एकाध बोटी मिल गयी तो ब्रह्म-आनद की प्राप्ति होती। सुबह बचा-खुचा घर लाना कोई न भूलता। गाँव की मरी-माँ और मुसोबा की पूजा करने का मान महारो को मिलता। मुसोबा महारो-सा बाहर ही रहता। गर्मी-पानी झेलता हुआ। यह मुसोबा कौन है, यह प्रश्न यक्ष-प्रश्न-सा गूँजता रहता।

गाँव के लोगो को रज हो, इस प्रकार का एक खेल महारवाड़ा मे खेला जाता—'रायरद' का खेल। ये रायरद ऊँट पर सवार हो साल में एक बार आते। उनकी विशेषता थी कि वे न गाँव में ठहरते, न गाँव वालों का मनोरजन ही करते। वे केवल महारो का मनोरंजन करते। मुझे आज भी आश्चर्य होता है। जो महार गाँव के अमीरों का मनोरंजन करते, उनका भी मनोरजन करनेवाला कोई होता है। भारतीय समाज-व्यवस्था की उलझी हुई बुनावट देखकर मेरी विचारशक्ति शून्य हो जाती है। इस तरह सबका अनजाने मे एक पाला हुआ अहंकार। 'रायरंद' पंचायत मे ही ठहरते। ऊँटों पर उनकी सारी दुनिया—बाल-बच्चे, खटिया, हुक्का, ढोलकी, इकतारा इत्यादि होता। ऊँट देखने गाँव के लड़कों की भीड़ जमा हो जाती। उस समय हमारा भाव सातवें आसमान पर। कभी-कभी रायरंद हमें भी ऊँट पर बैठाकर सैर कराते।

बचपन मे देखा रायरद याद है। सिर पर रंग-बिरगी पगडी—उसका छोर पीठ पर झूलता हुआ। चाँदी का मडल लटकता हुआ जाकिट। हृष्ट-

पुष्ट शरीर। घुमावदार नुकीली मूंछें। बोलते समय भी उनकी आवाज़ मे महारी डकार उभरती। अनेक गाँवों के नाम ज़बानी याद थे। बातों-बातों में वे सबको मोह लेते। सुबह चौपाल में उनका खेल होता। महारों के अगुआ सामने बैठते और ये ही महारों का न्याय करते, इस कारण समाज में उनका अलग वज़न था। रायरंद के हाथों में ख़ाली नारियल। इसे वे रंगीन रूमाल में रखते। ख़ाली नारियल में कौड़ियाँ। वे सुर-ताल पर नाचते। नाचते समय बड़े तन्मय होकर कहते—"तुँबड़ी-भर दे दो ना, वो बाजीराव नाना!" अगुओं के सिर पर वे नारियल पटकते। गाँव के अगुओं की वे तारीफ़ करते। उनकी भाषा मे माधुर्य होता। शब्द-संपत्ति की वे वर्षा करते। उनके लिए घर-घर से शिधा जमा किया जाता। गाँव से विदा होते समय महार लोग नयी पगड़ी देकर उन्हें ख़ुश रखते। उन्हें दावत दी जाती। बाद में महार लोगों ने बौद्धधर्म स्वीकारा। उन्होने सारे पुराने रीति-रिवाज छोड़ दिये। मेरे सामने आज भी यह प्रश्न है कि उन दिनों महारो का मनोरंजन करने वाले रायरंद अब कहाँ ग़ायब हो गये है? आज दवाई के लिए भी गाँव-देहातों में रायरंद नही मिल पाते।

इस प्रकार का गाँव और ऐसा वह महारवाड़ा मेरे बचपन के मानस-पटल पर चित्रो-सा अंकित है। जितना बताऊँ कम है। गाँव में रहते हुए भी मैं बचपन से ही गाँव से हमेशा कटा-सा रहा। गाँव की मेरी शिथिलता तालुके में आकर ग़ायब हो गयी। रोज सुबह-शाम स्कूल के लिए तीन मील की परेड। दो-चार मराठों के लडके हमारे साथ तालुके में पढ़ने जाते। यह स्कूल जाने वाली हमारी पहली पीढ़ी थी। महारवाड़े से मैं अकेला। गाँव के मराठों के लडके शारीरिक दृष्टि से मुझसे काफी बलवान। एक तो बाप बनने की उम्र जैसा बड़ा दिखता। उसे दाढ़ी-मूँछ तक निकल आयी थी।

मैं उनके बीच बड़ा मरियल-सा था। इस कारण उनके साथ मैं बहुत दब कर रहता। अपने स्तर के अनुसार ही रहना चाहिए, यह बात मानो ख़ून में ही रही हो। ये लड़के कभी भी समानता के आधार पर व्यवहार न करते। उनकी नस-नस से अपनी जाति का अहंकार फूटता। जाति के

आधार पर यदि मेरा अपमान किया जाता तो मेरा मन भीतर-ही-भीतर बारूद-सा फट उठता। परन्तु मुंह से एक शब्द तक कहने की हिम्मत न होती। रास्ते में मैं उनके साथ कभी न चलता। आगे-पीछे अन्तर रख कर चलता।

स्कूल पहुँचने पर मेरा मन दूर आकाश में किसी पक्षी के पहाड़ की चोटी पर उडान भरने-सा रोमांचित हो उठता। मुक्ति का आनंद मिलता। गाँव के एक कमरे के स्कूल से तालुके का स्कूल काफ़ी अच्छा था। 'बाल-भारती' पाठ में जैसा रहता है, ठीक वैसा। छोटी-छोटी नालियों के खपरैल। सामने छोटा-सा मैदान। वट और नीम के वृक्षों की घनी छाया। मैंने पाँचवी कक्षा मे प्रवेश किया। हमारी कक्षा के लिए समुद्र नाम के एक मास्टर थे। काली टोपी। सफ़ेद-शुभ्र कपडे। धोती और कुरता। बहुत गोरे। बहुत अच्छा हँसते। उनकी सोने की अँगूठी हमेशा मेरी आँखों में चमकती।

गाँव के स्कूल का पढ़ा होने के कारण एकदम पिछडा हुआ मैं तालुके के स्कूल में एक-दो महीनो में ही आगे आने लगा। मेरा नम्बर पहले पाँच के अन्दर। नम्बर कटते तो देर से आने के लिए। गाँव से कितना भी दौडता-भागता आता, पर एकाध दिन देर हो ही जाती। प्रार्थना हाथ न लगती। बस इस कारण से मेरा नम्बर नीचे खिसक जाता। समुद्र मास्टर मुझ पर बहुत खुश। सारी कक्षा के सामने खडा करते और कहते, "ये देखो, महार का लड़का! कितना साफ़-सुथरा रहता है, कितना शुद्ध बोलता है। पढ़ाई में भी आगे है!" दिन-भर पंखों-सा उडता। स्कूल छूटने पर गाँव जाने की इच्छा न होती। गाँव नरक-सा लगने लगता। ऐसा लगता कि महारवाड़ा की दुनिया अपनी दुनिया नहीं है। गाँव में भी क़दम-क़दम पर अपमान, तुच्छता। दम घुट जाता।

तालुके के स्कूल मे ही मुझे अपने सही व्यक्तित्व की पहचान हुई। मुझमें कोई कमी नहीं, गाँव के कांजी-हाउस से बाहर निकलना ही चाहिए। उसके लिए पढ़ना जरूरी है। शहर के ब्राह्मणो के लडको को भी पढ़ाई मे पीछे छोड़ सकता हूँ, यह अहसास मुझे ही आश्चर्य में डाल देता। कक्षा के दूसरो लडको से कबड्डी भी बहुत अच्छी तरह खेलता। लड़के कहते, "शायद इसके शरीर पर सुअर की चमड़ी जड़ी हो!" लड़को का घेरा तोड़

कर मछली-सा सर्र से बाहर निकल आता। इसी बीच नाटकों में भी काम करने का भूत सवार हो गया। "इस ख़ाली गिलास मे तुम्हें क्या दिखता है ?" 'एकच प्याला' नाटक का यह संवाद मुझे याद था। नशाबंदी सप्ताह मे मैं यह संवाद चौराहों पर बेझिझक बोलता रहता।

एक बार 15 अगस्त को चौक में स्वतन्त्रता-दिवस के कार्यक्रम में मैंने वाद-विवाद प्रतियोगिता में भाग लिया। भीड़ में दादा जावजीबुआ थे। स्टेज से नीचे उतरते ही उन्होने बड़े गर्व से मुझे छाती से लगा लिया। उनकी आँखों से खुशी के आँसू लुढक पड़े। "माँ का वैधव्य सार्थक हो गया," उनके ये उद्गार थे। "आज तुम्हारा बाप यह सब देखने के लिए जीवित होना चाहिए था।" ऐसा भी कहा उन्होंने। उन्होने गाँव में मेरी बहुत तारीफ़ की। अब विधवा के अनाथ बेटे की उपेक्षा धीरे-धीरे समाप्त होने लगी। महारवाड़ा के दूसरे लड़के भी आदर से देखने लगे।

उस समय मेरी पोशाक बड़ी मज़ेदार थी। सिर पर सफ़ेद टोपी, सफ़ेद नेहरू कुर्ता, पैरों में चप्पल। देहात में इस्त्री कहाँ थी? लोटे में अँगारे डालता और कपड़ो पर घुमाता। कपड़े ज़्यादा थे ही नही। उन्ही को धो कर पहनता। रात में सोते समय क्रीज़ न बिगड़ जाये, इसलिए कपड़े सिरहाने रखकर सोता। उन दिनों स्कूल की ओर से बहुत अधिक प्रभात-फेरियाँ निकलती घोषणा करने। मैं सबसे आगे। घोषणा करते समय सारा शरीर तन जाता। रोम-रोम में चेतना का संचार होता। गाँव के मराठों के लड़के पीछे पड़ जाते। वे बहुत ईर्ष्या करते। दोपहर में हम नदी पर खाना खाने जाते। भोजन के समय उनसे अलग दूरी पर बैठना पड़ता। उनकी दृष्टि में मैं अब भी अछूत था। कभी-कभी वे चटनी या अचार देते, पर मेरी रोटी कभी न खाते। धीरे-धीरे मैं उनका साथ टालने लगा। तालुके के सवर्ण लड़को से दोस्ती जोड़ने लगा।

समाज में रहते हुए कई मुखौटे लगाने पड़ते हैं। पर अब तो सब-कुछ उगलना है। वैसे पुरुष बनने की कल्पना बड़ी रोमांचकारी थी और मेरा बचपन पीछे छूटता जा रहा था। पर मुझे इसका कभी दुख नही हुआ।

गाँव के नाले पर हमउम्र लड़कों के साथ नहाने जाता। सबसे पहले मैं 'पुरुष' हो गया था। यह नयी जानकारी देते हुए मेरी छाती गर्व से फूल जाती। प्राकृतिक नियमानुसार मेरे शरीर से वासना की नदी बहने लगी। अब तक स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध मैंने अनेकों बार देखे थे, परन्तु यह सब सांडो की लड़ाई की तरह देखे थे। भीतर-बाहर से निर्लिप्त, ठंडा। पर अब किशोरियों को देख मेरे भीतर कुछ-कुछ होने लगा था।

तालुके के स्कूल में सोते वक्त एक घटना घटी। आज भी ऐसा लगता है, ज्यों मेरे शरीर पर छिपकली रेंग रही है। गाँव का गोरा-चिट्टा मराठे का लड़का मेरे पास ही सोता था। एक रात अचानक मैं नीद से जागा। वह लड़का मेरे लिंग से कुछ हरकत कर रहा था। अलबत्ता उस दिन मेरी चड्डी गीली हो गयी। मुझे भी मजा आया। पर बाद में मुझे झिझक होती। कुछ गलत, गन्दा काम मेरे हाथो से हो रहा है—यह सोचकर बेचैन हो उठता। इसके बाद मैंने अपने सोने की जगह बदल दी।

बाद में यह घटना मैंने एक बड़े लड़के को बतायी। फिर उसी लड़के ने उसका 'चार्ज' ले लिया। वह मूलतः नपुंसक है, इसका हम लड़को को पक्का विश्वास हो गया। दिन में वह मुझसे नजरें चुराता। मजे की बात यह है कि कुछ दिनो बाद उसकी शादी एक सुन्दर-सुघड़ लड़की से हुई। आज उसका पारिवारिक जीवन खूब फला-फूला है। उसके खाते में बच्चे जमा हैं। पर एक बात है। मैं जब भी गांव जाता हूँ, वह आज भी नजरें नहीं मिला पाता।

स्कूल की दुनिया से एक बात और हुई। महारवाड़ा की लड़कियों का मुझे आकर्षण नही रहा। एक तो वे रोज नही नहाती। लटें उलझी हुई, गदे कपड़े। उनसे मैं दूर-दूर रहता।

एक घटना याद है। हमारे घर के सामने रूपवतें नामक व्यक्ति का घर था। उसे मैं मामा कहता। उसकी तेरह-चौदह साल की एक गोरी-गोरी लड़की थी। वह हमेशा हमारे ही घर में रहती। माँ के घरेलू कामो में मदद करती। कुछ लोग उसे मेरी भावी पत्नी कहकर मुझे चिढाते। मैं उसे झींगुर समझ झटक देता। एक तो वह बहुत ही गदी रहती। कभी-कभी तो उसकी नाक बहती। अपने ही हाथ से वह फुर्र से पोंछ

डालती। बड़ी घिन होती। एक बार रात में ठीक मेरी बगल में आकर सोयी। माँ-मामी हमको चिढ़ाते। उस दिन मैं माँ पर बरस पड़ा। मैंने अपना विस्तर उठाया और दूसरी ओर जाकर सो गया।

इसका यह मतलब नही कि उसका मुझे कुछ भी आकर्षण नही था। जानवर और इंसान में अंतर होना ही चाहिए। उसका मन किसी भी बात के लिए तैयार होना चाहिए। यों कह लीजिये कि अकाल से आये हों। पर मैं उनमें से नही हूँ। इसी बीच तालुके की एक लड़की के प्रति मेरा आकर्षण हो गया। क्या नाम था उसका? याद आया—बानू। आज मैं यह नही बता सकता कि आकर्षण उसका था या उसकी जाति का? वह मराठा थी। रंग बहुत गोरा, केतकी के पत्तों-सा। धूप मे चलने पर उसके गाल लाल हो जाते। गाँव आने पर भी वह सपनों में आती रहती। उससे पहचान का एक व्यावहारिक कारण था। गाँव में एक सुनार मित्र के घर मैं जाया करता। कभी-कभी अध्ययन के निमित्त वही सो जाता। उसकी गैलरी में खड़े रहने पर वह दरवाज़े में कभी-कभी दीखती। देखकर खिद्‌ से हँस देती। मैं भी उसकी ओर खिंचता चला गया। उसने पहचान बढ़ायी। उस समय मैं स्कूल में छठी कक्षा में पढ़ रहा था। वह भी कन्या-शाला में इसी कक्षा में थी। सुबह हमारी परीक्षा होती। उसकी परीक्षा दोपहर में होती। हमारे और उसके स्कूल के प्रश्न-पत्र एक ही होते। स्कूल छूटने पर मैं दौड़ता-भागता नदी के किनारे आ जाता। वहाँ एक पेड़ के नीचे वह मेरी राह देखती रहती। मैं उसे संपूर्ण प्रश्न-पत्र हल कर देता और वह दोपहर मे स्कूल जाकर मेरे बताये उत्तर लिखती। एक रोमांटिक मूड में मैं दिन-भर खोया रहता। बम्बई में कभी देखे सिनेमा के दृश्य याद आते। घोड़ा लेकर मैं रेगिस्तान लाँघता हुआ प्रेयसी से मिलने के लिए जा रहा हूँ, यह दृश्य सामने होता। वैसे हमारा 'प्लेटानिक लव' था। शारीरिक बातें मालूम होने के बाद भी वैसा साहस मुझमें न था। माँ कभी-कभी लकड़ियों का गट्ठा लेकर तालुके में आती। बानू अपने घर के सामने माँ को रोक लेती। कभी-कभी लोटा हाथ में लेकर माँ को पानी पिलाती। अपनी माँ को इधर-उधर की बातें बता कर वह गट्ठा ख़रीदवाती। मैंने उसे कभी नहीं बताया था कि मेरी माँ लकड़ियाँ

बेचती है। पर उसने कहाँ से यह जानकारी हासिल कर ली थी, पता नहीं।

ज़िंदगी में पहली बार मैं बानू के साथ मंदिर गया। बाद में वह मुझे अगस्ती के मंदिर ले गयी। वहाँ जाने के लिए एक बहती नदी पार करनी पड़ती। मंदिर के चारों ओर घनी अमराई थी। वहीं मैंने पहली बार रामफल देखा। अगस्ती के मंदिर के सामने एक बड़ा-सा ठंडे पानी का रामकुंड। सीता की प्यास मिटाने के लिए राम ने धनुष से बाण छोड़कर इसका निर्माण किया था, ऐसी दंतकथा चारों ओर प्रचलित थी। उस छोटी उम्र में भी इस दंतकथा पर मुझे विश्वास न होता। मंदिर में बानू के साथ जाते हुए मैं बहुत घबराया। ऐसा लगता रहता कि अगस्ती की लाल आँखें मेरा पीछा कर रही हैं। वह बहुत देर तक अगस्ती की पूजा करती रही। परन्तु मुझे ऐसा कुछ नहीं लगा जिससे मैं भगवान के सामने हाथ जोड़ूँ। अलबत्ता उसने मेरे मुँह में जो पेड़ा ठूँसा था, वह खाना नहीं भूला।

एक बार हम कुछ दोस्त उसके मौसंबी के बगीचे में गये। उसी ने बड़े आग्रह से बुलाया था। वहाँ हम लुका-छिपी खेलते। मैं जहाँ छिपा होता, वहीं बानू मुझे पकड़ने आती और जहाँ वह छिपी होती, वहीं मैं उसे खोजने जाता। बाक़ी दोस्त तंग आ गये। जिस प्रकार शादी में दूल्हे का नाम लिया जाता है, ठीक वैसे ही लजाकर सब मित्रों के सामने उसने मेरा नाम लिया। कुछ भी हो, दोस्त ऊँची जाति के थे। एक महार का लड़का उनकी गली की राजकन्या को मोह ले, यह उनके लिए घोर अपमानास्पद बात थी। उन्होंने झगड़ा करना शुरू कर दिया। बानू को और मुझे गन्दी और अश्लील गालियाँ देते। एक थाली में खाने वाले दोस्त अचानक कैसे क्रुद्ध हो गये, इसी बात का अंदाज़ न लगता। इनमें से एक दोस्त के घर मैं सोने गया। वह रात-भर एक शब्द नहीं बोला। सुबह उठकर मैंने देखा, शहर में मेरे और बानू के नामों की तख़्तियाँ टँग गयी हैं। कोयले और चॉक से दीवारें रंग दी गयीं। गन्ने के रस वाली बड़ी लोहे की कड़ाही पर भी लिखा था। मैं बेहद डरा हुआ था। एक तो बानू का बाप तालुका-कांग्रेस का नेता। खादी के कपड़ों में रहता। तोते की चोंच-सी उसकी नोकदार गांधी टोपी। उसके नीचे जंगली उजड्डता है, इसका अहसास उसकी नज़रें देतीं। मैं बीमारी के बहाने गाँव भाग जाता हूँ। तालुके को मुँह तक न दिखाता।

सात-आठ दिन के बाद दबे क़दमों में मैं स्कूल आता हूँ। ऐसा लगता कि अब मुझे पेड़ से बांध कर चाबुक लगाये जायेंगे। परन्तु वहाँ कुछ भी नहीं हुआ। यह सब मेरे मन की ही कल्पना थी। परन्तु वहाँ घूमते हुए दीवारों पर लिखे शब्द मेरा पीछा करते और मैं टूटता ही जा रहा था।

इस घटना ने मुझे जीवन मे वास्तविकता से परिचय कराया। बानू आकाश में लगे फल-सी है और मैं वहाँ कभी नही पहुँच सकूँगा, सच्चाई मालूम हो जाती है। मैंने उसका पीछा छोड़ दिया। परन्तु वह काफ़ी समय तक मेरा पीछा करती रही। दो-एक बार रास्ते में बोलने की कोशिश भी करती है, पर मैं बर्फ के टुकड़े-सा जमा रहा।

बानू मिली थी, पर पच्चीस-तीस साल बाद। बड़ी कठिनाई से मैं पहचान पाया। अभी-अभी की बात है। मैं गांव से बस द्वारा बम्बई आ रहा था। बस में भेड़-बकरियो-से यात्री ठूँसे गये थे। मैं खडे-खडे ही यात्रा कर रहा था। एक कोने में मेरा ध्यान गया। बानू बैठी थी। थकी-हारी। आँखों के चारों ओर झाई थी। वह मेरी ही उम्र की थी, पर मुझसे काफ़ी अधिक उम्र की लग रही थी। मैं भीड़ से रास्ता निकालते उसकी ओर बढ़ता हूँ। मैं धीरे-से उससे पूछता हूँ, "तुम्हारा नाम बानू है न ?" वह चौक जाती है। वह मुझे नही पहचानती। मैं उसे कुछ पुरानी बातें याद दिलाता हूँ। भूतकाल का बोझ उसके सामने हिलता नजर आने लगा। उसकी आँखें चमकती हैं। बानू नाम से उसे अब कोई नही पहचानता। उसके जीवन की दुर्गत उसी से मालूम होती है। पति ने उसे छोड़ दिया है। इस समय वह बीड़ी के कारखाने में बीड़ियाँ बांधती है। यह सुनकर मैं क्षण-भर के लिए अवाक रह जाता हूँ। वह घर चलने के लिए बहुत आग्रह करती है। विश्वास दिलाती है कि माँ आज भी पहचान लेगी। मैं नौकरी का बहाना कर उससे बच निकलता हूँ। अगले स्टॉप पर वह नीचे उतर जाती है। काफ़ी दूर निकल जाने तक वह मुझे देखती रहती है...।

बानू के साथ अगस्ती की यात्रा में भटकते समय ही चार-पांच सौ लोगों का जुलूस देखा था। एक व्यक्ति सामने नीला झंडा लिये हुए। कुछ लोगों ने

नीली टोपियाँ पहन रखी थी। पास के ही मैदान में सभा थी। डॉ० अंबेडकर के नाम का जयघोष जारी था। बम्बई में जब मैं एक कारखाने में था, तब डॉ० अंबेडकर को देखा था। धुंधली याद मात्र बाकी है। पाँवों में तंग पाजामा, ऊपर लम्बी शेरवानी, हाथ में छडी। गोरा चेहरा, ऊँचा माथा। कुछ इसी प्रकार का उनका पोज था। नेवरहुड-हाउस में उनका भाषण था। बचपन मे सुना भाषण याद नही। चेहरा भी अस्पष्ट-सा याद है। बाबासाहब के भाषण सुनने नही जाता बल्कि प्रेम का चक्कर चलाता हूँ, मुझे भीतर-ही-भीतर यह बात सालती रहती। सभा किस विषय पर थी, आज याद नही।

उस समय जुलूस का नेतृत्व करते बाबासाहब को मैंने देखा था। इकहरे बदन के गोरे, तरुण, डबल ब्रेसीयर्स का कोट—किसी नायक-से दिखते। उस दिन वाली गलती मैंने फिर कभी नही की। पार्टी की सभाओं में हाज़िर रहने लगा। अगस्ती के मेले के अवसर पर पार्टी की ख़ास सभा होती, वह भी महार-कुड के पास। अगस्ती के पास वाले कुंड को रामकुंड कहते हैं। फिर इसी कुड को महार-कुंड क्यों कहते हैं? कहते हैं, इस कुड की बहुत सारी जमीन चारों ओर के किसानो ने कब्ज़े मे ले ली थी। सभा में यह सवाल उठाया जाता।

बाबासाहब कोतुल से आये। वह गाँव मेरे गाँव के उस पार था। बीच में बड़ा पर्वत। बाबासाहब के प्रखर विचारों का प्रभाव गाँव-गाँव फैलने लगा। महार लोग चमड़ा फाडना, मरे ढोरो का मांस खाना छोड रहे थे। जलसागारों के क्रातिकारी गीत विद्रोह फैला रहे थे। जैसे किसी साँप ने केंचुली छोड़ी हो, ठीक उसी तरह महार समाज सनसनाया हुआ था।

शेवगा की फलियों के पेड़ की कथा, जो बाबासाहब ने सुनायी, महार-मंडली के घर-घर पहुँच गयी थी। चार भाई थे। परन्तु मेहनत से उन्हें शर्म आती। उनके घर के पिछवाड़े शेवगे का पेड़ था। वे रात को उसकी फलियाँ तोड़ते और किसी तरह उन पर अपना गुजारा करते। एक सबधी कुल्हाड़ी से सपासप झाड़ काट डालता है। पेड कट जाने के बाद वे अपनी हलचल शुरू करते हैं। यह बाबासाहब की कथा। महारो पर यह बात तेज असर डालती है। गांव वालों द्वारा काम देने से इनकार करने पर

गाँव-गाँव में संघर्ष उठ खड़ा हुआ।

बचपन से ही मैं आंदोलनों मे खिंचता गया। उसका मुख्य कारण जावजीबुआ—एक दृढ बूढा। लोहे की सलाखों-सी उसकी देह। एक दूसरे रिश्ते से वह दादा लगता।

मेरे घर के पास ही उसका बड़ा मकान था। उसी की तरह महारवाड़ा का लक्ष्मण भी आंदोलनों मे आगे रहता था। उस समय लोकल बोर्ड का सदस्य चुना गया। ये जोड़ी सारे तालुके मे समाज-सुधार आंदोलन में व्यस्त थी। महारो से गंदा काम छुड़वाती। स्वाभिमान से जीने का संदेश अपनी देहाती भाषा मे गाँव-गाँव जाकर फैलाती। इन्होंने कुछ लडकों की एक टोली बनायी। ये प्रत्येक गाँव जाते। पुराने काम करने वाले लोगों को तकलीफ़ भी होती। मरे जानवरों पर रॉकेल डालते। कोई इसे न खाये, इसका बंदोबस्त करते। लोगों ने सीधी तरह सुन लिया तो ठीक, नही तो उनके मुंह पर डामर पोत दिया जाता। खप्पर से पानी डाल कर उसमें चेहरा देखने को मजबूर किया जाता! कभी-कभी उनके खिलाफ़ सामाजिक बहिष्कार का शस्त्र भी काम मे लाया जाता। उनका हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता। यह बहुत बड़ी सज़ा समझी जाती। इसी आंदोलन का नेतृत्व बाद में दादासाहब ने सभाल लिया। दादासाहब बम्बई से एल-एल० बी० पास कर आये थे। बाबासाहब से इनका परिचय है, और उन्हीं ने दादासाहब को गाँव भेजा है, यह जानकर हमारे मन मे दादासाहब के बारे में आदरयुक्त डर समा गया। उनके पास जाने मे भी हमें डर लगता। वे सभा में बहुत अच्छा बोलते। 'तमाशा' के, गाँव के रोज़ के जीवन के, उदाहरण देते। उनके भाषण से हास्य-व्यंग्य की लहर उठती। सुनते समय हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाते। वकील होने पर भी उनमें बुज़ुर्गियत न थी। महारवाडा के लडकों के साथ वे गिल्ली-डंडा खेलते। नदी में घंटो तैरते रहते। शाम को ढोलकी बजाते। क्रांतिकारी गाने गाते। उनके इस कार्य-कलाप से यदि हम युवक प्रभावित न होते तो ही आश्चर्य था।

एक बार सभा में पुराने लोगों ने उन्हें बहुत मुश्किल में डाल दिया। गाँव में उन्ही लोगो के पिता 'महारकी' करते। साप्ताहिक बाज़ार में जाकर 'शेव' माँगते। कई लोगों को 'शेव' क्या चीज है, मालूम नहीं होगा।

दो महार दो दिशाओं मे धोती तानकर रखते और प्रत्येक दुकान के सामने, दुकान मे जो भी व्यक्ति होता उससे माँगते। दुकानदार या देहात से आया हुआ विक्रेता-किसान अंजुलि-भर, जो कुछ भी उनके पास होता, धोती में डाल देते। उस धोती मे सब चीजों की मिलावट हो जाती—ठीक भारतीय समाज-व्यवस्था-सी ! शाम को घर जाकर इसका बँटवारा करते। दादासाहब नेता होकर भी इस गाँव की गुलामी नही रोक सकते। गाँव-सुधार रहे हैं पर तालुका नही सुधरता, यह कार्यकर्ताओं का आरोप था। एक सभा मे जब दादासाहब बोल रहे थे, बीच में ही किसी ने टोका, "खुद के भीतर अँधेरा, दूसरों को क्या ज्ञान सिखाता है ! पहले अपने बाप को बता।" सभा में विवाद शुरू हो गया। दादासाहब चिढे नहीं। अनेक स्तरों के संघर्ष उन्होंने झेले थे। उस दिन उन्होने सभा में गर्जना की, "यदि किसी ने मुझे पिस्तौल लाकर दिया तो मैं अपने बाप का खून कर दूंगा !" उस दिन की सभा कई दिनों तक तालुके मे चर्चा का विषय बनी रही। सभा ने दादासाहब के कर्तव्य पर एक और मोर रख दिया।

आंदोलन की हवा हमारे गाँव तक भी पहुँची। महारवाडा में सिन्नर का 'जलसा' आया था। जलसा कैसा होता है, यह देखने के लिए गाँव से मराठा लोग भी आये थे। 'तमाशा' मे गोपियाँ मथुरा के बाजार के लिए निकलती है। कृष्ण उन्हें पसन्द आ जाता है। परन्तु जलसा की गोपियाँ कालाराम-सत्याग्रह के लिए निकलती है। जलसा का यह नया प्लाट था। मशालों की रोशनी में यह कार्यक्रम शुरू होता है। अब गोपियाँ राम के मन्दिर में जाकर हमारे भगवान को अपवित्र कर देंगी, यह सोचकर मराठों का माथा फिर जाता है। मजे की बात यह है कि उन्हे यथार्थ मे तो यह क्रिया स्वीकार्य नही थी। परन्तु स्टेज पर भी यह सब देखना उनके लिए दुखदायी थी। वह इसे बन्द करने के लिए कहते हैं। विवाद बढता है। "हम अपनी बस्ती में नगे नाचेंगे, आपको देखना है तो देखिये !" इस तरह साफ-माफ़ जब जावजी कहते हैं, तब वे चुपचाप उठकर चले जाते हैं। इन छोटी-छोटी बातों से भी गाँव और महारवाडा के बीच तनाव उत्पन्न होता।

अब गाँव का काम महारों ने बन्द कर दिया। मराठों के दूल्हे की अब

नगरद्वार पर आरती नहीं उतारी जाती। गाँव के मेले में बजाना बन्द कर दिया गया। मरी-माँ की गाड़ी एक गाँव से दूसरे गाँव ले जाना बन्द हो गयी। एक बार तो होली पर महारों ने आग नही दी, इसलिए झगड़ा हो गया। कइयों के सिर फूट गये। गाँव मे माचिस नही थी क्या? परम्परा-नुसार पूछना मना है। महारों ने होली के लिए आग नही दी तो गाँव भयानक दैवी संकट से घिर जायेगा—ऐसी गाँव वालों की धारणा थी। ऐसे समय महार लोग भी खूब तनकर रहते। इसी समय पुराने झगडे खोद-खोद कर निकाले जाते।

सामाजिक आंदोलन की हवा बदल रही थी। कुछ पुरानी बातें दफ़न हो रही थी। पुरानी परम्परा से हमारे घर में खडोबा की पूजा होती। माँ ने चाँदी के कुछ नये टाँक[1] बनवा लिये थे। पिताजी की मृत्यु के कारण माँ पर परिस्थितियों के दबाव के कारण डर पैदा हो गया था। वह रविवार को खंडोबा को स्नान करवाने के लिए कहती। घोड़े पर बैठा खंडोबा। हाथ में तलवार। उनके साथ भैरव रहते। स्नान करवाना अर्थात थाली मे पानी लेकर धोना। ईंट की बुगदी से उनका जग साफ़ किया जाता। तब वह चमकने लगते। धोया गया पानी छप्पर पर फेंकते। शाम को आरती की थाल भर जाती। बेल-भंडार फेंकते। नारियल के टुकड़े बाँटते। माथे पर गुलाल लगाते। जिस प्रकार हफ़्ते में एक दिन इस पूजा के लिए होता, ठीक उसी तरह समाधि पर पानी चढ़ाना भी एक दिन का काम होता। गुरुवार का उपवास रखना पड़ता। बचपन में इस समाधि के बारे में मेरे मन में बड़ी जिज्ञासा थी। उस समय महारवाड़ा के पूर्व की चोटी पर साबर का घना जंगल था। कँटीली झाड़ियों में एक खुली समाधि थी। काला-काला एक चौकोन पत्थर। उस पर खोदकर दो पादुका बनायी गयी थी।

माँ से पूछता: "यह किसकी समाधि है? और इसकी पूजा क्यों करनी चाहिए?"

समाधि के ख़िलाफ़ बोलना माँ को पसन्द नहीं था। वह भय से काँप उठती। उसी दिशा में हाथ जोड़ती। कहती, "अरे, यह बाबा हमारा

---

1. चाँदी के पत्तर पर देवताओं की उत्कीर्ण प्रतिमा

पूर्वज ! कहते हैं, संन्यासी था। अनेक तीर्थ घूमा हुआ। मरते समय 'माँ पांढरी' पर आकर मरा। उसी की यह समाधि है। हमारे घर पर उसी की छत्र-छाया है। यदि वह नाराज हो गया तो अपने घर का सत्यानाश हो जायेगा !"

फिर माँ मेरे बचपन की कथा सुनाती, "तू बहुत छोटा था, उठकर चलता था। आँगन में जाकर बडबड़ाता। किसी को भी न समझ आती तेरी भाषा। मैं तुझे समाधि की भभूत लगाती। तब तुझे कुछ आराम मिलता।"

माँ की इस कपोल-कथा पर मुझे विश्वास न होता। परन्तु माँ के संतोष के लिए मैं इस पर पानी डालता। नैवेद्य दिखाता। पानी चढ़ाते समय स्पष्ट होता कि उस समाधि पर कुत्ते-कौवों ने बीट की है। लगता, इतनी बड़ी समाधि है पर इससे तो कुत्ते-कौवे भी नहीं डरते। काहे का है यह भगवान ? साबर के कँटीले जंगल से जाते समय मुझे उमा दादा की 'नीलावती' कथा खास तौर पर याद आती। लगता, यदि इस समाधि को खोदा गया तो इसके भीतर 'नीलावती' मिलेगी। पढ़ने को मिलेगी। फिर पशु-पक्षियों की भाषा समझ पड़ेगी। परन्तु उस छोटी उम्र में यह कभी भी संभव नहीं हुआ। बाद में जब अंबेडकर का आंदोलन ज़ोर पकड़ने लगा तब ये सब समाधियाँ ढोंग लगने लगीं। लगने लगा, ये क्या अपने से ज्यादा होशियार होगा ? मुझे तो कितनी नयी बातें मालूम हैं। धीरे-धीरे समाधि का आकर्षण कम होता गया। मैंने जैसे ही उसका स्नान कराना बन्द किया उसी के साथ खंडोबा को भी गठरी में बाँध दिया। माँ ने भी धीरे-धीरे अपनी जिद मेरे सामने शिथिल कर दी। परन्तु मेरी बम्बई की चाची आज भी समाधि के सामर्थ्य से घबराती है। लडका दारू छोड़ दे, इसलिए उसने समाधि पर छप्पर डलवा दिया है।

जैसे-जैसे मुझमें परिवर्तन हो रहे थे, महारवाड़ा में भी परिवर्तन हो रहे थे। महारवाडा के ऊपरी भाग मे एक शंकर नाम का पागल रहता था। काला-कलूटा। सिर पर बढ़ी हुई जटाएँ। शरीर पर एक भी कपड़ा

न पहनता। सिर्फ़ एक लँगोटी। नज़दीकी रिश्तेदार कोई न था। उसका घर एक बार देखा। लगा, कचरे का ढेर हो। जिस तरह कुश्ती के अखाड़े में मिट्टी होती है, उसी तरह उसके कमरे मे राख फैली हुई थी। शरीर पर कोई कपड़ा न होने के कारण राख पर लोटता। शायद राख के कारण उसे ठंड न लगती। बाहर निकलने पर निशाचर लगता। बहुत कम बोलता। किसी को तकलीफ न देता। लोग जो कुछ भी खाने के लिए देते, उसी पर गुजारा करता या फिर जंगल से कदमूल खोद कर खाता। उसकी शक्ति से गाँव वाले भी शायद घबराते थे। सुबह उठते ही गागर लेकर कुँए पर जाता। मुंह से थू-थू करता। खूब देर तक जी भरकर नहाता। गागर कंधे पर लेकर आता। क्षण-भर हनुमान-मदिर के सामने रुकता। गिन-गिनकर वह रोज मंदिर की सीढ़ियों को लातमारता। इसका तात्पर्य क्या था, उसे ही मालूम होगा। पर मरते दम तक उसका क्रम जारी था। गाँव वाले पागल कहकर छोड़ देते। 'नंगे से खुदा डरे' वाली कहावत उसके बारे में चरितार्थ होती। महारवाडा में इसी तरह एक शेंदर का देवस्थान था। वहाँ तो किसी को भी समझ मे न आने वाली भाषा में वह भगवान से झगडता। टूटे जूतों से उसका मुंह ठेंचता। यह पागल क्यों हुआ? उसकी शादी हुई या नही? ये बातें हम लड़कों को मालूम न थीं।

इस पगले से एक दूसरा पागल याद आ गया। वह पढा-लिखा था। उसे पागल कैसे कहा जाये? शिरसाट मास्टर कभी-कभी हमारे गाँव आता। बहुत बातूनी था। सभा को शोभायमान उसका वक्तृत्व। तालुके मे गणोरे में उसकी ससुराल थी। गणोरा में साल में एक बार देवी की बहुत बड़ी यात्रा लगती है। शिरसाट का ससुर इस मंदिर का पुजारी। ससुर देवी की पूजा बंद कर दे, इसके लिए उसने एडी-चोटी का जोर लगा दिया। पर देवी की यात्रा की बड़ी कमाई थी। साल-भर के लिए अनाज, मुर्गी, बकरे, कपड़े, नारियल—यह सब देवी का चढ़ावा उसके ससुर को मिलता। देवी का पुजारी एक महार कैसे हुआ, यह सवाल कइयों के मन में उठ सकता है। महारवाडा मे एक ग़रीब बहू घरवालों की तकलीफ़ों से तग आ गयी। कच्ची गगरी से पानी लाती। एक दिन जान दे दी। यह घटना कब

घटी, कोई नहीं बता सकता। पर यही बहू अब जागृत ज्योति-देवी बन गयी। सारा बहू-समाज उसके चरणों में लीन हो गया। ऐसा जागृत देवस्थान छोड़ना ससुरजी को मूर्खता लगती। ससुर बात नहीं मान रहा, यह जानकर शिरसाट ने अपनी पत्नी ही छोड़ दी। तभी वह बेवकूफ़ों-सा बड़बड़ाता है। उसने तालुके में एक मुहिम शुरू की। साईकिल में एक लंबी थैली टाँग ली। प्रत्येक महारवाड़ा में जाकर शेंदर के भगवान के पत्थर जमा करना और तालुके की नदी में गहरे छोड़ देना—यह उसका नियमित काम हो गया। फिर स्कूल से सस्पेंड। कहते हैं, सुपरवाइज़र ने सब शिक्षकों के सामने उसका घोर अपमान किया। स्कूल छूटने के बाद वह नाके पर पान खाता खड़ा था। सामने से शुभ्र-स्वच्छ कपड़े पहने सुपरवाइज़र आता दिखायी पड़ता है। पल-भर भी सोचे बिना वह पिच्च्-से सुपरवाइज़र पर पान की पीक डालता है। शिक्षा विभाग में चर्चा का विषय। ऐसा यह मास्टर! पर उसके साथ गाँव-गाँव के शेंदर के पत्थर जमा करने में हमें बड़ा 'थ्रिल' महसूस होता।

हमारे इस आंदोलन का बहू-समाज पर किसी प्रकार का कोई परिणाम हुआ होगा, ऐसा नहीं लगता। उलटे उनकी भौतिक बातों में बढ़ोत्तरी हो रही थी। घर पर मंगलोरी खपरैल, गन्ना, अंगूर, ऐसी नकदी फ़सलें। मोटर-साईकिल। जनपद की राजनीति। परन्तु उनकी खोपड़ी में कुछ बदल रहा है, ऐसा कभी न लगता। उनके पास महार आदमी पहचानने का एक अजीब शस्त्र था। जो बहुत साफ़-सुथरा रहता होगा वह महार। मैं गाँव के मंदिर में जाता तो कोई मराठा टोकता, "तेरी तो...! किसका है रे तू? सीधे सटकर निकलता है?" एक बार तंग आकर मैंने कहा, "तेरी माँ की..., मैं मारुति का!" निश्चित ही उसके द्वारा दी गयी गाली मुझे झेल लेनी चाहिए और मेरी गाली पर मराठा न भड़के तो इसे आश्चर्य ही कहेंगे। लगता, साले इतना पढ-लिख गये, फिर भी गाँव आने पर पूछते हैं—'क्यों रे, मारुति महार का है न तू?' महारपन जोंक-सा चिपक गया था। वैसे अपने को मारुति का बेटा कहने से मैं कुछ खिन्न हो गया। मैं झट यह भी कह देता—"मैं टेकड़ी के मारुति का बेटा नहीं, नीचे की बस्ती के मारुति का बेटा हूँ।" ऊपर टेकडी पर रहने वाले मारुति

नहीं—न कोई पत्थर, न ही कोई मिट्टी का दीया।

अभी-अभी की बात है। हरि बंबई में है, इतना ही मालूम था। बंबई में कभी मुलाकात नहीं हुई। भायखला से व्ही० टी० की यात्रा कर रहा था। बीच के पैसेज में बहुत-से लोग नीचे बैठे हुए थे। उनमें से एक चेहरे पर मेरी नजर ठहर जाती है। मैं हरि को पहचान जाता हूँ। उसके हाथ-पैर भी अपने बाप की तरह फटे हुए थे। चेहरे पर सूजन थी, चमड़ी लाल होती हुई। हरि को भी कोढ़ फूट निकला। लगा...मेरे ही हाथ-पैरों में कोढ़ निकल आयी हो। फोंडवाड़ा [कांजीहाउस] की 'झाड़' कविता याद हो आयी। "यह पत्ते किसके ? कोढ़ी की अँगुलियों, से झड़े पत्ते !" सच, हरि को मुँह दिखाना अच्छा नहीं लग रहा था। उसके साथ की गप्पें, जंगलों में वट-वृक्षों की झूलती जड़ों से झूलना, नदी पर पकड़ी मछलियाँ—पूरा बचपन आँखों से सामने घूम गया। नहीं रहा गया। आवाज देता हूँ। उसे झटका लगता है। मुझे देखकर वह उदास हो जाता है। मुझे अब वह साहब समझता है। अधिक कुछ बोलता ही नहीं। लगा कि उसका सारा चैतन्य किसी ने चूस लिया हो। मेरी ओर एकटक देखता रहा। अगले स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो वह अचानक उतर कर चलता बना। एक बात और स्पष्ट हो गयी। पैरों के ज़ख्मों के कारण वह ठीक से चल न पा रहा था। क़रीब-क़रीब घिसटता हुआ चल रहा था। ट्रेन निकल जाने तक मैं दूर-दूर तक उसके छोटा, और छोटा होते धब्बे-से आकार को देखता रहा। उस रात नींद नहीं आयी। हरि का दयनीय चेहरा रात-भर आँखों के सामने घूमता रहा।

हरि के दो भाई थे। बड़ा दामू और छोटा भावड्या। वैसे मैं बहुत दिनों तक इस बात को लेकर परेशान था कि इन तीनों भाइयों में से सिर्फ हरि को ही यह रोग कैसे लगा ! दामू कुछ दूसरे कारणों से याद रहा। कोढ़ी के लड़कों के रूप में वे जाने जाते। इसलिए इनकी शादी का सवाल बड़ा जटिल हो गया। इस घर में कोई भी बिरादरी वाला अपनी लड़की ब्याहने को तैयार नहीं था। दामू को किसी ने भी उसे दामू नाम से नहीं पुकारा। सब उसे दाम्या कहते। वैसे यह दाम्या था मोटा-ताजा। जवान हो चला। शरीर के भीतर रिसती हुई वासना शायद उसे कचोट रही थी।

बहुत गंदा रहता यह। उसकी एक अजीब आदत थी। हाथों पर थूककर वह अपनी दोनों हथेलियाँ आपस में घिसता। देखने वाले को यह दृश्य बड़ा वीभत्स लगता। हरि गाँव के ढोर चराता तो दाम्या घोड़ों की देखभाल करता। धनवान लोग बड़े शौक़ से घोड़े पालते। उसमें घोड़ी ज्यादा पसंद की जाती। हमारे बचपन के दिनों में पंडित की घोड़ी बड़ी प्रसिद्ध। कहते हैं, पंडित उसे अंधारी देता। घोड़ी गहरे काले रंग की, चिकनी। एक मक्खी भी न बैठने देती। यह अफ़वाह भी थी कि पंडित उसे दारू, अंडा पिलाता है। एक बार बाहर निकलने पर रास्ते-भर थिरकती रहती। गोरा-चिट्टा पंडित उस पर छड़ी लेकर बैठता और हवा से बातें करता होता। पंडित की घोड़ी से स्पर्धा करने के लिए पाटिल भी घोड़ी पालते। यही दो-चार घोड़ियाँ लेकर दाम्या मैदान में उन्हें चराने आता। उनमें से एक घोड़ी पर बैठने की मैंने बचपन में कोशिश की। पिछाड़ी खोलकर उसका लगाम-सा उपयोग करना मुझे हरि ने सिखाया था। परन्तु जब घोड़ी के पीछे खड़ा हुआ और घोड़ी ने पिछली लात कुछ इस तरह मारी कि मुझे छठी का दूध याद आ गया। मैं दूर जा गिरा था।

एक दिन दाम्या के बारे में एक बात चिनगारी-सी सारे गाँव में फैल गयी। जैसे घोड़ी को नाल ठोंकते हैं, दाम्या वैसे घोड़ी को नीचे गिराता है। उसके चारों पैर कस कर बाँधता है और संभोग करता है, यह ख़बर थी। हम लड़कों को इसी बात का आश्चर्य होता कि यह दाम्या इतनी बड़ी घोड़ी को औरत की जगह कैसे इस्तेमाल करता होगा! कुछ लड़के कहते."अरे, यह घर में भी घोड़ी लाता है। अपनी बूढ़ी माँ को घर से बाहर भगाकर, यह घिनौना कुकर्म करता है। मैदान में ऊँचे पत्थर पर खड़ा रहता है और घोड़ी को नीचे गड्ढे में खड़ा करता है।" यह भी एक सनसनीखेज ख़बर थी। पर तब से गाँव से आने-जाने वाला उसे 'घोड़ीचोद' कहकर चिढ़ाता और यह बात कहने वाले की ओर बेशर्मी से देखकर वह हँस देता। उसकी हँसी के पीछे भी मुझे उसकी वेदना दिखती। पाटिल लोगों ने एक काम किया। घोड़ी की योनि में एक बाली टाँक दी!

दामू की यौन-विकृति की यह घटना और दूसरी ओर सीता की घटना। वासना भीतर-ही-भीतर घुटते रहने के कारण वह हिस्टीरिया की

शिकार हो गयी। वैसे लोग हिस्टीरिया नाम मे इस बीमारी को न पहचानते थे। परन्तु सीता को उसके पति ने छोड दिया था और उसे पागलपन के झटके आते। युवकों को देखने के बाद वह पागल हो उठती। यौन हावभाव। इशारे करने लगती। अपनी साड़ी खोलकर भागने-दौड़ने लगती। उसके रिश्तेदार उसे एक कोठरी मे बद कर देते। जब उसे मालूम हुआ कि उसके पति ने बंबई मे एक दूसरी बाई रख ली है और अब वह सीता को साथ नही ले जायेगा, तब उसका पागलपन उफान मारने लगा। गाँव क्या कर सकता था? उसे दागने के लिए जंजीरों से बाँधकर हनुमान के मंदिर के सामने लाया गया। स्त्रियाँ यदि नगी घूमती हैं तो यह इज्जत दागने जैसा था। पागलपन का दौरा पड़ने पर वह दो व्यक्तियों को सहज ही झटक देती। दागने की प्रक्रिया बहुत ही अमानुषिक थी। मात्र याद आने से शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। गाँव का एक बूढा आदमी दागने में बड़ा प्रसिद्ध था। दूर-दूर से लोग उसे दागने के लिए निमंत्रित करते। फाँसी की रस्सी खींचने वाले जल्लाद-सा वह दिखता। दागते समय पागल व्यक्ति के पास ही खैर लकडी की धूनी सुलगायी जाती। उसमे लोहे की सलाखें लाल की जातीं। दागने वाला हाथ मे सुलगती सलाख लेकर बड़े उत्साह से आगे आता। चारों ओर दागने की प्रक्रिया देखने वाले तमाशबीन। इसी भीड़ में मैं भी स्तब्ध खडा था। जब सीता को माथे पर, दोनों कनपटियो पर और पैरो के टखनों के पास दागा गया, तब उसकी चीत्कार आकाश फाड गयी—यह आज भी याद है। तांबे के सिक्को जितने बड़े जख्मों के निशान होते। दागने के बाद ये अरंडी के पत्तो पर घी लगाकर जख्म पर रखना न भूलते—ठडक के लिए। इतना करने पर भी सीता का पागलपन दूर न हुआ। उलटे और बढ गया। सीता की तरह शंकर को भी क्यों नही दागा जाता, यह प्रश्न प्रश्न ही बना रहा।

मैंने गाँव में जो नीतिशास्त्र देखा, वह एकदम अलग था। महारवाड़ा के कुछ युवक धनवान किसानों के पास सालाना मजदूरी पर काम करते। ऐसे समय उनका संपर्क मराठा स्त्रियों से होता। ये स्त्रियाँ उनका उपभोग

करती। परंतु पानी या रोटी देते समय ऊपर से देती ! उन्हे वे स्त्रियाँ अछूत समझती ! इस बात का मुझे बडा आश्चर्य होता।

उधर ठाकर लोगों का नीतिशास्त्र और भी अलग था। उनकी अधिकाश बातें खुल्लमखुल्ला थी। यदि किसी लडकी को पर-पुरुष से दिन ठहर जाते, तब ठाकर लोगों को मालूम होने पर वे उस लड़की को पचो मे बुलाते। उस समय का एक फ़ैसला आज भी याद है। लड़की ने साफ़-साफ़ कह दिया : "टट्टे के पार मुझे ले गया। मुझे क्या मालूम, उसमें कीडा गया या तिनका ?" पंचों का मुंह सिल जाता। इस तरह लडकी को निर्दोष समझ छोड़ दिया जाता। कभी-कभी बच्चे गोद मे होते, और उसकी शादी होती। बच्चों का बाप कौन है, ऐसे फ़ालतू प्रश्न पति न पूछता।

न्याय वाली बात से याद आया। उस घटना का मैं भी गवाह था। परन्तु जो देखा-सुना, उसका मेरे मन पर आज भी गहरा असर है। सफ़ेदपोश समाज की नीतियों की कल्पना अर्थात् बात बाहर नही जानी चाहिए। यदि चार-दीवारी के भीतर कुछ हो गया तो उसे भीतर ही बुझा दिया जाता। उसका समाज में बाहर हो-हल्ला न होने देते। परन्तु महार समाज में यदि ऐसा कुछ हो जाता तो सबसे पहले घर की सास ही आँगन मे खड़ी हो जाती और सारे महारवाड़ा को सुनायी दे सके, इतनी ऊँची आवाज़ मे गर्जना करती, "क्यों री बदमाश ! कहाँ गोबर खाने गयी थी ?"

उस समय भी महारवाड़ा में ऐसी ही एक चमत्कारपूर्ण घटना घटी। परन्तु बहू ने कोई कुकर्म किया हो, ऐसी बात नही थी। इस घटना मे ससुर ही बहू के बिस्तर की ओर बढ़ा था। बहू बहुत नेकदिल थी। पति नौकरी के लिए बंबई था। बंबई में रहने के लिए मकान नही मिलता। इसलिए नयी-नवेली दुल्हन को बंबई नही ले जा सकता। ससुरजी विधुर। चार लोगों के बीच उठने-बैठने वाला। जिस रात ससुर उसके बिस्तर की ओर बढ़ता है, उसी समय वह चीखकर उठ खड़ी हुई। सुबह अपने मायके सदेश भेजती है। पति को तार देकर बुलाया जाता है। सारे लोग न्याय सुनाने चौपाल पर बैठे थे। लड़का बंबई से जल्दी आ गया। खिन्न होकर उसका बाप कोने मे बैठा था। महारवाड़ा के कर्ताधर्ता जावजीबुआ ने विषय की शुरुआत की। इस बात का निर्णय सुनने आसपास के रिश्तेदार भी एकत्र हो

गये। जावजीबुआ की कही कथा आज भी याद है : "एक राजा था। वह रुमाल में चकमक बाँधकर दरबार में लाता है। दरबार में सब सरदार-पंडित उपस्थित थे। वह बताता है, 'देखिये, यह चकमक कितनी पिलपिली है।' सब ठंडे पड़ जाते हैं। टटोलकर सिर हिलाते हैं। एक चतुर आदमी निर्भयता से कहता है, 'महाराज, यह चकमक पिलपिली नहीं है, सकोच पिलपिला है।' "

इस पर जावजीबुआ सबके चेहरे देखते हैं। जावजी को लगता है, मैंने समस्या सुलझा ली।

परन्तु उसका पति यह प्रश्न कुछ अलग ढंग से पेश करता है। वह कहता है, "मैंने इसे अपनी औरत के रूप मे अपनाया है। यह मेरे और बाप के साझे की है। मैं अपने बाप का दिल नही दुखा सकता। मेरा ससुर चाहे तो अपनी लड़की को ले जा सकता है।"

इस उत्तर से सब चकरा जाते हैं। अब क्या कहा जाये, किसी को कुछ नही सूझता। हम न्याय-निपटारा करेंगे—जो पंच इस तरह से सोच रहे थे, वे भी उस दिन निराश हो जाते है। ससुर को जो सोचना-समझना था, वह उसने किया। परन्तु मैं इस निर्णय से अतर्मुखी हो जाता हूँ। सोचता हूँ, ऐसे प्रश्नो की ओर देखने का यह भी एक दृष्टिकोण हो सकता है। उस दिन इस आदमी ने सबसे अलग यह निर्णय क्यों दिया होगा? यह साहस उसने कैसे सँजोया, यह प्रश्न मेरे दिमाग मे काफ़ी दिनों तक घूमता रहा।

इन अगुआ लोगो पर लज्जित होने के ऐसे कई अवसर आते। अब सुदामबुवा का ही देखो न। 'येसकर पारी' बद। बलुत बद। यह सब तय होने के बाद भी सुदामबुवा गाँव में जाकर आटा माँगता। किसी की भी डाँट न सुनता! वह कहता, "मुझे और मेरी औरत को पालो।" सुदामबुवा अर्थात् महारवाड़ा का बड़ा नमूना आदमी। उसके एक हाथ में खडताल और दूसरे हाथ मे तानपूरा होता। वह गाँव मे जाकर इकतारे के साथ भजन गाता और सुदामबुवा को मुट्ठी-मुट्ठी आटा मिल जाता। उसकी पोशाक भी मजेदार। सिर पर लाल पगड़ी, माथे पर सिंदूर का टीका, गले मे विठोवा की माला। मास खाते समय वह माला खटी पर टाँग देता। बाँहों

पर से फटा हुआ कोट उसके शरीर पर लटकता रहता। कोट की भीतरी जेब में 'मौसी' होती। मौसी अर्थात् चिंदियों की गुडिया। उसके पैरो मे घुंघरू बंधे थे। सिर पर बालों का बुचड़ा। यह मौसी उसे किसी वात की कमी न होने देती। सुदामबुवा को बुढ़ापे तक कोई बाल-बच्चा नही हुआ। लोग कहते, 'इसका वश डूब जायेगा।' परन्तु उसके चेहरे पर कोई दुख की रेखा न होती। चेहरे पर हमेशा चैतन्य खेलता रहता। खुद का वंश डूब रहा है पर बांझ औरतों को बच्चे देता है, उसके लिए यह बात प्रसिद्ध थी। इसलिए वह हमेशा औरतों के बीच घिरा रहता। आज सत्य-साई बाबा हाथ से भभूति निकालता है तो कौन कमाल करता है ! सुदामबुवा हाथ से सिंदूर निकालता। पहले हवा मे अपना ख़ाली हाथ उठाता और दूसरों को अपने हाथ आगे वढाने के लिए कहता। दोनों हाथ आपस मे घिसने से हथेलियों से सिंदूर निकलता। खुश रहने पर हम लडकों-बच्चों के हाथ पर भी सिंदूर गिराता।

'मौसी' से एक बात याद आयी। इस मौसी का प्रताप मैं बचपन में देख चुका था। इस मौसी के साथ वह सवाद करता। संकटों मे दुहाई माँगता। पिताजी के बजनियां दल में यह सुर बजाता। एक बार उसे ठाकर के यहाँ शादी में आने की निमंत्रण-सुपारी मिली। उम दल में मैं भी शामिल था। मुझे वहुत भूख लगी थी। शादी का कार्यक्रम पूरा होने के बाद सभी वजनियों को लपसी या भात मिलना था। तब तक मैं रुआँसा हो गया। इसी बीच एक स्त्री सुदामबुवा के पास ताबीज़ माँगने आती है। यदि वच्चा नही हुआ तो उसका पति सौत लाने वाला था। सुदामबुवा ने अक़्ल लड़ाई। "सामने के आम के पेड के नीचे वारह अंडों की चानकी, घी के बने बारह पराठें लेकर आओ। मौसी का उतारा है।" महिला जाती है और कुछ देर बाद 'उतारा' लेकर वापस आती है। इस बीच हम वही पास में छिप गये थे। वह महिला उतारा रखकर चली जाती है और हम उस पर टूट पड़ते हैं।

पर एक बार मौसी का प्रताप काम नहीं आया। गांव के बिठोवा मंदिर के सामने सावन का अखंड-सप्ताह चल रहा था। इस बीच सुदामबुवा बहाना वनाकर मंडप से जाने को हुआ। बस, गाँववालो की खोपड़ी घूम

गयी। उसे गाँववालों ने लातों-मुक्कों से खूब धुनका। गाँव से आटा मिलना बंद हो गया। परन्तु सुदामबुवा डगमगाने वाला नहीं था। आसपास के गाँवों में वह आटा माँगता फिरता।

खुल्लमखुला तो नहीं, पर चोरी-छिपे हम भी सुदामबुवा से आटा लेते। पिताजी की याद-निमित्त कहिये या हमें अनाथ समझकर—सुदामबुवा हमे मुफ़्त आटा देता। जब वह घर आता तो बहुत हँसी-मज़ाक करता। उन दिनो गाँव मे एक तमाशा आया था। उसमे 'पाथर्डी का राजा'—यह लोकनाट्य था। पाथर्डी गाँव के लिए नपुंसक या हिजड़ों का नामकरण कैसे हुआ, पता नही। परन्तु लोकनाटक का राजा हिजड़ों-सा हावभाव करता—'हिलाओ!' और सारा राजदरबार कहता, 'हिलाते हैं न, बाप!' सारी प्रजा भी राजा के अनुसार ही हावभाव करती। यह नकल वह बार-बार करता। हम बच्चे उसके सान्निध्य मे सतत हँसते रहते। सुदामबुवा के आटे पर ही हम आषाढ़-सावन निकालते। वस्तुत, येसकर-पारी बंद हो जाने के कारण सबसे अधिक हमारा घर प्रभावित हुआ। आजीविका का दूसरा कोई साधन न था। माँ मेहनत के लिए सदैव तत्पर। पहाड़ों पर लकडी बीनने जाती तो फॉरेस्ट-सिपाही कुछ रिश्वत माँगता। कटनी के दिनों मे माँ सिला बीनती। फ़सल काटकर ले जाते समय ठेलों और रास्तों से जो भुट्टे गिर जाते, उन्हें वह बीनती। इस पर हमारा ठंडा चूल्हा किसी तरह सुलगता।

वैसे प्रकृति का आकर्षण मुझे कभी नहीं रहा। किसी डील-डौल वाले धनवान व्यक्ति से जैसे अनायास नफ़रत हो, ठीक उसी तरह कुछ लगता। प्रश्न इतने छलते कि प्रसन्न होकर प्रकृति को निहारने का समय किसके पास था? मुझे लगता है, यह सब आदमी के भरे-पेट के चोंचले हैं! चारो ओर से प्रकृति काँटे-सी डसती।

वैसे कई बार मैं माँ के साथ ऊँचे पर्वतों पर गया था। उसकी ठिगनी सीढ़ियाँ चढना कुछ और ही बात होती। ऊँचे पर्वतों से दूर-दूर तक आसमान आँखों के सामने होता। दूर कलसूबाई दिखायी देती। और झरने

की धार चाँदी के रस-सी झलकती। पर इस सृष्टि-सौंदर्य की ओर देखने की अपेक्षा करौंदे तोड़कर खाने में मुझे अधिक रुचि थी।

रात को घर से ही पर्वत की दावाग्नि दिखायी देती। अँधेरे में सरकती हुई जलती रेखा। इसके सौंदर्य से दूसरे सवाल ही मुझे सताते। अब बड़ी सुबह फ़ॉरेस्ट-सिपाही ठाकरों को आड़े हाथों लेंगे—'जंगल में आग तुम लोगों ने लगायी है।' और फिर रपट लिखी जायेगी। पेड़ से तोड़ने में अपराध था लेकिन जली लकड़ियाँ उठाना अपराध न था। ठाकर लोग जंगल में आग लगाते हैं। जलती लकड़ियाँ मिल जायें, इसलिए उनकी यह युक्ति होगी, इस तरह का पूर्वग्रह सिपाहियों का होता। पर वैसे ठाकर बहुत भोले थे। वे सिर्फ़ चवन्नी का सिक्का ही पहचान पाते। यदि लकड़ी के गट्ठे का किसी ने एक रुपया भी दिया तो वे न लेते—'चार आने बनते हैं।' बस यही रट लगाते। इतने भोले ठाकर आग लगायेंगे, इस बात पर विश्वास न होता।

मैं कभी-कभी ठाकरवाड़ी जाता था। घर के पास ही हमारी थोड़ी ज़मीन थी। माँ ने उसे जान से भी ज़्यादा संभाल कर रखा था। विधवा की ज़मीन निगल जाना—यह भाई-बंदों का खेल। परन्तु माँ ने आँखों में तेल डालकर इस टुकड़े को संभाल कर रखा। माँ गाँव के मराठों को भी ज़मीन बटाई पर न देती। एक तो मराठा किसान बड़ा लोभी। 'यहाँ तेरा बाप मरा, यहाँ तेरी माँ मरी', कहकर सारा अनाज हड़प लेते। एक-दो पायली देकर उपकार करते। बुआई के समय का बीज फ़सल आने पर पहले ही अनाज में से काट लेते। इसलिए माँ हमेशा ठाकर को ही बटाई पर ज़मीन उठाती। हमारा सरकती ठाकर बहुत ही ईमानदार आदमी था। अच्छी फ़सल होने पर महारवाड़ा में सारा बोझा सिर पर लेकर आता। अनाज के अलावा दाल-दाना भी लाना न भूलता।

किसी काम से मैं इस खलिहान में जाता। घर के पास ही ठाकरवाड़ी में उनका खलिहान था। ठाकरवाड़ी याद रही है तो वहाँ की अत्यधिक स्वच्छता के कारण। वैसे उनके घर छोटे-छोटे, ऊपर घास-फूस के गट्ठे डाले होते। पर होते बड़े सुघढ़। दीवारें लाल मिट्टी से पुती होतीं। उस पर चूने से रंग-बिरंगी चित्रकारी की हुई। आँगन भी साफ़-स्वच्छ, लिपा-

पुता। पानी का लोटा भी मांज-पोंछकर चमकता हुआ। महारवाड़ा में ऐसी स्वच्छता कभी न दिखती।

उनके व्यक्तित्व में से स्वच्छता और सुव्यवस्थता घटा दी जाये तो उनमें अत्यधिक अज्ञान था। बच्चों को स्कूल पढ़ने न भेजते। भेड़-बकरियाँ चराने भेज देते। गांव में यदि डॉक्टर देवी का टीका लगाने आता और किसी के घर बच्चा जन्मा होता तो वे डर से जंगल में भगा देते। वैसे बड़े गरीब स्वभाव के लोग। खुद अपनी ओर से किसी को तकलीफ न देते।

परन्तु ठाकरों की एक बात से मैं बेहद चिढ़ता। वैसे ठाकर थे आदिवासी ही। स्वयं को महादेव का वंशज समझते। हमसे छुआछूत मानते। पानी तक ऊपर से पिलाते। चटनी-रोटी देनी हो तो वह भी ऊपर से—बिना छुये। ठाकरों के व्यवहार में जातीयता आयी कहाँ से? यह भी एक सवाल है। उन्होंने गाँव के मराठों का अनुकरण तो नहीं किया।

गाँव की जातीयता का डंक जिसे लगा हो, वह भी छुआछूत माने यह अपने-आप में व्यंग्य था। शहरों में तकलीफ़ नहीं थी, ऐसा लगता है।

परन्तु यह भी उतना सही नहीं है। स्कूल के दोस्त बदल चुके थे। इसका यह मतलब कदापि नहीं था कि तालुके के गाँव में परिवर्तन आ रहा था। सबसे पहले तालुके में ही होटल के बाहर अछूतों के लिए अलग कप देखा। यह कप किस वर्ष गायब हुआ, याद नहीं। परन्तु इतना अवश्य याद है कि स्वतन्त्रता के बाद कुछ वर्षों तक वह रहा। क़ानून बन गये थे, पर साहस किसी में न था। तालुके में ही एक मांग ने पहली बार ढाढ़स किया और दूसरे अछूतों ने साथ दिया। मालिक ने या गांव के दूसरे लोगों ने कोई ख़ास रुचि नहीं दिखायी। जैसे यह कप की बात हुई, ठीक इसी तरह हम लड़कों को नाई की दुकान में जाकर बाल कटवाना बहुत बड़ी बात लगती। मन से लगता कि सवर्णों के लड़कों से अच्छी कटिंग बनवाकर जाना चाहिए। एक बार दुकान में बाल कटवाने की हिम्मत की। दुकानदार ने कैसे पहचान लिया, पता नहीं। मैं तो इस चिंता से हैरान हो गया कि मेरे चेहरे की जाति तो नहीं पढ़ लेता? कान नीचे किये गधी-सा वापस आ गया।

हम स्कूल जाने वाले कुछ लड़के सुदामबुवा से बाल कटवाते। परन्तु तालुके के स्कूल में जाने के बाद ये बाल बड़े गँवारू छाप दिखते। बाद में

हम तालुके में रामजी नाम के व्यक्ति के पास अपने बाल कटवा लेते। दूध की प्यास छाछ से निबटाने-सा क़िस्सा था। दुकान में जैसे बाल काटते है, वैसा स्किल्ड वर्क यहां नही था। बाद में दुकानो मे भी हमारे बाल काटे जाने लगे। परन्तु भीतर घुसते ही काफ़ी देर तक छाती धड़कती रहती। शहरों में जब सभी तरफ बाल काटे जाने लगे, फिर भी गाँव का नाई काफी दिनों तक महार-चमारों के बाल न काटता। लगता, साले को भैंस छीलने में कोई तकलीफ़ नही होती तो क्या हम भैंस से भी गये-गुजरे हैं? अपने गाँव का ग्राहक हाथ से निकल जाने के डर से वह हमारी बस्ती में किसी को भी स्पर्श न करता।

इसी बीच मेरे जीवन मे एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। पाँचवी की परीक्षा में अच्छे नम्बरों से पास हो गया और आगे पढने की प्रबल इच्छा थी ही। स्कूल में सोनवणे नाम के अपनी ही जाति के एक मास्टर थे। मेरी प्रगति पर उनका पूरा ध्यान था। उन्होने एक बार मुझसे तालुके के छात्रावास मे प्रवेश पाने हेतु आवेदन लिखवा लिया था। वैसे मैं वह आवेदन पूरी तरह भूल चुका था। मैं परीक्षा पास करता हूँ और छात्रावास मे प्रवेश देने सम्बन्धी पत्र अहमदनगर के लोकल बोर्ड के ऑफिस से आ धमकता है। मुझे बेहद खुशी होती है। एक तो इससे माँ का कुछ बोझ कम होने वाला था। ऐसा लगा कि रुके हुए पानी की दिशा अचानक किसी ने मोड दी हो।

तालुके में जिस मैदान मे साप्ताहिक बाजार लगता, वहाँ लडको का यह छात्रावास था। लम्बी, सफ़ेद रंग की इमारत। ऊपर खपरैलों का छप्पर। चारों ओर तारों का कम्पाउन्ड। इमारत के पास ही लडकों का खाने का हॉल। लडको के नहाने के लिए प्रशस्त कुँआ। गाँव के स्कूल मे जाना और छात्रावास में रुकना। वहाँ मुफ्त खाने की सुविधा। मुझे और क्या चाहिए था? शायद स्वर्ग की कल्पना भी ऐसी ही कुछ होगी।

परन्तु यह आनंद भी बहुत दिनों तक न टिक पाया। छात्रावास में मेरे हिस्से क्या परोसा गया, इसका कोई अन्दाज़ नही था। वैसे छात्रावास मछुआरों के लड़कों के नाम से प्रसिद्ध था। डाग विभाग के सभी महादेव-मछुआरे लड़के। इनके अलावा मैं ही अकेला महार इस छात्रावास का

विद्यार्थी। जाति का अहकार कितना ही निचले स्तर पर क्यों न हो, लेकिन कितना बीहड हो सकता है और इसके कारण ज़िंदगी-भर वहाँ कैसे डंक मिले, इसकी याद-मात्र से आज भी मेरा शरीर सिहर उठता है।

पहले ही दिन लडके टोली बनाकर मुझे देखते हुए कुछ कानाफूसी करने लगे। जिस कमरे मे मेरा नम्बर लगा, वहाँ ऊँची कक्षा का एक हट्टा-कट्टा लँगडा लडका रहता था। उसे दाढी-मूँछ भी आ चुकी थी। उसने मुझे अपने दबाव मे धर दबोचा, "तू हमारी पगत मे नही बैठ सकता। हॉल के दरवाज़े के पास ही बैठना पडेगा!" बाकी लड़को ने भी उसकी हाँ में हाँ मिलायी।

शायद वह सब का नेता रहा हो। मुझे तो वह तैमूरलंग ही लगा। वैसे आज तक मैंने बहुत-से भले-बुरे अनुभव पचाये है, परन्तु उस दिन का डक आज भी नही भूल पाया हूँ। पुस्तको की संगत मे मेरा मूलत. सवेदनशील मन और अधिक सवेदनशील हो गया। शिकायत का सवाल ही न उठता। बोर्डिंग का सुपरिटेन्डेंट भी उन्ही की जाति का था। अपना लोटा-बर्तन माँज-चमकाकर भोजन-हॉल की ओर गया। वहाँ उन्होने ताकीद की, "देखो, तुम महार हो। आगे हॉल में घुसे तो तेरा कीमा बना देंगे।" मैं गुमसुम हॉल के दरवाज़े के पास बैठ जाता हूँ। थोडा अन्तर छोड़ना नही भूलता। मैं पगत के लड़को को देखता हूँ। मेरी ओर सभी आँखें तरेरते हैं "मुँह मे कौर रखते ही नाम लीजिये श्री हरि का।" लडको के मुँह से सुनी यह प्रार्थना मुझे और अधिक डक मारने लगती है।

वैसे यह अपमान मुझे चुपचाप नही सहना चाहिए था। यदि मैं एक बार भी हिम्मत दिखा देता तो सब का विरोध अपने-आप ढह जाता।

आक्रोश और विद्रोह की कविताएँ लिखना आसान है। स्वय पर बीतने पर असली दुख मालूम होता है। पर एक बात है—मैंने स्वाभिमानशून्य जीवन जिया, इस बात का मुझे आज भी दुख है। परन्तु उस समय लगता कि अपनी रीढ ही सीधी नही है। साला, इतना डरपोक कैसे हो गया? यह डर मुझे किसने दिया? रास्ते में रेंगने वाला जैसे कोई जीव हो और लडके आने-जाते उसे लकडी से कोचें; मेरे एक कौर के लिए कितनी लाचारी! अपने बल पर मैं क्यों नही पढ पाया? हाथों मे थाली और लोटा लेकर जब मैं बाहर आता हूँ तो अपने-आप को आजीवन सज़ायाफ़्ता कैदी-सा पाता

हूँ। पैरों में लोहे की बेड़ियाँ। जंजीर खुड्म-खुड्म बजती है। दूर तक देखता हूँ, *गहरा नीला फैला आकाश दिखता। क्या कभी इस आकाश मे मनचाही* उड़ान भर सकूँगा? यह बात दिमाग मे घोसला बना लेती।

छात्रावास में हर शनिवार को मारुति के श्लोक पढे जाते। साथ ही भजन भी, 'वैष्णव जन तो तेणे कहिये, जो पीर परायी जाणे रे!' गाधीजी का यह प्रिय भजन वही सुन पाया। वैसे मेरी आवाज़ अच्छी ही थी। एकांत में जब कभी होता, बहुत देर तक गाता। छात्रावास मे भजन गाने में मै सबसे आगे होता। मछुआरो के लड़के मेरे बाद साथ देते हुए गाते। परन्तु प्रसाद बाँटते समय नारियल की थाली मेरे हाथो मे कभी न दी जाती। मैं यह अपमान अपने गले के नीचे उतारता। ऐसे समय गाँव के हरि का कुष्ट-रोगी बाप विशेष रूप से याद आ जाता। मैं अपने हाथों को निहारता। मेरे हाथो में कोढ़ तो नही फूट निकला? खूब ज़ोर से चीखने की इच्छा होती। 'मुँह दबाकर मुक्कों की मार' क्या इसी को कहते हैं? यदि गाँव के ढोर चराता, ऐसे डंक तो न चुभते। सच, क्योंकर हुई पुस्तकों से पहचान? अच्छी थी नदी किनारे की गोशाला। उन दिनों इसी तरह कुछ लगता।

इस चिनगारी को खरात[1] पालक के कारण और हवा लगी। ये ईसाई धर्म के प्रचारक थे। गोरे-चिट्टे। उनके चेहरे पर सदैव मुसकान छायी रहती। बहुत प्रसन्न व्यक्तित्व था। शायद किसी समय महार ही रहे हों, क्योंकि उनकी बातचीत से कई महारी शब्द झाँकते रहते। प्रोटेस्टेंट होने के कारण उन्हें फ़ादर-सा झब्बा न पहनना पडता। घर-बार सभालकर ही वे धर्मकार्य करते। नदी के किनारे एक टेकडी पर उनके घर के पास ही एक छोटा-सा चर्च था। वहाँ बडी सुन्दर आवाज़ में वे भगवान के भजन गाते। हारमोनियम बजाते। पता नही क्यो, वे काफ़ी दूर चलकर मुझसे मिलने छात्रावास में आते। बहुत अपनापन जताते। मेरे लिए यह नया अनुभव था। उनके साथ दो-एक बार मैं चर्च भी गया था। फिर जब मैं सगमनेर पढ़ने गया, तब भी उनसे मुलाक़ात होती रहती। अच्छी तरह याद है, मुझे हिन्दू धर्म के बारे में कभी श्रद्धा नही रही। इस धर्म मे भगवान के चरण

1. एक ईसाई पादरी का नाम

छूने की भी मनाही है। दूर से ही दर्शन। खरात के धर्म में ये भेदभाव दिखायी न देते। एक बात है, ख़रात ने मुझे 'धर्म छोड़ो' ऐसा कभी नहीं कहा। शायद यह भी एक कारण रहा हो, उनके धर्म के बारे में एक आकर्षण मुझमें बना रहा। आज कभी-कभी लगता है, मैं ईसाई क्यों नहीं बन गया ? जिस ज़िले मे मैं था, वहाँ असख्य अस्पृश्य लोग ईसाई बन चुके थे। लेकिन मेरे तालुके मे कोई भी ईसाई नही बना था।

इस सदर्भ मे अपने ही गाँव के महारवाडा की एक घटना याद आती है। उमाआजा के बारे में बताया था न मैंने। उसके बाप का नाम कडू था। मैंने उसे नहीं देखा। परन्तु कडू के बारे मे महारवाड़ा में लोग कई मज़ेदार बातें बताते हैं। यह कडू सिर्फ तीन फ़ुट का था। पगडी बाँधता। मूँछें तावदार। बजनियों की टोली मे वह सबल बहुत अच्छा बजाता। उसका सबल सुनने लोग दूर-दूर से आते। एक गांव से दूसरे गाँव जाते समय कोई भी उसे आसानी से कंधे पर उठाकर ले जाता। उसी का लड़का उमा। पर कडू की औरत बहुत हृष्ट-पुष्ट, किसी पठान-सी। मैंने इस बुढ़िया को देखा था। इन दोनों की गृहस्थी कैसे चलती होगी, यह प्रश्न सबको सताता। यह कडू एक बार रिश्तेदारों से मिलने बम्बई गया। वहाँ चर्च में जाकर उसने ईसाई धर्म की दीक्षा ली है, यह बात सारे गाँव तक पहुँच गयी। उसका कहना था कि 'मैंने सिर्फ़ पाव खाया।' बस, आसपास के चालीस गांवों के महार लोगों ने कडू को सजा देने के बजाय हमारे सारे गाँव याने महारवाडा का ही बहिष्कार किया। उन दिनों यही रिवाज था। हुक़्का-पानी बद। बेटी-रोटी बन्द। समाज के हाथो मे यह बहुत बड़ा हथियार था।

कडू के कारण हमारे गाँव का बहुत अपमान हुआ। हमारे गाँव की महार-मडली ने एक समारोह मे चालीस गाँवों के पंचों को एकत्रित देखकर उनके सामने पगड़ी रख दी। प्रायश्चित के रूप में नीम की पत्तियाँ चबानी पडी। कडवाहट का गुनाह जैसे सभी महारो ने ही किया था। दण्डस्वरूप चालीस गाँवों के महारों को भंडारा देने की शर्त मजूर की। गाँव का भंडारा अर्थात सभी लोगों को पक्का भोजन। यह भंडारा सम्पूर्ण इलाके में चर्चा का विषय था। इलाके के किस्से जावजीबुआ तन्मय होकर सुनाते।

मुझे लगता है कि इस बात का मुझ पर बचपन में ही बहुत गहरा प्रभाव रहा होगा और शायद इसीलिए मैं खरात को टालता रहा।

छात्रावास में खाने की मौज थी। इतना अच्छा भोजन ज़िंदगी मे पहली बार मिल रहा था। इसलिए मौज ही कह लीजिये। आठ-पंद्रह दिन में फ़ीस्ट होती। फ़ीस्ट बड़े मज़े की बात थी। लड्डू या जलेबी का भोजन। परन्तु छात्रावास में मटन न मिलता। मैं यहाँ मिठाइयाँ खा रहा हूँ और माँ-बहन घर पर बासी-सूखी रोटियों के टुकड़े तोड़ रहे होंगे...दिमाग़ में उथल-पुथल मच जाती। कई बार लगता कि बहन के लिए लोटे में एकाध लड्डू छिपा लूँ। परन्तु साहस न होता। झट चोरी का आरोप लग सकता था। पेटी-बस्ता लेकर घर जाने की छुट्टी हो जाती। माँ कभी-कभी लकड़ियों का गट्ठा बेचने छात्रावास में आती। सब लड़को के सामने मैं माँ से बात न करता। माँ के गट्ठा बेच लेने के बाद मैं दूर तक उसके पीछे भागता। उससे चोरी-छिपे बातें करता। यह सब बताते हुए आज मुझे खुद से ही शर्म आ रही है। शिक्षा से ऐसे सम्बन्ध भी क्या टूट सकते हैं?

छात्रावास की व्यवस्था बहुत अच्छी थी। लोकल बोर्ड की ओर से प्रत्येक लड़के के लिए बारह रुपये अनुदान मिलता। बाज़ार-हाट हम ही करते। रसीद सुपरिटेंडेंट को सौंपते। वर्ष के अन्त में हमारे अनुदान में से कुछ बचता तो वह हमें वापस कर दिया जाता। आज करीब-करीब सभी छात्रावासों मे यह पद्धति समाप्त हो गयी है। सरकारी पैसे को कितनी जगह हड़प लिया जाता है, इसे तो आज के संचालक ही जानें।

उन दिनों छात्रावास में हमें अनिवार्य रूप में खादी बुननी पड़ती। तकली पर सुबह-शाम सूत कातना पड़ता। दी गयी पूनी यदि कातकर वापस नही की तो भोजन बंद। इसी कपड़े से हमें खादी का पाजामा और कुरता भी मिलता। छात्रावास में सूत-कताई, तो स्कूल में कृषि-कार्य।

वार्षिक परीक्षा में कृषि-कार्य के लिए अंक दिये जाते। स्कूल के अध्ययन के बजाय इन्हीं कामों मे अधिक समय जाता। कृषि-कार्य का अर्थ यह नहीं था कि हम खेतों में जाकर काम करते। खेतों में मज़दूर काम करते। हम सिर्फ निरीक्षण करने जाते। फूल कितने, पौधे कितने? प्रयोग-पुस्तिका मे

उनके चित्र बनाते। कृषि-सम्बन्धी थियोरी के चार-पाँच सौ पन्ने भर जाते। फ़ाइनल में मैं कृषि-विषय लेकर पास हुआ था। परन्तु बाद के जीवन में सूत-कताई, कृषि-कार्य का तिल-मात्र भी कोई उपयोग न था। सारा ज्ञान अधूरा।

साइकिल चलाना मैं बड़ी ज़िद से सीख पाया। साइकिल किराये पर लेने के लिए पास में पैसे न होते। साप्ताहिक बाज़ार में रसीदें फाड़ने का काम करता। कमीशन मिलता। आश्चर्य होता। अपने पूर्वज चमड़ा फाड़ते थे और मैं रसीदें। तैरने का मामला भी कुछ इसी तरह का था। बोर्डिंग के पीछे नदी प्रवरा काफ़ी गहरी थी। वहाँ पानी का रंग काला होता। दोपहर में वहाँ तैरने जाते। गाँव के ऊपरी हिस्से की यह जगह थी। तैरते समय लगता, यहाँ मेरा स्नान करना चलता है पर महारवाड़ा का पनघट सबसे नीचे। मेरे यहाँ नहाने के कारण नीचे के सारे सवर्ण अपवित्र हो जायेंगे? मछुआरों के लड़के मज़े से नदी पार कर जाते। मुझसे इस तरह कभी संभव नहीं हुआ। किनारे पर ही डुबक-डुबक करता। काफ़ी दिनों तक विशाल भँवर-जाल को जबड़ा फैलाये देखता तो रोंगटे खड़े हो जाते। तंग आकर मैंने यह सब छोड़ दिया।

नदी के साथ एक बात और याद हो आयी। नदी के बहाव में एक गठरी बह रही थी। उसे सुपा[1] में रखा गया था। एक लड़का सपासप पानी चीरता हुआ वहाँ पहुँचता है और वह गठरी खींचकर किनारे लाता है। खोलते ही एक नन्ही चीख़ उभरती है। हम सब उसे घेरकर खड़े हो जाते हैं। गठरी में एक नवजात शिशु था। दरअसल वह आधुनिक कर्ण ही था। ख़बर गाँव पहुँचती है। घटना-स्थल पर पुलिस पहुँचती है। पचनामा होता है। नदी के ऊपरी हिस्से में जितने घर थे, वहाँ 'कुंती' की तलाश की जाती है। अंत में पीली पड़ी गोरी कुमारिका पकड़ी जाती है। उसकी डॉक्टरी जाँच होती है। बाज़ार-रास्ते में कचहरी तक भीड़ उसके साथ...पीछे से पब्लिक हूटें करती हुई। बाद में उसे सज़ा हुई बताते हैं।

ऐसी दैनिक घटनाओं का परिणाम भी मन पर बहुत गहरा होता।

1. छाज

बाक़ी लड़कों की तुलना में उस उम्र में भी मैं काफ़ी गम्भीर होता जा रहा था। चारों ओर की घटनाओं का आकलन न होता। परन्तु भीतर बड़ी घुटन महसूस होती। मराठी की कक्षा में बहुत तन्मय होकर कविता सुनता।

खांडगे नाम के मराठी शिक्षक थे। वे कविता पढ़ाते समय सब-कुछ भूलकर तन्मय हो जाते। कविता वे अपने मधुर कंठ से गाते भी। कभी-कभी मैं भाव-विभोर हो जाता। भीतर-ही-भीतर सिसकता रहता। तिलक की 'कितनी यह क्रूरता' (केवढ़े हे क्रौर्य), कुसुमाग्रज की 'अहि-नकुल' या 'ज़मीन-रेलगाड़ी'—ये कविताएँ विशेषकर अच्छी लगतीं। एकांत में इन्हें तार-सप्तक में गाता। विद्रोह और वेदना एक साथ उफान मारकर मन में उठते। बोर्डिंग की भीषण सच्चाई में शायद ये कविताएँ कुछ राहत पहुँचाती थीं।

बोर्डिंग के लड़कों को असली हाथ दिखाया तुकाराम शिरकाडे ने। उसकी स्कूल की पहली एंट्री याद आती है। धोती, सिर पर ज़री का साफ़ा। नया, कोरा कोट। उस पर हल्दी के दाग। उसी साल उसकी शादी हुई थी। उसकी पोशाक देखकर कक्षा में हँसी का फव्वारा फूट पड़ा। बोर्डिंग में यह दूसरा महार विद्यार्थी था। मुझे उस पर दया आयी। मैं उसे बोर्डिंग में होने वाली फ़ज़ीहत के बारे में बताता हूँ। पहले ही दिन जब वह भोजन के लिए हॉल में जाता है, तब मुछुआरों के लड़कों के साथ सटकर बड़े आराम से बैठता है। बोर्डिंग में तहलका मच जाता है। वैसे वह काफ़ी हृष्ट-पुष्ट था। उसकी नज़रें ललकारतीं। इस घटना को मैं बड़े कौतूहल से देखता हूँ। वह मुझे देखकर अलमस्त हँसी हँस देता है। उस दिन तुकाराम बाज़ी मार ले जाता है। मैं सोचता हूँ, तुकाराम-सा साहस मुझमें क्यों नहीं आया? अपनी बुजदिली पर शर्म आती है। तुकाराम के साहस से मैं आज सामना कर सकूँगा। उसके पिता बबई की टकसाल में काम करते थे। उन्होंने गाँव में अच्छी-खासी खेती-बाड़ी जमा रखी थी। तुकाराम के लिए बोर्डिंग के मुट्ठी-भर खाने का क्या महत्व था! तुकाराम अपना उपनाम श्रीखंडे बताता। शिरकाडे उपनाम उसे पसंद नहीं था। इस नाम के कारण

उसकी जाति स्पष्ट हो जाती है, यह उसका तर्क था।

तुकाराम की बात ही कुछ अलग थी। स्कूल की साप्ताहिक छुट्टी हुई कि वह घर भागता। वहाँ अभी-अभी सयानी हो रही उसकी पत्नी उसकी राह देखती होती। वापस आने पर अपनी पत्नी की सारी कथा का बखान करता। कभी-कभार उसका बाप बबई से आता। उसे नये कपड़े, मिठाई देता। बीच में तुकाराम फ़ेल हो जाता है। उसका बाप मेरे पास शिकायत करता है, "अरे, यह एक भी परीक्षा में पास नहीं हुआ। कम-से-कम घर में तो कुछ कुत्ते-बिल्ली पैदा करता।" बेटे के परीक्षा में फ़ेल होने के बजाय उसे पोता नहीं हुआ, इसी दुख से उसका चेहरा झुलसा हुआ था। बाप-बेटों पर बड़ी हँसी आती।

तीज-त्योहारों में मामा के गाँव औरंगपुर जाता। वह गाँव तालुके से दो मील पर था। रास्ते के दोनों ओर वट-वृक्ष की घनी छाया। घूमते-घूमते जाता। रास्ता छोड़कर पगडंडी से चलने लगता तो चारों ओर किसानों की बाड़ी लगती। मोट[1] के चक्कों से आती हुई, कुई-कुई आवाज। बीच राह में यदि प्यास लग जाती तो बाड़ी में जाकर पानी पीने की हिम्मत न होती। मुझे अपने गाँव से औरंगपुर बड़ा अच्छा लगता। सारे घर कतारों में। महारवाड़ी भी साफ़-सुथरी। यह गाँव औरंगज़ेब बादशाह ने पटेल की विधवा बहू को बहन मानकर दान में दे दिया था, इसी तरह की कुछ कथा प्रचलित थी। वैसे मामा का घर बहुत छोटा। भीतर घुसते समय चौखट सिर से टकराती। खपरैलों के नीचे बहुत पहले रखा बीम। उससे काले-काले गुच्छे नीचे गिरते। मामा के घर के सामने उनके बहुत पुराने घर के अवशेष दिखायी पड़ते। यह अभिशप्त घर है, यह मानकर उसे वे नया नहीं बनाते। उलटे यह घोंसले-सा घर उन्हें पसंद था। उस खँडहर के बारे में उनके घर में कई तरह की बातें प्रचलित थीं। वहाँ एक काला नाग घूमता है, यह भी एक बात होती। 'उस खँडहर के नीचे बहुत बड़ा गुप्तधन है, तुम्हारे नाना ने रखा है', ऐसा मुझे हमेशा बताया जाता। माँ जब छोटी थी,

---

1. [illegible]

तभी नाना मर चुके थे। नाना डाकुओं और भीलों की टोली में थे। उन्होंने अपने अंतिम दिनों में काफी माया जोड़ ली थी और वह सब उन्होंने उस खेंडहर के नीचे गाड़ दी है, ऐसा मामा और नानी बताते। रात मे जब सोता तो नाग सपनो मे आता। ऐसे समय नाना के गाड़े गये धन के बजाय उनकी छिपायी बंदूक और तलवारो का आकर्षण मन मे जागता। नीद में ये सारी चीजें मेरे हाथों मे आ जाती। बोर्डिंग के मछुआरे लड़कों के साथ घमासान युद्ध करता रहता हूँ। उसमे मैं जीतता हूँ—सपने मे यही सब होता।

नानाजी यानी माँ के पिता तानाजी बबई की एक गोदी मे काम करते थे। जब हम बंबई में थे, तब माँ से कई बार मिलने आये। पिताजी उन दिनों गोदी में ही काम पर थे। उस समय नयी भरती हेतु बिल्ले मिलते। ऐसा ही एक बिल्ला पिताजी ने अपने ससुर को दिया। इसी बिल्ले के कारण नानाजी की नौकरी लगी। उनके नौकरी के समय बंबई में उन्ही के संदर्भ में एक हादसा हुआ। कामगारों को जल्दी 'जातू' न करते। उनकी रिट्रेंच-मेंट होती। उसी समय नानाजी की बारी आयी। पिताजी क्या करें? उन्होने उनके अँगूठे पर जान-बूझकर एक लोहे की सलाख दे मारी। नाना के अँगूठे से खून की धार फूट पड़ी। इस कारण नाना मेडिकल छुट्टी पर जाते हैं। वे बहाना बनाते है कि काम करते समय चोट लग गयी। पिताजी की चालाकी के कारण नानाजी की नौकरी बच गयी, इस बात का नानाजी हमेशा बड़े गर्व से उल्लेख करते। वैसे एक बार उन्होने पिताजी को जेल जाने से बचाकर अपने ऊपर किये अहसानो का बदला चुका दिया।

नाना कभी-कभी बंबई से आते। उनका सारा ध्यान गाँव के लोगों की ओर। जमीन पर उन्होने बबई की सारी आय लगा दी। काली मिट्टी वाली जमीन खरीदी गयी। नियमित मनीआर्डर भेजते। बबई में बड़ी तकलीफ मे दिन काटते। उनका रग गहरा काला था। उनकी पोशाक भी बड़ी मजेदार थी। घुटनो तक धोती। सिर पर काली टोपी। गाँव में एक-दो दिन के लिए आते तो सब उन्हे थोडा-थोड़ा काटते। बुढ़ापे में भी पत्नी सामने न आती। ऐसा कुछ चलन ही बन गया था। पर मैं उनकी खूब हँसी उड़ाता।

मुझ पर वे कभी नाराज न होते। मैं उन्हें कहता, "बाबा, इतना कमाते हो, एकाध वुलन का कोट क्यों नही ख़रीद लेते ?" बुढ़ऊ हँसते रहते। तबाकू का शौक़ छोडकर उन्हें किसी प्रकार का कोई शौक न था। बवई जाते समय बेटे के हाथ पर एक आना रख देते। यही हिसाब उनकी शादी-शुदा बेटी के बारे मे भी। उनके पीछे उनकी कंजूसी की हँसी उडायी जाती।

उनका अंत बहुत दुखद था। दस-बारह साल पहले की बात होगी। उन दिनों मैं सायन मे रेलवे क्वाटर्स में रहता था। उपकिरायेदार था। बुढऊ हमारे घर भोजन के लिए आया। सायन में बिल्डिग के नीचे से ही रेलवे लाइन गयी है। फेंसिग लाँघकर पैदल जाने वालो की दुर्घटना में मौत हो जाती। बुढऊ हमेशा सलाह देता—"रास्ता लंबा रहा तो चलेगा, पर पटरियाँ लाँघकर कभी मत जाना।" मैं नंदी बैल-सा सिर हिलाता। बुढऊ को भोजन के बाद चाय की तलब लगती। वह स्टेशन पर चाय पीने जाता। एक रात चाय पीने के लिए जाते समय रेलवे के बफर ने उसे उडा दिया। दुर्घटना-स्थल पर जब मैं गया तो ख़ून की एक बूंद भी नही दिखी। सिर्फ धक्का लगने मात्र से उनका काम तमाम हो गया था। मुझे नियमित 'पटरी लाँघकर मत जाना' कहने वाला नाना स्वयं पटरियाँ लाँघकर निकल गया...!

नाना की मृत-देह कॉरानेर से लाने मुझे ही जाना पडता है। मैं ही बबई में उसका वारिस था। पचनामे में बुढऊ के कपड़े, तंबाकू की थैली का जिक्र रहता है। बुढऊ के पास पैसे भी होगे, इसका अदाज पुलिस को न था। मैं रेलवे पुलिस-स्टेशन में उस थैले की चोर जेब से कुछ नोट निकालकर दिखाता हूँ। तब पुलिस भी चकरा जाती है। गाँव से मामा-नानी के आने तक बॉडी रखना तकलीफ़देह था। बुढ़ऊ की पहचान के लिए मुझे कोल्डरूम में जाना पडता है। वहाँ नग-धड़ग लाशो का अबार लगा था। उस कोल्डरूम की दमघोटू दुर्गंध। पल-भर रुकना असभव था। बुढऊ की लाश पहचानना कठिन न था। मैं ही उस रात उसे अग्नि देता हूँ।

दूसरे दिन मामा और नानी आते है। तब तक सब कुछ समाप्त हो चुका होता है। पिताजी के फड और सर्विस के पैसों के लिए वे गोदी में जाते है। शाम को वे ढेर सारा बाजार-हाट कर घर लौटते हैं। मामा के शरीर

पर नया कोरा शर्ट झलकता है। नानी-मामी के लिए नयी साडियाँ लायी जाती हैं। मामा खुलासा करता है। गोदी के कामगारों ने चंदा कर कुछ पैसे दिये थे। मैं यह सुनकर अवाक रह गया। सारी जिंदगी मजदूरी करने वाले बाप के कल मरते ही मामा को यह बाजार-हाट क्या सूझ गया? मेरे गले यह बात नही उतर रही थी। आदमी कितना रहस्यमय है, यह बात उस रात मेरे मन में बडी गहराई तक छाप डालती रही। व्यक्ति के इस प्रकार के व्यवहार के लिए कुछ कारण तो होने ही चाहिए, यह सोचते-सोचते मेरा दिमाग थक गया। बुढऊ की बडी मेहनत से जमा पूँजी मामा ने एक-दो साल में ही फूँक दी। मामा को मेहनत की आदत न थी। बबई के मनिआर्डर पर मज़े से दिन काटने की उनकी आदत थी। दो-तीन सालों में मामा ज़मीन का एक-एक टुकडा बेचने लगे। स्थितियों ने उन्हें दयनीय बना दिया। आज मामा बबई में पेट-पानी तक ही मज़दूरी पाते हैं। सारे परिवार को लेकर वे बबई आ गये हैं। उसमें बाल-बच्चों की फ़ौज। किसी समय हाथी-से दिखने वाले मामा आज गन्ने की सीठी-से निचुड़ गये हैं। उनका दुख देखा नहीं जाता।

हाँ, तो मैं औरंगपुर की बात बता रहा था। मामा के घर के सामने राणूजी का घर था। इसी घर की मेरी दादी अर्थात पिताजी की माँ। इसी घर में दादी जन्मी थी। माँ और दादी एक ही गाँव की। उनके ननिहाल का उपनाम भी एक ही—कसबे। इस बात का मुझे आश्चर्य होता। राणूजी बड़ा करारा बूढा था। गठिया की पीडा से बेज़ार। परन्तु ज़ुबान उस तकलीफ़ में भी बडी तेज़। हम पर उनका बडा स्नेह था। उस घर जाने की तीव्र इच्छा होती। वैसे राणू बहुत गरीब था। मकान बनाने का काम करता और बाल-बच्चों का पोषण करता। परन्तु मामा और राणू दादा का आपस में बड़ा बैर था। वैसे तो भाई-चारे की बात थी। एक ही वंश-बेल से बढ़े। परन्तु अब शाखाएँ अलग-अलग थीं। उनकी दुश्मनी चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी।

राणू दादा का एक रिश्तेदार विढा में रहता था। वह जागती जोत

का भगत है। टोना कर आदमी मारता है। वह हमारे घर पर टोना करता है—इस डर से मामा के घर के सभी लोग सहमे हुए थे। मामा की सास वाशेरे गांव की थी। उसके कोई बाल-बच्चा न था। बाद में मामी को काफ़ी लडके हुए। परन्तु उसका गर्भ गिर जाता है; इसके लिए विढा का 'भगत' ही कारणी भूत है—यह गलतफ़हमी मामा की सास ने चारों तरफ़ फैला दी। मामा की सास में देवी प्रवेश करती। रात हुई, भोजन-पानी हुआ कि मामा की सास मे देवी का संचार होता। माथे पर चांदी के रुपये बराबर लाल-भड़क सिंदूर। खुले बाल वाली यह औरत जब रात में घूमती, तब मेरे भी प्राण थर्राने लगते। उसके सामने रिंगण भरना, मुर्गी का उतारा, तीन मार्गों में जाकर डालना पडता। यह कार्यक्रम सतत चलता रहता।

ऐसी ही एक बरसाती रात याद है। बाहर धुआंधार बारिश। बिजली की गड़गडाहट। आंखों में अँगुली ठूंसने पर भी बाहर का कुछ न सूझता। उस रात विढ़ा के भगत की ओर से मूठ आने वाली है, ऐसा देवी जाहिर कर देती है। सारे घर मे चिंता। मूठ कैसी होती है, इस उत्सुकता से मैं भी जाग रहा था। अपने प्राण मुट्ठियों में कसकर ! अब मूठ आयेगी और घर के किसी भी व्यक्ति को खून की उलटी होगी—इस डर से सारे ठंडे पड़ गये। कब नींद लगी, पता नहीं। सुबह उठकर देखता हूँ तो सामने की दीवार ढह चुकी थी। देवी के ही कारण मूठ किसी व्यक्ति को नहीं लगी। सारी बला दीवार से टकराकर निकल गयी, यह समझकर सब चैन की सांस लेने लगे। परन्तु मेरे बाल-मन में एक सवाल उठता रहा कि यह दीवार मूठ के कारण ढही या धुआंधार बारिश के कारण ? नीबुओं में पिन चुभाई गयी। ऐसे पिन-चुभोए नीबू हवा में भरते हुए आते हैं और आदमी के प्राण उड़ा ले जाते हैं, यह बात धीरे-धीरे मुझे हास्यास्पद लगने लगी।

मामा के घर की मानसिकता से एकदम विपरीत मानसिकता राणू दादा के घर की। राणूजी तालुके की आवाज उठाने वाला आदमी। आप सभाओं में उठता और अच्छे-अच्छों की बोलती बंद कर देता। अंबेडकर आंदोलन में सुलकर भाग लेता। परन्तु अपने बच्चों को वह पढ़ाना चाहता था। उसने अपने बेटे का नाम रावसाहब रखा। यही रावसाहब कसबे के नाम

से जाना जाता—चिंतक। अनजाने ही उसने अपने पिता का यह गुण धारण कर लिया। फ़िलहाल वह संगमनेर कॉलिज में प्राध्यापक है।

राणूजी के घर में ख़ानदानी देवी का एक स्थान है। घर में देवी की पूजा कोई न करता, पर तीज-त्योहार मे मराठा स्त्रियां देवी की पूजा के लिए आती। देवी के सामने परात-भर नैवेद्य जमा होता। रावसाहब के बचपन का एक मजेदार किस्सा याद आ रहा है। वह उस समय तालुके मे पढ़ने जाता। इस समय उसके सारे शरीर में खुजली थी। 'घर की देवी का कोप है, इसलिए तुम्हें खुजली हुई,' गांव वाले उसे चिढ़ाते। वित्ते भर का लड़का। मन मे क्या आया, पता नही। गँडासा लिया और देवी खोद डाली। सिंदूर-लगा पत्थर ज़मीन में गहरा गड़ा था। आक्रोश में उसे खोदकर कचरे के ढेर मे फेंक आया। सारा गांव मुंह मे अँगुली दबाये यह सब देख रहा था। अलबत्ता राणूजी भीतर-ही-भीतर मुसकरा रहा था। अब देवी इनके घर के बारह बजायेगी, इस तरह की फुसफुसाहट गांववाले करते। परन्तु इतने सालों से मैं देख रहा हूं, उस घर की समृद्धि बढ़ रही है। भौतिक तो कम, पर ज्ञान-वृक्ष की शाखाएँ ख़ूब फैल रही है।

औरंगपुर में मुझ पर बहुत बुरा समय आया था। छठी का दूध याद आ गया था। बात ऐसी हुई कि मैं छुट्टियों में मामा के घर आया। मारुति के मंदिर के पास बहुत भीड थी, इसलिए मंदिर की ओर गया। वहाँ देखता हूँ कि एक आदमी जूता लेकर मारुति की ओर दौड़ रहा है। उसे मां-बहन की गालियाँ बकता है। 'तू यदि जागृत देवता होगा तो अपना अस्तित्व बतायेगा।' इस तरह भगवान से ऊँची आवाज मे लड रहा है। सारे लोग उसे पागल क़रार देते है। उसके दिमाग का सतुलन कुछ बिगड़ गया था। परन्तु वह जो कुछ भी कह रहा था, मुझे सही लग रहा था। क्षण-भर मैं सोचता हूँ। गाँववाले जब इतना सह लेते है तो मेरे मंदिर-प्रवेश से कौन आकाश टूटकर गिर पड़ेगा? मैं मंदिर की भीड में घुस जाता हूँ। वैसे अब तक मैं वहाँ नही गया था। कुछ सीढियां चढ़कर ऊपर बैठ जाता हूँ। एक व्यक्ति को मुझ पर शक होता है। पूछता है, "तू किसका है रे?" मैं जवाब देता हूँ, 'कसबे के यहाँ आया हूँ, वे मेरे मामा लगते हैं।"

मराठा सीधे गाली पर उतर आता है, "तेरी माँ की...भगवान अपवित्र कर डाला न !" मेरी ओर सबका ध्यान आकर्षित होता है। भगवान को जूते मारने वाले को छोड दिया जाता है और सब मुझे चारों ओर से पीटने लगते हैं। मेरी अक्ल ठिकाने लग जाती है। मैं उस आदमी को खोजने लगता हूँ, जो थोड़ी देर पहले भगवान को गाली दे रहा था। ऐसा लग रहा था कि कम-से-कम वह इस संकट से मुझे बचा सकेगा। पर नानी आती है और तब कहीं मेरी मुक्ति होती है।

कई दिनों बाद मालूम होता है कि भगवान को गाली देने वाला सत्य-शोधक समाज का कार्यकर्ता था। वैसे मारुति के मंदिर के लिए जमीन महारवाडा के ही खडू मुकादम ने दी थी। महारवाड़ा के लोगों ने भी मेहनत की थी। पर जिस दिन मूर्ति की स्थापना हुई, उसी दिन से महार-माँगों को भगवान से वंचित कर दिया जाता है।

औरंगपुर की महार-मंडली द्वारा पानी के लिए किया गया संघर्ष बहुत ही लोमहर्षक है। उन दिनों 'एक गाँव एक पनघट' जैसी कोई बात नहीं थी। परन्तु महार के पानी का संघर्ष कान पर आया होगा। साथ ही उनकी आवश्यकता के लिए यह विवाद छेड़ा गया। महार लोग बरसात में नाले का ही पानी पीते। नाला भी आधे मील पर था। गर्मी में नाला सूख जाता। उस समय उनकी बडी दुर्दशा होती। मारुति के मंदिर के पास गाँव का ठंडे पानी का कुँआ था। उस पर निरंतर घिर्री घूमती रहती। महार-माँग स्त्रियाँ घंटों तक बालटी-भर पानी के लिए राह देखती रहती। किसी को दया आती तो एकाध बालटी डाल देता। वैसे कानून महारों के पक्ष में था। उन्होंने कोर्ट में आवेदन-निवेदन करके देखा, पर सरकार नहीं पिघली। अंत में सब संगठित हुए और अपनी बालटी कुँए में डाल दी। स्त्रियाँ कमर कसकर सबसे आगे। गाँव में खलबली मची। संपूर्ण गाँव के लिए एक अलग हौद की कल्पना सामने आयी। "परन्तु हमें अलग नल नहीं चाहिए, हम गाँव के ही कुँए पर पानी भरेंगे।" यह ज़िद महार-मंडली ने नहीं छोड़ी। अंत में पंचायत बैठी। महार-मंडली को उसी कुँए में अलग घिर्री लगाने

की अनुमति दी गयी। है न अजीबोग़रीब बात ! नीचे कुंए में मराठों और महारों की बालटियाँ आपस में मिल जाती परन्तु एक ही घिर्री में रहने से उनकी जाति के अहंकार को ठेस लगती। आज भी आपको वहाँ अलग-अलग घिर्रियाँ मिलेंगी।

ज़िंदगी में पहली बार मैंने 'बोहडा' वहीं देखा। होली प्रज्ज्वलित होने के बाद यह खेल खेला जाता। यह नाचने का एक प्रकार है। रामायण-महाभारत के पात्र सजकर आते। मुंह पर बड़े-बड़े मुखौटे और पीठ पर मोर-पखों के समूह। नाचने वालों के हाथ पंखों से बँधे होते और कुछेक लोगों के हाथो में शस्त्र। नाचने वालों के पैरों में घुँघरू। 'नाच गणपति, सारजा आते है'—यह गाने का मुखड़ा होता। साथ में बजनियों की टीम या माँगों के डफ, शहनाई। गाने की एक ही तर्ज़। जो रावण के वेश में गाता, गाँव में उसका बड़ा सम्मान। उसे दस सिर लेकर नाचना पड़ता। इसके लिए अच्छा-खासा अनुदान देना पडता। महार लडकों का इस खेल में प्रवेश मना था। विचित्र, विशाल, लाल खूनी रंग की लपलपाती जीभ, अजस्र मुँह और चमकते हथियार—इस तरह के 'बोहडा' का मन पर प्रतिबिंब साकार हो गया। पिछले दिनों कालीकट में जब गया था तो इसी बोहडा की संशोधित आवृत्ति देख पाया। यह सब आर्यों का दिग्विजय इतिहास। भूमि पदाक्रांत करने वाला। बीसवीं सदी मे भी उसके अवशेष इस तरह बचे रहे हैं।

एक बात बताना भूल गया। मैं औरंगपुर का दामाद बनने वाला था। वैसे यह सारा गाँव ही मामा का था। इसलिए वहाँ जाने पर 'जवाई आया' कहकर स्त्रियाँ चिढ़ाती। खंडू मुकादम की एक विवाह-योग्य कन्या थी। काली-साँवली, सुगठित। खंडू मुकादम का घराना वैसे संपन्न था। घर में दूध-घी की बहुतायत। अँग्रेज़ी खपरैलों का अच्छा घर। ज़मीन-जुमला भी अच्छा। ये मुकादम गोदी में माल ढोने के ठेकेदार थे। उस ज़माने में उन्होंने इस धंधे से अच्छी-खासी माया जोड़ ली थी। उनकी पठान-सी पत्नी पारू तो सोने से लदी थी।

गाँव जाने के बाद मुझे ख़ास-तौर पर चाय के लिए बुलाते। बचपन में उनके आँगन में मुझे कुत्ते ने काट लिया था। तब मेरी आवाज बारीक थी। पारूबाई उसकी नक़ल कर मुझे चिढ़ाती। ऐसे समय ऊँची नौ-गजी साड़ी का बोंगा संभालते उसकी लड़की मेरे आसपास होती। वह खिद्-से हँसती। अपनी हमउम्र लड़कियों को मेरे बारे में कुछ इधर-उधर की बातें बताती। पर मैं उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखता। उनके घर में भी सबकी इच्छा थी कि मैं यही शादी करूँ। मेरे मन मे उस उम्र में भी धनवान लोगों के प्रति हद दर्जे तक तुच्छता के ही भाव थे। हमेशा लगता, वे होंगे सपन्न, पर हम भी न बिकें। साथ ही ऐसी काली पत्नी मेरे विचारों के बाहर थी। गोरी लड़कियों के सपने आते। एक ही सपना था कि बच्चे बनिए-ब्राह्मणों-से हों। परन्तु उनके वैभव का प्रभाव अंत तक न था। लड़की का भाई वैसे कर्ता-धर्ता। वह शिक्षा की खिल्ली उड़ाता। कहता, "पढा-लिखा दामाद हमारे घर अनाज के बोरे गिनेगा क्या?" इन सभी बातों के कारण मेरे दिमाग़ मे असंतोष घुल जाता। एक बार पारू की लड़की ने कुत्ते के पिल्ले को लात से उठा दिया। वह कें-कें करता भाग गया। मैं यूँ ही तिलमिला उठा। कल अपनी हालत भी इससे अलग क्या होगी! मेरी दादी को यह रिश्ता पसंद न था। उसका भांजा दूसरों के घर ठहरे, यह बात उन्हें पसद न थी। और मामा की लड़की तो बिल्लस-भर की थी। उनकी इस तरह दुर्दशा हुई। ऐसी है जवाई-कथा।

बंबई भूलना वैसे भी संभव न था। यह शहर मुझे मुक्ति का शहर लगता। पिताजी चले गये थे, फिर भी कावाख़ाने में तात्या तो थे ही। कभी-कभी छुट्टियों मे मैं उनसे मिलने जाता और वे आबोहवा बदलने गाँव आते। वे जब आते, तब उनके साथ चाची-दादी भी आती। तात्या की यह दूसरी शादी! चाची दिखने में बड़ी सुन्दर। जब वे गाँव आतीं, तब उनके शरीर पर जरी किनारे वाली कीमती साड़ी रहती। बजरटीक, नथ—इतने सोने के गहने होते। पैरों में चाँदी की बिछिया। सारा गाँव टकटकी लगाये देखता रहता।

गाँव आने पर चाची मेहमानों-सी बैठी रहती। हमारा पक्ष कमजोर था।

माँ सारी तकलीफ़ें उठाती। माँ फटी-पुरानी साड़ी में। चेहरे पर लाचारी। सफ़ेद फीका माथा स्पष्ट दिखता। न जाने क्यों, मेरे मन मे उथल-पुथल होती। माँ को गले में फोड़े का रोग हुआ था। एक गाँठ फूटकर ठीक न होती कि दूसरी फूटती। गाँठ फोड़े-सी ही ठोस। उसके सारे शरीर मे त्राहि-त्राहि मची थी। परन्तु बंबई वाली चाची को काम करने के लिए कौन कहता? भीतर-ही-भीतर मेरा आक्रोश घुटता रहता। अपने शरीर का दर्द छिपाकर माँ हमेशा चलती-फिरती रहती।

तात्या भी जब गाँव आते तो बड़े रौब से आते। वुलन का महँगा कोट, चमकदार जूते। सलीके से पीछे मुड़ते बाल। तात्या हीरो लगते। उनके संदर्भ मे एक घटना याद है। अगस्ती की यात्रा मे हम सब गये थे। महार-कुंड के पास हम सबने डेरा जमाया। इसी समय एक काली-साँवली महिला, जहाँ हम बैठे थे, वहाँ का लगातार चक्कर लगा रही थी। माँ उस औरत को पहचान लेती है। वह तात्या की पहली पत्नी थी जिसे उन्होंने छोड दिया था। तात्या को क्या महसूस हुआ होगा, पता नहीं। वे एक झटके के साथ उठते है। सामने गन्ने की गाडी थी। उस गाडी से एक लंबा गन्ना खीचते हैं और उस महिला को ढोर-जानवर-सा पीटने लगते हैं। यात्रा मे आये लोग उसे बचाते हैं। शायद तात्या के अहंकार पर उसने प्रहार किया हो। एक तो परित्यक्ता और फिर उनके साथ इस तरह पेश आये, शायद उन्हें इसी पर क्रोध आया हो। बाई को अच्छा सबक सिखाया, चारो ओर यही राय थी। मैं उस परित्यक्ता चाची के बारे में काफ़ी देर तक सोचता हूँ। चाची ने मेरे दिल का कोना अवश्य जीत लिया था। इतना अपनापन इस चाची के बारे में क्यों नही लगता?

यदि इस घटना को छोड़ दिया जाये तो चाचा बहुत बड़े दिल के व्यक्ति थे। हम पर उनका विशेप ध्यान। हमारे फटे आकाश को वे काफ़ी कुछ जोड़ देते। वे जब भी आते, बहन और मेरे लिए नये कपडे लाते। एक बार तो उन्होने नयी चप्पल ख़रीद दी, जो मैंने उसी दिन खो दी। किसी प्रकार का गुस्सा किये बिना दूसरी ख़रीद दी। बंबई का खजूर और पाव मिलता ही। चाय के साथ पाव-कड़े टोस्ट खाने का अपना आनंद! उनके साथ बंबई का बाज़ार-हाट रहता। उसमें सूखी हुई बोंबील मछली विशेष

रूप से मिलती। उनके आने पर गोश्त पकता ही था। तालुके से बकरे का मटन लाया जाता या मुर्गे का शोरबा मिलता। हर साल तात्या कब आते है, यही सोचते हम बंबई की ओर आंख लगाये रहते।

दीवाली की छुट्टियों में हम बम्बई जाते। लेकिन जाते समय मन ज्यों कैंची मे फँसा हुआ। चाची को हमारा बम्बई आना पसन्द न था। वह द्वेष करती। पर माँ अकसर बम्बई ढकेल ही देती। एक तो बम्बई जाने के बाद वर्ष-भर के लिए एक-दो जोड़ी कपड़े मिल जाते, साथ ही पुस्तकों के लिए पैसे भी। मेरे जाने पर चाची बहुत उलटा-सीधा बोलती। तात्या को कहती, "ये बड़ा होने के बाद मुँह पर मूतने भी नहीं आयेगा!" मैं इस तेज आघात से जख्मी हो जाता। एकात मे जा कर ढोर की तरह रोने की इच्छा होती। आज जब मैं चाची की बातो के बारे मे सोचता हूँ तो मुझे उस पर गुस्सा नही आता। आज मैं विधवा चाची का और उसके लडके का कितना ध्यान रखता हूँ? अपना ही ससार सभालते-सभालते साँस फूल जाती है। पिछली पीढ़ियो से यह कैसे सभव हो पाया? आज रिश्ते के सारे सिलसिले टूट चुके है। मेरे पिताजी और तात्या के बीच जो प्रेम-भाव अत तक था, उतना आज मेरे चचेरे भाई और मेरे बीच नही है। हमारे बीच में दीवारें किसने खड़ी की हैं?

गाँव के एक मराठे के साथ एक बार मैं बम्बई गया। इसका बम्बई में कलई का धंधा था। नाम था विठोबा। गले में विठोबा की माला। माथे पर तिलक, टीका। बम्बई में परेल मे संगप्पा की चाल मे रहता था। गाँव के सारे मराठे इसी इलाके में रहते थे। यह विठोबा मुझे कारखाने में तात्या के घर छोड़ने वाला था। सुबह-सुबह हम संगप्पा की चाल मे जाते हैं। वह मुझे महार का लड़का होने के कारण घर में घुसने नहीं देता। मैं बाहर ही नल पर मुँह धोता हूँ। बाहर चाल के कोने में बैठ जाता हूँ। धीरे-धीरे धूप चढ़ने लगती है। वहीं मुझे थाली में भोजन दिया जाता है। मेरे दिमाग मे एक बात कौंधती है। अब विठोबा की औरत यह थाली आग मे पवित्र करेगी। थाली अपवित्र हो गयी थी न! नीचे गरदन डालकर मैं भोजन कर रहा था। कब कारखाने पहुँचूंगा, बस यही एक ख्याल। बम्बई के

टेढ़े नल का पानी पीने के बाद भी विठोबा नहीं बदला था, इस बात पर मुझे आश्चर्य हो रहा था।

वैसे कावाख़ाना बहुत बदल चुका है। बचपन में मन पर खोदा गया कावाख़ाना याद है। पहले कावाख़ाने के बाहर लकड़ी का एक बड़ा दरवाज़ा था। किसी क़िले के समान दरवाज़े में लोहे की कीलें। रात में बंद हो जाता। भीतर आने-जाने के लिए एक छोटा उप-दरवाज़ा। इस दरवाजे का कावाख़ाने के लिए बहुत उपयोग होता। मैं जब छोटा था, तब हिन्दू-मुसलमानों के कई दंगे मैंने देखे थे।

कभी-कभी कर्फ़्यू जारी रहता। कभी कोई बाहर जाता तो कब कहाँ से गोली आयेगी, किसी को अंदाज़ न होता। दंगा होने पर यह दरवाज़ा सदैव बंद। हम छोटे बच्चे हमेशा भीतर-बाहर होते रहते। हम फुर्र से बाहर हो जाते। इस छोटे दरवाज़े से हमने भयानक मारधाड़ देखी है। सामने ईरानी होटल की कुर्सियों की फेंकफाक, बरनियाँ, सोडा-वाटर की बोतलों की बारिश। ख़ून की बूँदें सहज खेलने लगती।

एक थ्रिल-भरी मारधाड़ आज भी याद है। एक मामूली युवक को चार-पाँच गुंडों ने घेर लिया। उनके हाथों में खुले चाकुओं की चमकती पातें। लगता, अब इसकी सारी अंतड़ियाँ बाहर आ जायेंगी। क्षण-भर सबने साँस रोक ली। विद्युत गति से वह युवक उनका व्यूह तोड़कर सामने खड़े विक्टोरिया बग्घी का लम्बा चाबुक खींचता है और सपासप चार-पाँच को चाबुक से छील डालता है। उनके गाल फट गये थे। ख़ून का छिड़काव हो रहा था। उनके हाथों के चाकू कुछ न कर सके।

ऐसी ही एक बचपन की घटना। हृदय में बसी हुई। पेट में छुरा घोंपा हुआ एक आदमी मैंने देखा। वह छोटे दरवाज़े से भीतर घुसने की जब कोशिश कर रहा था, तभी किसी ने उसका प्यादा बाहर निकाल दिया। वैसे मैं बहुत छोटा था। कुतूहलवश यह सनसनाहट-भरा दृश्य देखते खड़ा था। किसी रस्सी का बंडल बाहर गिर रहा हो, ठीक उसी तरह मैंने उसकी अंतड़ियाँ बाहर निकलते देखी। पीछे से किसी ने मुझे टप्पू मारा, तब कहीं जाकर मैं भीतर भागा।

तो मैं बता रहा था। बदला हुआ कावाख़ाना। अब वहाँ दरवाजा नहीं है, सिर्फ चौखट बाकी थी। यहूदी-गोरे गाजर-से साहब अब कावाखाने में कावा पीते नहीं दिखते। इंडियन काले साहबों ने उनकी जगह ले ली है। ताश या बिलियर्ड जैसे हुनर के खेल पहले देशी लोग दूर से ही देखते रहते। अब वे इस खेल में निपुण लगते हैं। पहले बिलियर्ड दरवाज़ों की दरारों से देखना हमारा आकर्षण था। रंग-बिरंगे चमकदार गेंद वे कैसे कोने के होल में अधर सरका देते हैं ! इसका हमें आश्चर्य होता। अब इस खेल में किसी को भी चाव न था। कावाखाने में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ था और वहाँ दारू-अड्डा, सट्टा-बेटिंग—इसमें भी खूब उफान आया था।

सट्टा-बेटिंग से चंदर याद आया। यह चंदर मुझसे उम्र में दो-चार साल बड़ा रहा होगा। माँ की ननिहाल का। चौथी-पाँचवीं तक पढ़ा, परन्तु इसका व्यावहारिक ज्ञान अफ़लातून। घर में विधवा माँ, दो छोटे भाई-बहन। माँ बँगलों में बर्तन माँजती, कपड़े धोती, पर इतने से कैसे चलता ? परिस्थितिवश चंदर सट्टा-बेटिंग खेलता। एक बड़े सेठ के यहाँ काम करता। चंदर के हाथों में हमेशा पैसा खेलता रहता। बम्बई आने पर मैं इसके साथ घंटों घूमता रहता। वह अपने पैसों से सिनेमा दिखाता। होटलों में शानदार खाना खिलाता। मैं पढ़ रहा हूँ, इस बात का उसकी दृष्टि में काफ़ी महत्व था।

सट्टा-बेटिंग के बारे मुझे विशेष मालूम न था। परन्तु उन दिनों अमेरिका में कॉटन मार्केट से भाव बाहर आया कि इधर भी आँकड़ा फूटता, ऐसा ही कुछ बोला जाता। ओपन-क्लोज़-मेंढी, कुछ इसी तरह के शब्द कानों में पड़ते। एक रुपये के नौ रुपये मिलते। यही ओपन का आँकड़ा। क्लोज में घुमाया कि बड़ी रकम हाथ लगती। बड़े-बूढ़े भी इस खेल के शिकार।

एक बार चंदर बेटिंग लेते पकड़ा गया। पंचनामे के समय उसने पेंसिल बड़ी सफाई से बदल दी। कॉपिंग-पेंसिल की जगह सादी पेंसिल पंचनामे के समय रखी। कोर्ट में उसने अपना बचाव स्वयं किया। बेटिंग में जो कुछ लिखा है, वह उसने नहीं लिखा, यह सिद्ध हो गया। ऐसे चालाक दिमाग का चंदर ! हमको उसके चालाक दिमाग का हमेशा कुतूहल रहता।

बाद मे वह दीवारों पर आंकड़े लिखा करता। दीवार कोर्ट मे ले जाना संभव न था।

चंदर सिर्फ़ सट्टा-बेटिंग के लिए ही प्रसिद्ध नही था। उसके हाथों मे जादू था। देखते-देखते वह रंग-बिरंगी चॉक और कोयले की सहायता से रात में सब के सो जाने पर सड़कों पर, फुटपाथों पर चित्र बनाता। इन चित्रों का ढेर लगा देता। अँग्रेज़ी भाषा न आती, फिर भी अँग्रेज़ी फ़िल्में देखने का मोह न टाल पाता। इसलिए चित्र बनाते समय अँग्रेज़ी चित्रपट के हीरो-हीरोइन होते। कभी सिनेमा के पोस्टर्स रँगता। यह बडा चित्रकार बनेगा, ऐसा लगता था। जब मैं बम्बई नौकरी के सिलसिले मे आया, तब की बात है। पूरे महाराष्ट्र में उस समय भीम-ज्योति घुमायी गयी। इस भीम-ज्योति के साथ बाबासाहब का एक बडा तैलचित्र था। वह चदर ने ही बनाया था। मैं ही उसे पार्टी ऑफ़िस मे ले जाता हूँ। आज चदर मिलता है। हाथ में बोरे की एक लम्बी थैली। उसमे छेनी-हथौड़ा आदि सामान। दुकानों के रोलिंग-शटर्स सुधारता घूमता रहता है। कभी-कभी फ़ोर्ट-कुलाबा में भी घूमता है। आज भी मेरे सामने सवाल है—चदर के हाथों का वह हुनर किसने छीन लिया?

चदर की शादी का भी एक इतिहास है। कावाखाने मे ही हमारे पड़ोस में रहने वाली मजुला, चदर की सास। बड़ी भयंकर। भरी जवानी मे उसका पति मर गया। कावाखाने की दूसरी स्त्रियों के साथ वह भी कागज बीनने जाती थी। वैसे यह बड़ी ही आक्रामक महिला। विजय तेंदुलकर के 'सखाराम बाइंडर' नाटक में चंपा नाम के पात्र से उसका व्यक्तित्व काफ़ी कुछ मिलता-जुलता था। बक-बक करना, कही भी पिच्च से थूक देना उसकी आदत थी। कावाखाने के पुरुष भी उससे दो-हाथ दूर रहते। वह कब, किस पर हमला करेगी और शर्ट फाड़ देगी, यह बताना कठिन था। उसकी गालियाँ भी अफलातून। झगड़े के समय वह पुरुषों-सी आक्रामक-मुद्रा में खड़ी होती। आंचल कमर में खोंसकर। हाथ उछालते बोलती, "आओ भाड़खाऊ! तेरे अडे को मैं झुनझुना बनाऊँ!" या कहती "तेरा लौड़ा रबर-सा खींच डालूँगी!" गालियों की काल्पनिकता सुनकर मैं भौंचक्का रह जाता।

मजुला की तीन लड़कियाँ और एक लड़का। तीन लडकियों में एक सयानी होती हुई। बाक़ी छोटे। सबसे छोटा लड़का। बड़ी लड़की बड़ी गुणवान। माँ के स्वभाव की छाया उस पर न थी। इस लड़की के कुछ अलग होने के कारण थे। इससे पहले मैं विठाबाई के बारे में बता चुका हूँ, वैसे ही इसको भी बच्ची पर बड़ा लाड़ आता। बचपन से ही इस लड़की की परवरिश उसी ने की। विठाबाई उसे सारी सुविधाओं में रखती। विठाबाई के घर की स्वच्छता, टीमटाम, रहन-सहन का इतना प्रभाव पड़ा कि वह मजुला की लडकी ही न लगती। रंग मे भी माँ से अधिक उजली। चदर की इच्छा इसी लडकी से शादी करने की थी। बचपन से ही उसने यह स्वप्न मन में पाल लिया था। वैसे विठाबाई की भी इच्छा थी ही। परन्तु वह उसकी सगी माँ तो थी नही। लडकी बड़ी हुई और मंजुला ने कानून बताया। लडकी अपने पास ले आयी। चदर से उसकी शादी हो, ऐसी उसके मन की इच्छा न थी। वह कहती, "इसके पास रहने के लिए घर नही, कहाँ रखेगा ससार?"

प्रेमभग का दुख कितना जानलेवा होता है! इसके कारण आदमी कितना उजड जाता है, इसका बहुत क़रीब से दर्शन हुआ। वैसे चदर भी चुपचाप बैठने वाला नही था। सडास के पास ही बहुत बड़ी कचरा-पेटी थी, जहाँ चाल के सारे लोग कचरा डालते थे। छोटे बच्चे वही प्रात.कार्य से निवृत्त होते। चदर ने क्या किया! चाल के सभी छोटे-बड़े बच्चों को काम पर लगाया। स्वय भी हाथ में झाड़ू उठा लिया। एक-दो दिन में मैदान साफ़-सुथरा बना दिया। एक-दो महीने में वहाँ एक सुन्दर-सा बगीचा बनाया। वहाँ गुलाब खिलने लगे। मुझे अच्छी तरह याद है, दीवाली का दिन था। चंदर ने अपने दरवाज़े पर रोशनी की। मिट्टी का क़िला बनाया। सजावट के लिए सात-आठ दिन तक परिश्रम किया। उसकी कला देख-कर हमें आश्चर्य हुआ। इसी समय कही से उसे मालूम हुआ कि मंजुलाबाई की बड़ी लड़की की शादी तय हो गयी है। खबर सुनते ही वह खौल उठा। सारी सजावट उसने तोड़ डाली। पागलों की तरह बगीचे में गया और आँखों को सुख देने वाले सारे फूल मसल डाले। पौधे उखाड़ फेंके। पल-भर में बगीचा उजड गया। चंदर का यह रूप मेरे लिए सर्वथा नया था।

चंदर वैसे स्वभाव से बड़ा ही शांत। हँसमुख। गरजमंदों की मदद करने वाला। उस दिन वह इतना क्यों अशांत हो गया?

बाद में काफ़ी दिनों तक चंदर मौन रहा। किसी से कुछ विशेष बात न करता। आदमी के ज़ख्मों पर शायद काल फुंफकारता रहता है। चदर का ध्यान मंजुला की दूसरी लड़की की ओर गया। वैसे वह बहुत छोटी थी। कुल दस-बारह साल की रही होगी। चदर उसे चॉकलेट-पिपरमिंट देने लगा। दो-तीन साल उसने राह देखी। शायद उसके मन में यह बात ज़िद की तरह घुल गयी थी। और अंत मे उसने अपनी ज़िद पूरी की। मजुला की दूसरी लडकी के साथ उसकी शादी हुई। मजुला भी अब नॉर्मल थी। उसने शादी का विशेष विरोध नही किया।

पर बाद मे विठाबाई ने बहुत बुरे दिन देखे। अपने द्वारा पोषित बेटी छिन जाने का दुख वह न भूल पाती। पति मर जाने के कारण उसके खाने-पीने की दुर्दशा होने लगी। गाँठ मे कोई पूँजी न थी। धीरे-धीरे घर का फर्नीचर, बर्तन मारवाड़ी की दुकान में जाने लगे। कुछ ही दिनों में भरा-पूरा घर ख़ाली-खाली हो गया। चंदर विठाबाई के घर मे ही पहले से रहता था। वह उसकी सेवा-जतन करने लगा। दो कौर अन्न देने लगा। विठाबाई के मरने के बाद एक दूसरा ही प्रश्न उठ खडा हुआ। जिस दिन वह मरी, उसी दिन मुहल्ले के कुछ मुसलमान जमा होने लगते है। विठाबाई की लाश पर उन्होने अपना अधिकार जताया। उसमे से एक युवक विठाबाई को माँ कहता है। उसने एक जानकारी दी : मेरे बाप ने विठाबाई से निकाह किया था। इससे बस्ती मे खलबली मच गयी। विठाबाई मुसलमान बन गयी—यह बात कावाख़ाने मे किसी को मालूम न थी। वैसे विठाबाई की पोशाक अंत तक हिन्दू-स्त्री जैसी ही थी। उसने कभी बुर्का नही पहना और न ही पायजामा। विठाबाई के पेट-पानी का जब सवाल उपस्थित हुआ, तब भी उसने यह समझौता नही किया। मुझे वह मुसलमान युवक भी ग्रेट लगा, जो अपने पिता के बाद मानी हुई माँ का जनाज़ा उठा रहा था। विठाबाई का जनाज़ा उठते समय मेरी आँखें भर आयी थी! बचपन मे मिला विठाबाई का प्यार मैं भूल नही सका।

गली के एक ओर पुलिस-चौकी, दूसरी ओर कामाठीपुरा। वहाँ सुंदर गली के पास महारों को तालीम दी जाती। यह सम्पूर्ण भाग बड़ा गंदा। सुंदर गली तो नाम की ही सुंदर थी। कचरों के ढेर और गंदी नालियाँ। तालीम के नाम पर कुछ लड़के लाठी-काठी खेलते। 'सखाराम का अखाड़ा' के नाम से यह स्थान जाना जाता था।

सखाराम उस्ताद वैसे चाची का रिश्तेदार। उसका इस इलाके मे बड़ा रोबदाब था। उन दिनों जो अबेडकर का राजनीतिक आदोलन चलता था, स्कूल-मास्टर और इन्हीं उस्ताद लोगों के माध्यम से ही। नायगाँव का दाजी, कुलाबा का बादशाह, तो सखाराम नागपाड़ा का। ये उस्ताद लोग युवको को संगठित करते। समता-सैनिक-दल निकालते। विवाद कहीं भी भड़क उठता। कभी सवर्ण-विरुद्ध-अस्पृश्य विवाद-उठता, तो कभी मुसलमान-विरुद्ध-अस्पृश्य। परन्तु हिन्दू-विरुद्ध-मुसलमानों का दंगा होने पर मुसलमान अस्पृश्यों को हाथ न लगाते। 'जय भीमवाला' संबोधन का शब्द बन जाता।

कामाठीपुरा का महार-मुसलमानों का दंगा याद है। किस कारण यह दगा भड़क उठा, यह आज भी बताना असभव है। परन्तु दगे के समय देखा सखाराम उस्ताद याद है। गजा सिर, नंग-धड़ग विशाल गठी देह, मजबूत हाथो मे छोर पकडकर वह मुसलमानों के पीछे झपटा और मुसलमान घबराकर गलियों से बचते भाग रहे हैं। ढोर चीरने का तेज छुरा उसके हाथ में ही था। इस तालीम के कारण एक बात हुई। मुसलमान लोगों को दलित स्त्रियाँ जो साग-सब्जी पहुँचाती थी, वह बद हो गया। वे डरे-डरे रहते।

एक बार तो अखाडे के लड़को ने पुलिस से ही लड़ाई मोल ले ली। पुलिस के हाथो मे लाठियाँ और लड़कों के हाथो में पत्थर। सामने पुलिस और पीछे लड़के—ऐसा अजीब दृश्य। थोडी ही देर मे चिढे हुए पुलिस वाले गाड़ी लेकर आते हैं। साथ मे राइफलें। उन्होने हवा में गोलियाँ चलायी। उससे पहले ही लड़के बस्ती से गायब हो गये। निःशस्त्र लड़के भी पुलिस से टक्कर ले सकते हैं, यह अनोखा दृश्य था। मेरी भी बाँह उस दिन फड़फड़ा रही थी।

अछूत और सवर्ण के दंगों के लिए कोई भी कारण पर्याप्त होता। गणपति-विसर्जन मे महारों का गणपति आगे न जाने पाये, इसके लिए भी मार-पीट होती। ऐसी ही एक दूसरी घटना थी। 'पाडव-प्रताप' ग्रथ का जुलूस महार निकालते। जुलूस के लिए सवर्णों की ओर से विरोध किया जाता। 'पाडव-प्रताप' ग्रंथ का अखड-वाचन होता। हम पाडवों के वशज है, इस प्रकार की दतकथा भी कानो तक आती। दिल्ली मे पाडवो का सिंहासन है। इस सिंहासन पर सिर्फ़ बाबासाहब ही बैठ सकते है, कुछ इस प्रकार की दंतकथा भी मैंने वचपन में सुन रखी थी।

हाँ, तो मैं सखाराम उस्ताद की बात बता रहा था। चाची हमेशा इस उस्ताद का डर बताती। उस्ताद चाची के मायके का था।

अतिम दिनों मे तात्या के व्यवहार में कोई तारतम्यता नही रही थी। जब तक पिताजी जीवित थे, वे दारू को हाथ न लगाते। अखाड़े जाते। लाठी-काठी घुमाते। आँखो पर पट्टी बाँधकर खुले टीन-पट्टे से नीबू के दो टुकड़े कर देते। पर पिता जी की मृत्यु के बाद जैसे उनकी ड्यूटी 'हैंडेड ओवर—टेकन ओवर' हो गयी। पी कर आने के बाद चाची को मारते। एक बार तो कप-बशी साफ नही की गयी थी, इसलिए उन्होने वे सारे बर्तन तोड़ डाले। चाची को जब पीटते, तब वह दो-चार दिन गाल फुलाकर मायके निकल जाती। एक बार तो चाची के सदर्भ में सखाराम उस्ताद के बेटो ने तात्या को खूब पीटा। इस कारण वे और अधिक पीते। उनकी जेब में पैसे हमेशा ही खनखनाते रहते। तात्या शाम को घर आते तो पीकर ही। ऐसे समय उनकी जेब से चाची पैसे ग़ायब कर देती। चाची को तात्या अकसर नापसद रहते। साथ ही उसे मायके का आकर्षण अधिक था। पैसे गायब होने पर वे चाची पर शका करते, पर चाची कुछ भी हाथ न लगने देती।

एक घटना तो अविस्मरणीय है। तात्या सवेरे-सवेरे उठते हैं। देखते हैं, जेब से सारे नोट गायब। वे अपने-आप को कोसते है। आत्मदंड देते है। नया कोट फर्र-फर्र फाड डालते हैं। उसकी छोटी-छोटी चिदियाँ बना डालते हैं। हम दूर से ही डरे हुए यह सब देखते है। उन्हे रोकने की हिम्मत किसी मे न थी। वे चिढ़ कर उठते है और मुझे चोर-बाज़ार ले

जाते हैं।

उस दिन वे चोर-बाजार में बड़े विचित्र ढँग से पेश आते हैं। उनके इस व्यवहार के लिए मेरी किताबी दुनिया में कोई उत्तर न था। चोर-बाजार के एक कपड़े के व्यापारी के पास जाते हैं। वहाँ से एक महँगा कोट चुनते हैं और मेरे हाथों में देकर आँखों से ग़ायब करने का इशारा करते हैं। मैं कन्नी काटता हूँ। दूर नाके के पास खड़ा होकर उसका मजा देखता हूँ। अब वे तू-तू मैं-मैं पर उतर आये। मैंने कोट लिया ही नहीं, इस तरह वे हाथ फैला-फैलाकर चिल्लाते हैं। भीड़ जमा होती है। तात्या को छोड़ दिया जाता है। तात्या उस दिन सेर पर सवा-सेर थे। खुश थे। मेरी ओर शरारती हँसी फेंककर कहते हैं, "देख, मैंने पैसे वसूल कर लिए कि नहीं?" मुझे उन पर हँसी आ रही थी। अपना कोट फाड़कर भला उन्हें क्या मिला होगा?

तात्या वैसे बहुत भोले। मैं पढ़ रहा हूँ, इसका उन्हें बड़ा गर्व था। उन्हें पढ़ने की सुविधा नहीं मिली, इसका खेद भी चेहरे पर। पगार का दिन। तात्या हमेशा से कुछ अधिक ही झूमते आये। वे अधिक लड़खड़ा रहे थे। मुझे वे घर से निकालते हैं। कहते हैं, "चल, तुझे नये कपड़े ख़रीद देता हूँ।" मैं भी अकचका गया। उन दिनों कपड़ों के लिए पीला-हाउस जाना पड़ता।

चमकते हुए आइनों की दुकानें। आँखें चौंधिया जातीं। ऐसी ही एक दुकान की हम सीढ़ियाँ चढ़ते हैं। दुकानदार को महँगे कपड़े निकालने के लिए कहते हैं। महँगे कपड़ों से उनका मतलब फैशनेबुल कपड़ों से होता। उन दिनों कपड़ों पर हाथी-घोड़ों के चित्र होते। छाती पर दूसरा रंग, हाथों पर दूसरा। ये कपड़े मुझे अच्छे न लगते। ये कपड़े बहुरूपिए जोकर के-से लगते। वैसे मैंने अपने मन की बात तात्या को बतायी। वे कहते हैं—"देखो, अब अगले साल तू अँग्रेज़ी स्कूल में पढ़ने जायेगा। कपड़े कैसे चाहिए? साहब-से टिपटॉप। शान में चलना चाहिए।" मुझे हँसी आ रही थी और मैं हँसी दबाये जा रहा था। दरअसल मुझे सफ़ेद शर्ट और नीली पैंट चाहिए थी। परन्तु तात्या के आगे कौन बोले? मैं अनमने मन से कपड़े लेता हूँ। मैं इसी विचार से बेचैन हो गया कि तालुके में इन्हें पहनकर मैं

कैसा दिखूंगा !

कपड़ों के बंडल बगल में दबाकर मैं तात्या के साथ गोलपीठा के रास्ते से जा रहा था। रास्तों के दोनों ओर वेश्याओं की इमारतें। कुछ घरों की पहली मंजिल पर नंबरों की लाल लाइट। शाम का समय। अभी धंधा शुरू नहीं हुआ था। कुछ औरतें अभी-अभी सोकर उठी थी। वे मंजन कर रही थीं। कुछ तेल-कंघी करती हुई दरवाजे पर बैठी थी। इतने में एक औरत तात्या को उनका नाम लेकर बुलाती है। मुझे इस बात का आश्चर्य ही हुआ कि तात्या को वेश्याओं की बस्ती में भी पहचानने वाली औरतें है। मैं उस औरत की ओर देखता हूँ। वह दरवाजे के सामने अपने लंबे बाल सुखा रही थी। वह काली-कलूटी, मोटी औरत थी; कानडी। उसके नाक की चमकी धूप से एक किरण-रेखा बनाती है। तात्या उससे बात करते रहते हैं—"ये मेरा भतीजा गाँव के स्कूल में पढ़ता हे।" वे मेरा परिचय कराते है। वह बाई मेरी ओर स्नेह से देखती है। परन्तु मैं बहुत ही उदास था। इस बस्ती मे क्षण-भर टिकने की इच्छा न थी। तात्या जब बातें कर रहे थे, तभी मैं कावाखाने भाग आता हूँ।

काफ़ी समय बाद तात्या आते हैं। अब और अधिक चढ़ाकर आ गये थे। आते ही मेरे नाम की पुकार करते हैं। मुझे गंदी-गंदी गालियाँ बकते है, "भोसड़ी के, तात्या गोबर खाने जाता है तो क्या तुझे भी खिलायेगा? माँ जैसा ही बेवकूफ है।" मेरे साथ ही माँ का भी उद्धार हो जाता है। इस कारण मैं बहुत व्यथित हो जाता हूँ। परिस्थितियों ने ही हम माँ-बेटे को बेवकूफ बना दिया। हम कभी भी खुलकर न बोलते। नीची आँखें किये सिर्फ़ सुनते रहते। उस दिन कलेजे में लगा जख्म कितने ही दिनों तक रिसता रहा। बंबई छुट्टियों में आना ही बंद कर देता हूँ। तात्या के मरने तक मैंने यह व्रत निभाया। तात्या के मरने पर मैं उनकी शव-यात्रा मे शामिल जरूर हुआ, परन्तु मन का गुबार उस समय भी नहीं भूला था। कावाखाने में गोलपीठा की वेश्या लाना किसी के लिए भी आश्चर्य की बात न थी। एक व्यक्ति तो अपनी जवान बीवी के रहते हुए भी घर मे निकलता और वेश्या के साथ गुलछर्रे उड़ाता। यह वेश्या भी आते समय उसके लड़कों के लिए मिठाई-कपड़े लेकर आती। यह परंपरा तात्या तोड़ते हैं। वे एक

दिन सीधे एक हिजड़ा घर ले आते हैं। निश्चित ही वह हिजड़ा बड़ा सुन्दर था। औरतों-से हावभाव करता। ग़ौर से देखने पर ही मालूम होता कि वह हिजड़ा है। तात्या की चाची बहुत छलती है, रात में हाथ तक नहीं लगाने देती, इसलिए सबकी सहानुभूति तात्या के प्रति रहती। वैसे चाची बाहर से बहुत शांत दिखती। ऐसा कुछ घर में होता तो वह सीधे फ़ुटपाथ पर बैठ जाती।

मेरा भी एक हिजड़े से संपर्क हुआ, पर दूसरे कारणों से। वह मेरे दूर के रिश्ते का चाचा ही था। सहादवा उसका नाम। मेरे ही गांव का। बंबई में मिल में काम करता। धोती-कमीज पहनता, पर हावभाव औरतों के थे। रंग में आने के बाद तालियाँ पीटता। एक बार कावाखाने आता है। "मारुति का लड़का कितना बड़ा हो गया!" कहकर मेरी ओर आश्चर्य से देखने लगा। सिनेमा चलने की ज़िद करने लगा। मैं उसके साथ जाने में हिचक महसूस करता हूँ। दादी भी चाहती थी कि मैं उसके साथ जाऊँ। मैं उसके साथ बाहर निकलता हूँ। चारों ओर शंकित दृष्टि से देखता हूँ कि मुझे कोई उसके साथ जाते देख तो नहीं रहा है। दोनों ओर से आने-जाने वाले हमें शंका की दृष्टि से देखते। इस कारण मैं उदास होता जाता।

उसी दिन पीला-हाउस में ही किसी भकस थियेटर में हमने सिनेमा देखा। ऊपर का टिकट लिया था। पिक्चर में मेरा मन न लग रहा था। बस, मन में यही एक बात घूम रही थी कि इसके चंगुल से कब मुक्ति मिले। सिनेमा छूटने पर सहादबा होटल में केक खिलाता है। गोलपीठा से घर आते समय सहादवा को एक बात याद आती है। कहता है, "अरे, तुम्हें अपनी जमना मौसी याद है? वह यहीं रहती है। चल, उसे मिल आयें।" वेश्याओं की गली में मेरी कोई मौसी है, इसकी कल्पना मुझे सपने में भी न थी। माँ ने भी इसके बारे में कभी नहीं बताया था। शेरों के पिंजरे-से गोलपीठा के दोनों ओर पिंजरे थे। पिंजरे के पीछे अधनंगी औरतें। कुछेक मिनीस्कर्ट पहने। उनकी उभरी-पुष्ट जाँघें देखने वालों को उत्तेजित करती थीं। पिंजरे में भूखे शेर मांस-टुकड़ों की राह देखें, ऐसा ही कुछ दृश्य मेरे मन में बैठ गया। ऐसे ही एक पिंजरे में सहादवा मुझे ले जाते हैं।

अभी-अभी की बात। कोई दो-तीन साल हुए होंगे। मैं दादर के पुल के नीचे जा रहा था। मेरे साथ कई बड़े लेखक भी थे। पुल के नीचे भिखारियों का बहुत बड़ा झुंड ! कुछ लोगों ने अस्थायी बोरे के तंबू खड़े किये थे। उन भिखारियों के झुंड में दयनीय चेहरे और फटे कपड़ों में लिपटी जमना को मैं पहचान लेता हूँ। वह जमना ही थी। वह भी मुझे पहचान लेती है। वह एकटक मुझे देखती है। मैं मुड़-मुड़कर देखता हूँ। आज भी उसकी नजरें मेरा पीछा कर रही हैं। उसके साथ साधारण संवाद भी मैं न कर पाया। लगा, इन टेरीलीन के कपड़ों में मैं कितना सफ़ेदपोश हो गया ! साथ के मित्रों को क्या बताऊँगा, शायद यह भी दुविधा रही हो। और मान लीजिए जमुना से बात की भी होती और उसे घर ले गया होता तो, क्या मेरी पढ़ी-लिखी पत्नी उसे घर में रहने देती ? पत्नी तो दिन में तीन-चार बार घर धोती है। आईने-सा साफ़ कर देती है और जमना ! शरीर पर मन-भर मैल !

उस रात मैं ठीक से सो नहीं सका। जमना मौसी की नज़र तीखे बाण-सी अँधेरे में कलेजा चीरती जा रही थी।

बाद में मौसेरा भाई मिला। उसने जमना के बारे में आश्चर्यजनक जानकारी दी—"अरे, जमना मरते वक़्त गाँव आयी थी !" अपना मायका उसने कैसे खोज निकाला ? फिर जमना पागल कैसी ? मौसेरा भाई बता रहा था। चाचा ने ही उसे मिट्टी दी। निश्चित ही ऐसे आड़े वक़्त मौसेरा भाई भाईचारा नहीं भूला था।

बंबई आने पर गाँववाले मिलते ही। उनमें से आबू और सदाशिव के साथ संबंध अधिक गहरे होते गये। वैसे ये मुझसे उम्र में चार-पाँच साल बड़े थे। बंबई में नौकरी करते, पर मुझे समान महत्व देते। वे मुझे गोला-पीठा यूँ ही घुमाने ले जाते। मैं चिढ़ता था। उस उम्र में भी मैं कहता, "ताड़ी के पेड़ के नीचे बैठा कि लोग कहेंगे, ताड़ी पिया है।" इस पर वे ठहाका मारकर हँसते। वैसे आबू और सदाशिव दो अलग-अलग छोर थे। आबू हमेशा दाँत निपोरता रहता, पर सदाशिव धीर-गंभीर। जो कुछ भी

कहता, सीरियसली। दोनों की अटूट जोड़ी। आंबू दिखने में आकर्षक था। रहता भी अप-टू-डेट। वैसे अँगूठा बहादुर था। परन्तु जब बात करता, तब अच्छे-अच्छों की छुट्टी कर देता। वह जाहिर नकलें करता, बतौर शौक। उसका एकपात्री कार्यक्रम बड़ा रंग लाता। उसकी पेटेंट कोकणी बाला की नकल जयंतियों में खूब चलती।

आबू चाची के घर ही खाना खाता। सुबह काम पर जाते समय चाय की बड़ी तारीफ़ करता। कहता, "पार्वतीबाई, तेरे हाथ की चाय! कपनी के गेट तक चाय का स्वाद मुंह मे बना रहता है।" इसका अर्थ घर में समझा जाता था। उसका बोलना उलटा हुआ करता था। उसकी बातचीत बड़ी जानदार होती। उसकी यह चेतना अचानक लुप्त हो गयी। आबू को टी० बी० ने घर दबोचा। शुरू में उसने यह रोग छिपाये रखा। उसकी खांसी और उसकी सूखती देह के कारण उसका रोग मालूम हो गया। उसकी शादी नही हुई। अब एक ही बांस पर जाना पड़ेगा, इसी का दुख उसके चेहरे पर झलकता। बाद में एक छोड़ उसकी दो शादियां हुई। दूसरी पत्नी ने उसकी अंत तक सेवा की। अब मरने के डर से उसका चेहरा काफ़ी त्रस्त रहता। उसका हँसना, मुसकराना, मज़ाकिया सवाद—सब समाप्त हो गये। मृत्यु की भीषण छाया उसके चेहरे पर छा गयी थी। यह देखा न जाता। मैं जब गाँव में था, तब उसकी मृत्यु की ख़बर आती है। वैसे मृत्यु का आतंक मैंने बचपन में ही देखा था। पर उस दिन आंबू की मौत से झटका लगा। उसके मरने की इच्छा न थी और मृत्यु-पाश उसके चारों ओर कसता जा रहा था। इस कैंची में अत तक वह जकड़ा रहा था।

सदाशिव का दुखांत राजनीति के कारण हुआ। बंबई आने से पहले का सदाशिव याद आता है। सिर्फ़ हल चलाने वाला था। घुटनों तक धोती, बंडी—इसी पोशाक मे खेतों में खटता। उसके करीबी रिश्तेदार आते हैं और उसे बंबई ले जाते हैं। उसे ट्राम कंपनी में लगा देते हैं। छठवी-सातवी पडे सदाशिव को बंबई के टेढ़े नल का पानी बदल देता है। जब वह गाँव आता, तब उसका रौब देखकर हम बहुत प्रभावित होते। सफेद-शुभ्र बगुलो-से कपड़े, बाल सलीके से काढ़े गये, हाथ में एकाध पुस्तक। वह हमें बंबई की काफ़ी बातें बताता। अब उसकी भाषा भी काफ़ी सुधरी हुई थी। देखने

में काला-साँवला था। फिर भी उसका नाक-नक्श ठीक था। शिवाजी की भूमिका सहज कर सकता था।

प्रारंभ मे बतौर शौक 'नाटक मंडली' बनाना उसकी दिलचस्पी थी। कामाठीपुरा में इस नाटक का अभ्यास होता। वह 'आजोबा' [दादाजी] नामक एक नाटक का मचन करता है। अभ्यास जब चल रहा था, तब मैं भी जाया करता था। नाटक के लिए नायिका एक ब्राह्मण की सुन्दर लडकी गिरगाँव से आया करती। ऐसे समय नायिका से बातें करने के लिए बड़ी स्पर्धा होती। नायिका के घर जाकर उसे टैक्सी से लाना उन्हें 'थ्रिल' लगता।

नाटक का एक कलाकार याद आता है। उसका एक दाँत सोने का था। शादीशुदा था, पर नायिका के लिए कितने भी पैसे खर्च करने को तैयार। उसे साड़ी-चोलियाँ भी देता, ऐसी चर्चा थी। वैसे नायिका बड़ी उस्ताद। हाथ न लगाने देती। पर ये लोग मात्र सुगन्ध में मस्त हो जाते। हलवाई के कुत्ते-से। सदाशिव कुछ अलग था। वह नाटकों के पीछे पागल था। अभ्यास करते समय ही नायिका के मन में अपनी जाति का अहकार जाग गया। कहने लगी, "आपका उच्चारण कैसा है? हैं तो आखिर महार ही! कभी नहीं सुधरोगे।"...बस, सदाशिव नायिका पर बहुत झल्लाया। वह उसी लहजे मे कहता है—"बाई, भाषा पर इतना गर्व है तो महारों के लड़कों के साथ घुँघरू बाँधकर क्यों नाचती हो?" बाई पर यह मर्मांतक आघात था। वह रोने लग गयी। उसके नाक का अंतिम सिरा और भरे हुए गाल लाल-लाल हो गये।

सदाशिव यूनियन के काम की ओर कैसे बढ़ा, मालूम नही। पर इतना मालूम है कि चुपचाप बैठना उसके बस की बात नहीं थी। कुलाबा में बस-कपनी के गेट के पास उसने भाषण झाड़ना शुरू किया। बी० ई० एस० टी० के आंदोलन मे उसे नौकरी से हाथ धोना पडा। सदाशिव सड़क पर आ गया। उसने अपना बोरिया-बिस्तर समेटा और गाँव की ओर चलता बना। अब उसने तालुके की राजनीति में हिस्सा लेना शुरू किया। गाँव-वाले उसे 'विधायक' कहने लगे। वैसे वह कभी भी चुनाव जीता नहीं था। लोगों ने ही उसे यह पदवी बहाल की। किसी को सगाई-कर्ज हेतु मदद

करना, पति-पत्नी के झगड़े निबटाना, कचहरी पर मोर्चा ले जाना, ऐसे काम शुरू हुए। 'गाँववाले मुझे सम्मान देते हैं, घर ले जाते हैं, सादर बिठाते हैं, चाय पिलाते है पर महारवाडा के दूसरे लोगों को तुच्छता से देखते हैं,' यह दुख उसके मन में हमेशा रिसता रहता।

एक बार उसने गाँव में हंगामा कर दिया। रामनवमी के दिन गाँव में एक यात्रा होती। सभी को पूरे भोजन का निमंत्रण दिया गया। सदाशिव ने कहा, "हमें तुम्हारी पंगत मुफ्त नही चाहिए। महारवाडा का भी चदा लो।" महारवाड़ा से चंदा जमा किया गया। शाम को मारुति के मदिर के सामने पंगत बैठी। महारों को पंगत में नहीं बुलाया गया। सदाशिव का पारा चढ़ गया। क्या करे वह ?...धोती खोंसता है और परोसने के लिए भागता है। मराठा युवकों ने उसे रोका। "अरे ये बूढ़े-ठूंठ नही मानेंगे। सारा खाना बेकार चला जायेगा।" सदाशिव कुछ भी सुनने को तैयार न था। अंत में उसे कोठरी में बंद कर दिया गया। पंगत उठने पर उसके साथ सब युवक खाना खाने के लिए तैयार थे। पर उसने यह कहकर खाने से इनकार कर दिया कि उसका घोर अपमान किया गया है। उस रात महारवाडा में कोई खाना खाने नहीं गया।

तालुके में सदाशिव रिपब्लिकन पार्टी का कार्यकर्ता। कुछ समय बाद कांग्रेस-रिपब्लिकन पार्टी का समझौता हुआ। ऐसे समय ज़िला परिषद के चुनाव आये। कांग्रेस वाले सदाशिव को खड़ा करना चाहते थे। पर ज़िला रिपब्लिकन पार्टी को यह मान्य न था। इस तरह सदाशिव राजनीति में भी सड़ता रहा। एक तो वह मुँहफट। दूसरे किसी की पूंछ पकड़कर आगे जाना उसे पसंद न था। खुद्दारी थी उसमें।

संयुक्त महाराष्ट्र आंदोलन में गणमान्य नेताओं के साथ उसने सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया। एस० एम० जोशी और आचार्य अत्रे के साथ उसने जिले का दौरा किया। उसके बुरे दिनों को देखकर यह याद आ रहा है। इसके बाद सदाशिव निराश हो जाता है। टिकट न मिलने के कारण उसे गहरा दुख हुआ। वह हमेशा अगुआ की कथा सुनाता : 'अरे, वानरों की टोली में अगुआ होता है। वह नवजात नरों को खाता है, लेकिन मादा को ज़िंदा रखता है। अपना कोई प्रतिद्वन्द्वी न हो सके, इसकी वह

सावधानी बरतता है। राजनीति भी ठीक इसी तरह होती है।' वह अगुआ किसे कहता है, हम समझ जाते है।

बाद मे सदाशिव 'तमाशा' में निकल गया। उसका दैनिक जीवन बदतर होता गया। फाके करने लगा। दूसरी तरफ बढता परिवार। इसलिए वह तमाशे मे घुसा। तमाशे का वह मैनेजर था। मैनेजर यानी सभी काम उसे ही करने पड़ते।

दादू मारुति इदुरीकर के तमाशा में वह था। एक बार वह घर आया और 'गाढवाचे लग्न' [गधे की शादी] का खास निमत्रण दिया। मैं लाल-बाग के थियेटर मे जाता हूँ। संगीत का दौर पूरा हो चुका होता है। सदाशिव कही से उठता है और मेरी व्यवस्था पहली कतार मे कर देता है। 'गाढवाचे लग्न' लोकनाट्य की शुरुआत होती है। इदुरीकर 'सांवले कुम्हार' की भूमिका मे हास्य के फव्वारे छोड़ रहा था। फिर स्टेज पर कुछ गधे लाये जाते है। आदमी ही हाथो-पैरों से चलकर गधे की भूमिका करते। यह दृश्य देखकर मुझे झटका लगा। उसमे से एक गधा सदाशिव था। सारे नाटक मे जानवर-सा खड़ा—एक संवाद तक नही। तलवार की धार-सी चलने वाली उसकी जबान अचानक मौन ! सदाशिव को क्या लगता होगा? मै बहुत देर तक नाटक मे नही बैठ सका। सदाशिव की हालत मुझे दहला रही थी। मै बाहर खडा रहता हूँ। सदाशिव काम समाप्त होने पर बाहर आता है। सामने के होटल में ले जाता है। अब वह मुझे तमाशा के कलाकारो के शोषण के बारे में बता रहा था। बडी छटपटाहट थी उसके बोलने में। कलेजे से उठती आवाज़ ! कांट्रेक्टर इन्हें गन्ने की सीठी-से निचोड़ते है। इनकी कला पर इमारतें बनाते हैं। दादू मारुति इदुरीकर को सिर्फ तीन सौ रुपये की पगार। नाटक की सारी आय मालिक के हिस्से में जाती है, यह जानकर मुझे आश्चर्य हुआ। वह मुझे तमाशा के कलाकारों की यूनियन खडी करने की बात कहता है। आज भी सदाशिव तमाशा में ही है। उसका सपना साकार न हो सका। परन्तु जब भी मिलता है, उसी पुराने जोश के साथ। उसका जवान बेटा शरद इस समाज-व्यवस्था में लुट गया। शुरू में वह पैंथर के युवा नेताओ के बैग सभालता। बॉडी-गार्ड का काम करता। आज उसकी भी जिंदगी धूल में मिल गयी

है। मुझे इस प्रश्न का उत्तर आज तक नही मिला कि इन दोनों बाप-बेटों की हालत एक-सी क्यो हुई ?

ये सभी लोग मेरी ज़िन्दगी मे अहम महत्व रखते है। उन्हे छोड़कर मेरा व्यक्तित्व खडा नही हो सकता। जिस प्रकार पानी पर तेल की तरंगें होती है, ठीक उसी तरह ये मेरी ज़िन्दगी में फैले हुए है। चदर, आबू या सदाशिव—ये मेरी किताबी दुनिया से परे के मार्गदर्शक थे। इनके ससार से अलग विश्वविद्यालय मे ही मैं शिक्षित हुआ। इनका मुझ पर बडा गहरा असर रहा।

मुझ पर जैसा इनका प्रभाव पड़ा, ठीक इसके विपरीत दादासाहब का। उनकी तरह सामाजिक जीवन मे चमकना, भाषण करना...सामाजिक प्रश्नों पर अबेडकरी प्रेरणा मिली तो उन्ही के कारण। छात्रावास मे हम सब विद्यार्थियो को अपने जीवन मे उनका आदर्श सामने रखने की इच्छा होती। वे लडकों मे घुल-मिल जाते। बच्चो के साथ बच्चे बन जाते—गाते, ढोलक बजाते। एकाध बार मूड में आने पर छिछला हास्य तक सुनाते। उनके हास्य में असली महारी स्टाइल थी। उस समय हम नाभि की जड़ तक ठठाकर हँसते। दादासाहब जो गीत गाते थे, वह आज भी याद है:

"कार्य करो रे, ए जवानो, सत्य का मार्ग धरो रे।
शूर-मावलों की बना सेना, वाणी और ताना याद करो रे।"

जब दादासाहब ये गीत गाते तो मेरा सारा शरीर रोमाचित हो उठता। दादासाहब का व्यक्तिगत जीवन भी हमारे लिए आकर्षण का विषय था। उनकी पत्नी सुन्दर, गोरी, पानीदार आँखों वाली, सदाशिव पेठ जैसे सम्भ्रात मोहल्ले की रहने वाली। अपनी भी पत्नी ऐसी हो, यह सुप्त इच्छा मन में सिर उठाती।

उन दिनों सातवी की परीक्षा के लिए ज़िले मे जाना पडता। परीक्षा के लिए अहमदनगर गया था। गाँव के मराठों के लड़के बोर्डिंग मे ठहरे थे और मैं पार्टी-दफ़्तर में। जाते समय ठीक से कपड़े तक न थे। माँ को मेरे राह-ख़र्च के लिए दूसरों का मुँह ताकना पड़ता। उन दिनों मेरे शरीर पर

बड़ा चमत्कारिक बुशशर्ट था। उसके बटन कंधों पर। भड़कीला रंग, झिल-मिलाता कपड़ा। दादी ने यह गाँव वालों के हाथ भेजा था। शायद बँगले की किसी धनवान मैडम ने उसे दिया हो। वैसे जाते समय मैं बहुत अनमना था। पार्टी-दफ्तर में सालवे-मामा नामक सज्जन थे। मराठी स्कूल के मास्टर। परन्तु सुबह उठते ही 'टाइम्स' और डिक्शनरी लेकर बैठ जाते। कभी अँग्रेज़ी स्कूल में गये नहीं। डिक्शनरी देखकर ही उन्होंने अपना अँग्रेज़ी का ज्ञान हासिल किया। बाद में वे एम० ए० भी हुए। उनका लड़का और वे एक साथ कॉलिज जाते। कई दिनों तक वे हाईस्कूल के मास्टर थे। मामा की जिद देखकर मैं उस उम्र में भी प्रभावित हुआ था।

पार्टी-दफ्तर मुसलमानों की बस्ती में था। पहले ही दिन एक घटना घटी। सुबह गैलरी में मैं मंजन कर रहा था। नीचे कुछ हिजड़ों का झुंड। न जाने मेरे दिमाग में कौन-सा भूत सवार था। मैं किसी एक हिजड़े के बारे में बगल के मित्र को कुछ बता रहा था। उसी समय उसका ध्यान मेरी ओर गया। वह झल्लाया, "साले, धेड़ के बच्चे। माटी मिले...।" गालियाँ बकने लगा वह। पार्टी के कार्यकर्ता मुझ पर नाराज़ हुए। मुझसे कहाँ ग़लती हुई, यह मैं नहीं जान सका। बेचैन अवस्था में ही मैंने पेपर लिखा। पेपर हो जाने के बाद सारा शहर छान मारा। किसी बड़े देहात-जैसा लगा वह। पंडित नेहरू को जहाँ हिरासत में रखा गया था, वह किला देखा। पर इस किले से मुझे चाँदबीबी का महल अधिक अच्छा लगा। कहते है, उन दिनों चाँदबीबी के महल से नगर तक जमीन के भीतर-ही-भीतर रास्ता था। हमें ऐसा लगता कि इतिहास में पढ़ी चाँदबीबी इस रास्ते से घोड़ा उड़ाते जा रही है।

वैसे मैं स्वभाव से ही सहनशील। सारा मान-अपमान चुपचाप पी जाने की आदत थी। पर बाद में अचानक ही मेरा नटखट स्वभाव *जाग जाता।* शायद इसका कारण शिक्षा थी। इस कारण अनेक बार आफ़त आती और यह कोफ्त भी होती कि मैंने ऐसा क्योंकर कहा! एक बार राजूर गाँव में जानवरों की प्रदर्शनी देखने गया। शाम को वहाँ का मराठा स्कूल देखने गया। शायद लड़के रात में अध्ययन के लिए आते होंगे। शिक्षक न होने के कारण लड़के बहुत गड़बड़ करते। आपस में मारपीट करते। साथ में मेरा दोस्त था। मैं कुछ ज़ोर से ही बोलता हूँ, "वाह! स्कूल का क्या डिसीप्लिन

है !" बस लड़कों ने आपसी झगडा बन्द किया और मोर्चा मेरी ओर मुडा। मेरा दोस्त भाग गया। उस रात सब लड़कों ने मुझे कीचड़-सा रौंद डाला था।

एक दूसरी घटना याद करके तो आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उन दिनों अँग्रेज़ी स्कूल में पढ़ रहा था। शहर में दो प्रसिद्ध 'दादा' मंडली थी—बबन और सावजी। उनका गाँव के लोगों पर बडा दबदबा था। कहते हैं, उनका अफ़ीम-गाँजे का होलसेल धंधा था। शहर की कांग्रेस राजनीति पर भी उनकी पकड़ थी। उनमे से एक बहुत सुन्दर, गोरा-चिट्टा, ऊँचा-पूरा। जिस तरह कोई पहलवान अखाडे में उतरता है, वैसा वह रास्तों पर डोलते हुए चलता। इसके बारे में एक चर्चा प्रसिद्ध थी कि राजकुमार के वेश में इसने कश्मीर के धनिकों को लूटा है। दूसरा कुछ ऐसा ही था। परन्तु चीते-सा चपल। इनकी जोड़ी जब रास्ते से गुज़रती तो पेड़ पर बैठा कौवा भी काँव-काँव करता। उस समय हम उनके सामने बित्ता-भर के थे। हम नाके पर गप्पें लडाते खड़े थे। साथ में गाँव के सवर्ण लड़के। ऐसे समय गप्पों की बागडोर मेरे हाथों में होती। अनेक अनुभवों की करिश्मी पुड़ियाँ मेरे पास थी। बाकी लड़के शर्मीले किस्म के।

उस दिन वे दोनों 'दादा' अपनी मोटर से जा रहे थे। भीड के कारण मोटर हमारे पास आकर रुक जाती है। सब लडके घबरा जाते हैं। उनको अच्छी तरह सुनायी दे जाये। मैं इतनी ज़ोर से गाली देता हूँ। बस...सारे लड़के घबरा जाते हैं। उस दिन मुझे किसने धीरज बँधाया, पता नही। दादा अब गाडी से नीचे उतरा। "सारा शहर हमसे थर्राता है और ये कल के छोकरे गाली देते हैं !" अब अपनी खैर नही। पल-भर के लिए पैरों तले की ज़मीन सरकने-सी लगती है। जो भी मिलेगा, वह मार झेलने को मै तैयार था। भागने की इच्छा नही हुई। पर उस दिन मैं मार खाने से बच जाता हूँ। मैं जिन लोगों के साथ गप्पें हाँक रहा था, वे सब बडे लोगों के बेटे थे। और उनके पालक भी दादा लोगो को पहचानते थे।

ज़बान का ऐसा ही एक और करिश्मा याद आ रहा है। यह घटना बम्बई में घटी। काफ़ी बडा हो गया था। एस० एस० सी० पास हो गया था। बम्बई में सदाशिव के रिश्ते की एक लड़की की शादी थी। लड़की

काली-साँवली। चेहरे पर चेचक के दाग। पर दूल्हा अच्छा गोरा-चिट्टा मिला था। जब बारात आती है, तब मालूम होता है कि दूल्हे का छोटा भाई मेरी कक्षा में ही पढ़ता था। हाईस्कूल में। हम सब दुल्हन की ओर से थे। थोड़ा-बहुत काम करने वाले। बारात आने पर एक बार सामने आयी। दूल्हे का भाई बडा गुस्सा दिखा रहा है। हमेशा लड़कियों के झुंड में। शादी निबटी। भोजन हुआ। अब सारे बाराती घेरा बनाकर आपस में गप्पें मारने लगे। विवाह का स्टेज खाली। उस पर माईक रखा था। मैं तुरन्त स्टेज पर चढता हूँ। माइक संभालकर बारातियों से मुखातिब होता हूँ—

"भाइयो और बहनो ! आज मैं आपका परिचय दूल्हे के भाई से करवाता हूँ . ।" और फिर मैं अपने भाषण में दूल्हे के भाई के सम्बन्ध में स्कूल का एक किस्सा सुनाता हूँ, "प्रार्थना का समय था। सभी लड़के-लडकियाँ कतारों में खड़े थे। उसी समय चित्र-विचित्र चित्रों का बुशशर्ट पहनकर यह दूल्हे का भाई प्रार्थना-स्थल पर आता है। संगमनेर जैसे गाँव में इस तरह की पोशाक सबको विदूषक की पोशाक-सी लगी। वे सब हँस रहे थे। प्रार्थना में व्यवधान हुआ, इसलिए आचार्य उसे कतार से बाहर निकालते है। कक्षा में जाने का आदेश देते हैं। ऐसी स्थिति में वह घबरा-कर सीधे कक्षा की ओर भागता है। नीचे फरसी थी। सबके सामने वह फिसल जाता है। किताबें बिखर जाती हैं। फिर लड़के-लड़कियों को हँसी का उफान आता है।" यह सब मैं माईक पर बारातियों को बता रहा था और सारे बाराती पेट पकडकर हँस रहे थे। उनको वह सब मनोरंजन-सा लगता है। मजे की बात तो यह थी कि उस हँसी-मजाक में दूल्हे वाले भी शामिल हो गये थे।

उस दिन उस लड़के की मनोदशा मैं नहीं जान पाया। उसके पास शादी का सारी कैश। बस...वह अचानक गायब हो गया। सारे बारातियों में खलबली मची। अभी-अभी जो हँस रहे थे, वे अब मेरी तलाश में थे। सदाशिव मुझे घर के पलँग के नीचे छिपाता है। वैसे उसकी तलाश रात में ही जारी हो जाती है। उसे समझा-बुझाकर वापस लाया जाता है। सुबह होते ही बारात की औरतें मुझे देखने के लिए सामूहिक तौर पर आती हैं। "क्या, बाई, लड़का है ! दो रातों के लिए सबकी नींद उडा दी।" जैसे

रानी-बाग़ का कोई जानवर देखा हो, इस तरह वे सब मुझे देख रही थी।

फिर आगे सार्वजनिक जीवन में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति ज़ोर मार कर सिर उठाती रही। भीतर बहुत गहरे यह विद्रोह दबा हुआ था। दादासाहब मंत्री बने, तब की बात। अख़बारों मे उनका नाम पढ़ा और सादे कार्ड पर लिख भेजा : "आज तक दलितों के जितने मंत्री थे, सब पथभ्रष्ट और बदनाम थे। चेहरे पोंछ कर दलितों पर दया करने वाला नया मत्री आपको खड़ा करना पड़ेगा !" निश्चित ही छोटा मुंह बड़ी बात। दादासाहब कई बार मिले, परन्तु उन्होने इस पत्र का उल्लेख कभी नही किया। वैसे उनके पी० ए० की ओर से पत्र-प्राप्ति की पावती मिली थी। वह भी साइक्लोस्टाइल। ऐसे ही एक बार उनके जन्म-दिन पर मलाबार हिल उनके बंगले पर गया था। जन्म-दिन पर बहुत भीड। लॉन मे रोशनी की गयी थी। सिनेमा के भी कुछ लोग थे। मैं पुराने सम्बन्धो को लेकर गया था। उनका ध्यान मेरी ओर जाता है। सभा में मै बोलूं, ऐसा कुछ लोग सुझाते है। जब मेरी बोलने की बारी आती है, तब मेरा गला सूख जाता है। अंत में जो मन मे आया, बोल गया। दादासाहब को आंदोलनों, मोर्चों में मैंने देखा था। उन्हे मत्री की कुर्सी पर बैठा देखूं—यह बात ही अपने आप मे अजीब लगती। आज यह नया रूप स्वीकारने के लिए मेरा मन तैयार न था। आज भी मेरा उनके प्रति जो प्रेम है, वह आंदोलनो वाले दादासाहब पर है जिसने हमे विद्रोह करना सिखाया था। अबेडकर ने आंदोलन की दाहकता सिखायी। इतना बोलकर जब मैं नीचे बैठता हूँ, तब थक चुका होता हूँ। मैं यहां बेकार ही आ गया, ऐसा भी लगता रहा। दादासाहब वास्तव में महान थे। उन्होने उस दिन सबके सामने मेरी तारीफ की। मंत्री के सामने मैंने यह सब बोलने का जो साहस दिखाया, इसके लिए उन्होंने मेरा सम्मान किया। कुछ दिन पहले जब मैं उनके बंगले पर उनके जन्मदिन पर गया था, उस समय उनका मत्रि-पद समाप्त हो चुका था। हमेशा-सी भीड न थी। वातावरण उदास। दाना खत्म होने पर जैसे सारे पंछी उड़ गये हों, ठीक उसी तरह। मैं अपने बुरे दिनो में उनके आगे बढे हुए हाथ कभी नही भूल सकता। उनकी राजनीति के लिए मेरा बहुत अधिक उपयोग न था

और यह मेरा क्षेम भी नहीं था। परन्तु *उन्हीं का दिया हुआ जीवन-मूल्य* मैं प्राणों की तरह सहेजकर रखना चाहता हूँ। अपने-आप से प्रताड़ना ठीक नहीं, यह अंतर की आवाज़ ज़ोर देकर कहती है। एकाध बार कोई दूसरा यह बात कहे, यह मेरा पागलपन होता। पर यह लड़ाई आज भी दिमाग़ में *निरन्तर चल रही है। वे तो एक-दो बार ज़ाहिरा तौर पर बोले, 'यह* मुझसे हमेशा दो हाथ दूर रहता है। वह पास आये और रेशमी गाँठ बाँधे।" बम्बई में कई कार्यकर्ताओं को उन्होंने हाउसिंग बोर्ड के फ़्लैट ले दिये थे। मुझे इसका कभी मोह नहीं रहा।

फ़ाइनल का रिज़ल्ट आया। मैं अच्छे नम्बरों से पास हुआ। पर आगे क्या करूँ? सब अंधकारमय था। और पढ़ूँ, यह प्रबल इच्छा थी। फ़ाइनल के बाद यदि थोड़ी भी कोशिश करता तो बड़ी सहजता से स्कूल-मास्टर बन सकता था, परन्तु सारी उम्र देहात में खपने की इच्छा न थी। और देहात—वह था मात्र बिच्छू-डंकों का अंबार। जिन्दगी-भर मनस्ताप होता। इससे यदि बाहर निकलना है तो पढ़ना चाहिए। इसी बीच यह *मालूम होता है कि पड़ोस के गाँव में दलित विद्यार्थियों के लिए होस्टल है।* सचालक दादासाहब ही थे। मैं अर्ज़ी लिखता हूँ। तालुके में दादासाहब की सभा थी। सभा के बाद उनके हाथों में अर्ज़ी देता हूँ। छुट्टियों के बाद मुझे साक्षात्कार के लिए छात्रावास बुलाया जाता है। जब मैं इसके लिए जाता हूँ, *तब मेरे सिर पर गांधी टोपी थी। भीतर के कमरे में इस संस्था के पदा-*धिकारी बम्बई से आये थे। मुझसे मेरी जाति पूछते हैं। मैं अर्ज़ी में भी हरिजन ही लिखता हूँ। मैं बताता भी वही हूँ। मेरे 'हरिजन' कहते ही सभी मेरी तरफ़ देखने लगते हैं। कोई कहता है कि "स्वय को मैं 'हरिजन' *नहीं, 'महार' कहूँ। हरिजन, गांधी द्वारा हमको दी गयी गाली है।"* मेरा दिमाग चक्कर खाने लगता है। मछुआरों के छात्रावास या गाँव के मराठी स्कूल में आज तक का अनुभव यह था कि 'महार' कहने पर सवर्ण शिक्षक कहते, अपने को 'हरिजन' कह! और अब ये लोग 'महार' कहलवाते हैं! मैं अपनी व्यथा पदाधिकारियों के सामने बयान करता हूँ। मेरी

चपलता और सहजता देखकर वे खुश होते हैं। मुझे एक पेटी, थाली, लोटा और स्वय का विस्तर लाने की सूचना दी जाती है। मेरा मन फिर गेंद-सा उछलने लगता है।

संगमनेर-पुणे रोड पर यह छात्रावास था। नदी पार कर जाना होता। सगमनेर का ही हिस्सा था यह। इसे 'छोटा संगमनेर' कहते। दलितों के बच्चों के छात्रावास के लिए कोई सवर्ण अपनी इमारत कैसे देता? इस छात्रावास की इमारत एक मुसलमान की थी। इमारत के पिछवाडे मुसलमान मालिक अपने परिवार के साथ रहता था। सामने छात्रावास की इमारत। एक बडा हॉल। उसमे दीवारो के साथ रखी सबकी टीन की पेटियाँ थी। वही ओढना-बिछाना। बगल मे एक टीन का शेड। वहाँ भोजनगृह। छात्रावास के पीछे कुँआ। खाने के समय लोटा-थाली माँजने के लिए लडकों की भीड लग जाती। वही लोटा हम संडास के लिए भी बरतते। छात्रावास को सरकारी अनुदान मिलता। उसमें लडको के रहने और खाने की व्यवस्था मुफ्त होती। फिर हम गाँव के बड़े स्कूल में पढने जाते। गोखले एजुकेशन सोसायटी का गाँव मे एक भव्य स्कूल था। ईसाइयों का भी गाँव के बाहर एक हाईस्कूल था। परन्तु इक्का-दुक्का लडकों को छोड़कर वहाँ कोई भी प्रवेश न लेता।

छात्रावास में बहुसख्य विद्यार्थी महार। अपवादस्वरूप कुछ चमार, माँग, महादेव-कोली। रोल पर कम-से-कम पचास-साठ विद्यार्थी होते। बम्बई के कार्यकर्ता सस्था को जीवित रखने के लिए काफी परिश्रम करते। प्रारम्भ मे ग्राट नही थी। तब अनेको ने अपनी बीवियो के गहने गिरवी रखकर यह छात्रावास चलाया था। उनके त्याग की बातें कई बार सुनने को मिलती। संस्था का यह पहला छात्रावास था। सस्था के सचालक भाऊराव पाटिल का आदर्श सामने रखते। कुछ ही वर्षो मे सम्पूर्ण जिले मे संस्था का जाल फैल गया। उनके नाम भी क्रातिप्रेरक—श्रीरामपुर मे 'शबूक छात्रावास' तो अगस्ती गाँव में 'रमा-यशोधरा'। हमारे छात्रावास का नाम—'सिद्धार्थ'। इस नाम के पीछे दादासाहब की प्रेरणा। निश्चित ही दादासाहब का राजनीति से अधिक बड़ा काम इस क्षेत्र मे था। कहते हैं, जल्दी ही संस्था का बजट एक लाख तक पहुँच गया।

दलितो की जातीयता की धज्जियाँ सबसे पहले यही उडीं। वैसे महार विद्यार्थियो का छात्रावास पर रोबदाब। दूसरी जाति के लड़के दब कर रहते। छात्रावास मे धीवरों के तीन-चार लड़के किसी अन्य छात्रावास से यहाँ आये। वहाँ वे 'दादा' थे। परन्तु यहाँ भीगी बिल्ली बन कर रह गये। भोजन के हॉल में सब एक साथ बैठते। फिर भी व्यवहार मे जिस-तिस की जाति का झझट रहता ही।

हाईस्कूल का पहला दिन याद है। इतनी भव्य इमारत में पहले-पहल पढ़ने गया था। वैसे स्कूल बडा नामी था। शिक्षक भी ध्येयवादी। जीवन मे जो विभिन्न दिशाएँ मिली, इसी स्कूल में। स्कूल के शिक्षकों का मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव पडता गया। हर कक्षा में शिक्षक बदलते। इसमे भी मजा आता। आठवी मे हमें अँग्रेजी पढाना शुरू किया गया। लेकिन साहबों की भाषा तग कर देती। अँग्रेजी के लिए ब्राह्मण शिक्षक थे। गोरे-गोरे। कसी हुई देह। धोती, कुर्ता, गाधी टोपी पहनते। माथे पर तिलक। काम मे बहुत सख्त, पर दिल से नरम। हम देहातों से आये थे। इसलिए अँग्रेजी के उच्चारण न जमते। मुँह में पेंसिल डालकर वे हमें उच्चारण सिखाते। आठवी से ही अँग्रेजी मेरे लिए आफ़त थी। वह एस० एस० सी० तक बनी रही। बाक़ी विषय तो हाथ के मैल लगते।

बोडिंग के लड़को और मुझमे एक महत्वपूर्ण अन्तर था। ये लडके गाँव के लड़को से अधिक घुलते-मिलते नही थे। अपना अलग ग्रुप बनाकर कक्षा मे बैठते। पर मैं सवर्ण लड़को मे बिना किसी हिचक के शामिल हो जाता। बोडिंग के लड़के जिस सेक्शन मे थे, मैंने उसमे प्रवेश नही लिया। वैसे हमारा सेक्शन सबसे आगे था। पहले पाँच-दस स्थानो तक पहुँचने वाले लडके मेरे ही सेक्शन मे थे। भगत और भरीतकर का कोई भी हाथ नही पकड़ सकता था। अध्ययन मे भी ये आगे थे। ये उन दिनों के मेरे मित्र थे। दर्जी का लडका खाबेकर याद आ रहा है। यह मुझे बडा प्यार करता। वैसे ये लड़के धनवान परिवारो मे से थे। उनके कपड़े भी जगमग-जगमग। कडक इस्त्री। उनकी पोशाक की तुलना मे मैं साधारण लगता। परन्तु मेरी निडरता और बकबक करने की आदत के कारण वे मुझे अपने साथ रखते।

नाटक के प्रति मेरे पागलपन की बात भी बड़ी अजीब है। बचपन में

'तमाशा' का कलाकार बनने की इच्छा होती। इधर हाईस्कूल में नाटक ने पागल बना दिया। नाटकों के कारण पढाई के वारह वज गये। मैं अभिनेता बनूं, यह स्वप्न आँखों मे तैर जाता। हाईस्कूल में शुरू मे नाटक में प्रवेश कौन देगा? आज तक वोडिंग के लड़कों को यह अवसर कभी नहीं मिला था। स्कूल में कोई बड़ा समारोह था। स्कूल के लडके-लड़कियों के कार्यक्रम थे। विविध कार्यक्रम। स्टेज के सामने विद्यार्थियों की भीड़ में मैं भी एक दर्शक। ऐसे समय मेरे स्वभाव ने जोर मारा। स्टेज पर कार्यक्रम शुरू होने में कुछ समय था। मैं अपने काकतकर सर को जाकर मिलता हूँ। छोटा-सा कार्यक्रम प्रस्तुत करने की अनुमति माँगी। वे पल-भर मुझे देखते रहे। मैं वोडिंग का विद्यार्थी हूँ, वे पहचान गये। उन्होंने अनुमति दी। इससे पहले मराठी स्कूल में किये गये नाटक के कुछ टुकड़े याद थे। मैं स्टेज पर आकर एकपात्री नाटक शुरू कर देता हूँ। 'एकच प्याला' नाटक के सुधाकर के सवाद। "इस खाली गिलास मे तुम्हें क्या दिखता है...?" यह पूरा परिच्छेद ऊँची आवाज़ में कह डालता हूँ। जब परिच्छेद समाप्त होता है तो तालियों की गड़गड़ाहट होती है। बाद के एक-दो दिन बुढिया के बाल-सा मैं हवा में तैरता रहता हूँ। भीतर की सुप्त शक्तियो का आभास हुआ। स्कूल में भी मेरा सम्मान बढ गया था। इस कार्यक्रम के बाद मुझे अगले नाटकों में महत्वपूर्ण रोल दिये जाते हैं। मैं अपनी प्रत्येक भूमिका में जान फूँकने की कोशिश करता। उन दिनों दिवाकर की 'नाट्यछटा' कोर्स में थी। एक वार एम० एस० सी० की पुस्तक से 'तेवढंच ज्ञान प्रकाशात' [उतना ही ज्ञान प्रकाश में] नाट्यछटा मैं याद करता हूँ। उस समय मैं छोटी कक्षा में था। एम० एस० सी० के लड़कों के सामने मेरी इस नाट्यछटा का अभ्यास हुआ।

उस समय शिरवाडकर का 'बाजीराव' और 'मस्तानी' नाटक मैंने पढ़े थे। इनके अफलातून प्रेमविषयों और नाटक की भाषा से मैं बहुत प्रभावित हुआ। मेरी इच्छा थी कि यह नाटक स्कूल की गैदरिंग के लिए चुना जाये। मैंने नाटक की पुस्तक उठायी और सीधे प्रिंसिपल से मिला। स्कूल के प्रिंसिपल उपासनी थे। गोरे-चिट्टे। छरहरा शरीर। सड़क पर भी चलते तो मिलिटरी स्टाइल से चलते। मोड़ पर नब्बे अंश का कोण बनाकर

मुड़ते। वे स्कूल के एन० सी० सी० के प्रधान थे। शायद इसका भी असर रहा हो। पर लड़के उनसे थर्राते। वे मेरी ओर आश्चर्यचकित हो देखने लगे। झल्लाये नहीं। उन्होंने मुझे समझाया, "अरे, मस्तानी का काम कौन करेगा ?" इसका अंदाज मुझे भी था। वैसे संगमनेर गाँव कुछ अलग क़िस्म का था। पर लड़कों के साथ लड़कियाँ काम करें, यह बात यहाँ भी हज़म नहीं हुई थी। मैंने पहले ही एक ब्राह्मण के लड़के को मस्तानी के रोल के लिए तैयार कर लिया था। मैं उसका नाम लेता हूँ। प्रिंसिपल को स्कूल चलाना है। मुझे वे इनकार करते हैं। उस दिन मैं हारा हुआ बाहर निकलता हूँ।

नाटक का भूत हटा तो एक बहुत मामूली कारण से। मुझे याद है कि स्कूल का वह मेरा अंतिम वर्ष था। मन से नाटक का नशा उतरा नहीं था। स्कूल द्वारा इस वर्ष 'राजा अशोक' नाटक खेलने के लिए चुना गया। इस साल भी मुझे महत्वपूर्ण भूमिका दी जायेगी, ऐसा मेरा ख़याल था। परन्तु चुनाव में मुझे अशोक का रोल नहीं मिला। "अशोक राजा गोरा है और तू काला।" ऐसा कहकर शिक्षकों ने अशोक का रोल मुझे देने से इनकार कर दिया। अशोक के सरदार की भूमिका देने लगे। मैं बहुत क्रोधित हुआ। गुस्से में काँपते हुए मैं प्रिंसिपल से मिला। उस दिन उन्होंने मेरे सामने एक और नया सवाल उपस्थित किया—"यह तुम्हारा आख़िरी साल है। तुम जैसे गरीब लड़के के लिए नाटक का शौक अच्छा नहीं। ये धनवान लड़कों के धंधे हैं।" उस दिन न जाने क्यों मुझे अपनी असलियत का ईमानदारी से अहसास हुआ। भविष्य किसी सुनसान भयानक रेगिस्तान-सा दिखने लगा। मेरे दिमाग़ में कई प्रश्न आते-जाते। पहले-सा जोश न था। एक तरफ़ तो मुझे टाला गया है, इस अपमान से मैं दहक रहा था और दूसरी ओर पढ़ाई का पहाड़ मुँह बाये खड़ा था। उस समय एक बात हुई। मैं 'राजा अशोक' नाटक देखने तक नहीं गया।

स्कूल के सभी कार्यक्रमों में मैं जरूर उपस्थित रहता। विशेषकर भाषण, निबंध-स्पर्धा, खेलकूद आदि में। गाँव में सार्वजनिक स्थलों पर वाद-विवाद प्रतियोगिता होती। मैंने अपना नाम दिया तो बोर्ड के लड़के चिढ़ाने लगे,

"यह देखो, दूसरा अंबेडकर। सभा में भाषण कर रहा है।" मैं निराश हो जाता।

आजकल आपने कॉलेज में लडकों द्वारा 'रेगिंग' की बात तो सुनी ही होगी। ऐसे ही एक दिन मेरी भी रेगिंग हुई। होली का दूसरा दिन। बोर्डिंग में लडकों का रंग खेलना, रग ला रहा था। रंग न मिलने पर कीचड इस्तेमाल होता। इसी दिन स्कूल में मेरी संस्कृत की परीक्षा थी। कोर्स के बाहर दूसरे विषयों की खास परीक्षा स्कूल में ही होती। ड्राइंग, हिन्दी, संस्कृत ऐसे ही कुछ विषय थे। मैं कपडे पहनकर स्कूल जाने की तैयारी में था। बाहर लड़के घात लगाकर बैठे थे। मुझे पसीना छूटता है। अंत में कमरे का दरवाजा खोलकर सरपट दौडने लगता हूँ। लड़कों का रंग बच गया, इसी बात का संतोष था।

इस रेगिंग में आगे और नयी बातें जुडीं। इसका कारण मैं ही अपने ऊपर लेता हूँ। छुट्टियों में जब गांव जाता तो वहाँ मां-बहन के खाने की दुर्दशा देखी न जाती। हमेशा कलेजे में कील ठुकती-सी लगती। इसी बीच बोर्डिंग में काम करने वाली बुढिया थक जाने के कारण नौकरी छोड़ देती है। मैं संचालकों से मां की नौकरी के सम्बन्ध में बात करता हूँ। मेरी प्रार्थना मान ली जाती है। मैं छुट्टियों से वापस आते समय मां-बहन को लेकर ही आ जाता हूँ।

मां को खाने के अलावा तीस रुपये महीना मिलते। उसमें बहन का भी भोजन था। पचास-साठ लडकों का भोजन बनाना होता। पर मां कहती, "गांव की झंझट से यह अच्छा। एक जगह बैठकर रोटियां बेलनी हैं।" परन्तु हमारा यह सुख बहुत दिनों तक नही टिक पाया। मां के गले की ताबीज की गांठ-सा मेरा मन भी कसता गया। एक-एक गांठ फूटे और ज़ख्म रिसते जायें, ऐसी अवस्था।

बोर्डिंग के लडके मुझसे और अधिक द्वेष करने लगे। उनमें कुछ लडके अच्छे थे। उनकी सहानुभूति मिलती। परन्तु दादा लडके बडे आक्रामक थे। वे भी ऊँची कक्षा के।

मुझसे कोई बात न करता। *अब इसे खाने का मजा आ रहा होगा।* मां मुझे शायद चोरी से कुछ विशेष खाना देती होगी, ऐसी उलटी-सीधी

बातें कानों में सुनायी आती। इसलिए माँ से यदि कमरे में दो शब्द भी बोलने होते तो रोंगटे खड़े हो जाते। माँ और मेरे बीच एक अदृश्य दीवार खड़ी हो जाती। खाना खाने बैठने पर सभी की नजरें मेरी ओर—तीरों-सी तेज़ चुभती रहती।

वैसे माँ को बड़ी तकलीफ़ उठानी पड़ती। इसी काम के लिए लोकल बोर्ड के कोली बोर्डिंग में दो महिलाएँ थीं। वहाँ लड़के कम और पगार ज्यादा थी। उनके सर्विस फंड काटे जाते। माँ का शोषण होता था, पर किसे बताता? कहने पर सीधे कहेंगे, नौकरी करनी हो तो करो, नहीं तो छोड़ दो! कोल्हू के बैल-सी वह खटती। अपने बच्चे आँखों के सामने है, इतना ही संतोष उसे होता। सुबह पाँच बजे उसे उठना पड़ता। नाश्ते के लिए उसल[1] बनानी पड़ती। नाश्ता होते-न-होते तीन-चार पायली[2] बाजरे की रोटियाँ सेंकनी पड़ती। बोर्डिंग में भोजन के विविध प्रकार नहीं थे। रोटी और पतीली-भर पतली दाल। लड़के कहते, "बाई, यह क्या, कितनी पतली दाल? ऊपर की छत भी दिखती है।" माँ बेचारी क्या करती? दिये गये माल में ही उसे वह सब पकाना पड़ता। तीन-चार महीने तक माँ वहाँ थी। न केजुअल लीव और न पगारी छुट्टी। दहकते चूल्हे के सामने माँ बैठी दिखती। किचन के धुएँ से घुटती रहती। मानो वह गैस-चेम्बर हो। माँ यह मरण-यातना सिर्फ़ मेरे लिए सहती है। स्कूल को छुट्टी रहने पर माँ को भी उतनी ही छुट्टी मिलती। जैसे कोई कैदी पैरोल पर छूटे।

आज मेरे चेहरे पर उदासी की जो काई दिखती है न, वह उन्हीं दिनों की है। इससे एक बात हुई। मैं बोर्डिंग में अधिक देर तक न रुकता। भोजन के लिए आता। गाँव के सवर्ण मित्रों के साथ ही घूमता। उनके घर जाता। खावेकर के घर अधिक जाता। इसके घर मुझे बहुत स्नेह मिलता। अलबत्ता मैंने यह बात छिपा रखी थी कि मेरी माँ इसी गाँव में बोर्डिंग में काम करती है। फिर भी मेरे अधिकांश मित्रों को शायद यह मालूम था। परन्तु मुझे बुरा लगेगा, यह सोचकर शायद वे इसका जाहिरा उल्लेख न करते।

---

1. बिना तरी वाला चना या मूँग
2. एक प्रकार का तौल। एक पायली=16 किलोग्राम।

एक बार खांबेकर की माँ ने अचानक ही मेरी माँ के बारे में पूछ डाला। मेरे होशोहवाश उड़ गये। कोई चोर पकड़ा गया हो, कुछ इसी तरह मैं उस समय दिखा होऊँगा।

दादासाहब को भी मैं टालने लगा। जिस दिन वे छात्रावास मे आते, ठीक उसी दिन मैं गाँव चला जाता। वैसे यह एक का गुस्सा दूसरे पर निकालने जैसी बात थी। एक बार वे छात्रावास में आने वाले थे। सारे विद्यार्थियों को पहले से ही सूचना दी जा चुकी थी। लेकिन मैं जान-बूझकर उस दिन दोस्त के घर रुक जाता हूँ। वे वापस चले गये होगे, यह सोचकर बोर्डिंग में वापस आया। परंतु जब वे बाहर निकल ही रहे थे, तब उनमे मेरी मुलाक़ात होती है। वे बहुत झल्लाये, "मुफ़्त में खाकर सस्था का अनुशासन नही मानते ?" पर मैं मन-ही-मन हँस रहा था। मुझे सिर्फ़ इतना ही दर्शाना था कि मैं दादासाहब के बड़प्पन के सामने झुकता नही। दरअसल मेरा गुस्सा परिस्थितियों के कारण था और वे मेरी हालत नही समझ पा रहे थे। इस प्रकार का एक मजेदार द्वन्द्व हम दोनो के बीच था।

मुँह दबाकर मुक्कों की मार मैं सह रहा था। फिर भी एक बार मेरा दबा स्वर अचानक फूट पड़ा। धरती से लावा बाहर निकल पडा, ठीक वैसा ही लगा। मुझे अपने आप पर आश्चर्य हुआ। एक दिन स्कूल से आ रहा था। पेट में चूहे दौड़ रहे थे। बोर्डिंग के पास आते ही बंद कमरे से लड़कों की गाने की आवाज सुनता हूँ। साथ में टीन की डफली बजायी जा रही थी। वैसे बोर्डिंग में यह सब नया नही था। मैं यूँ ही दरार मे दरवाजे से भीतर झाँकता हूँ। वहाँ का दृश्य देखकर मेरे होश उड़ गये। नौ-दस साल की मेरी छोटी बहन नाच रही है और लड़के आनंद से गीत गा रहे हैं। शृंगारिक गाने पर बहन नाच रही थी—"ले चल मेरे राजा, संग-सग जेजुरी। काठियावाडी घोडी पर सामने बिठाकर।" यह गाना चल रहा था।

यह दृश्य देखकर मेरा दिमाग घूम गया। नसें चटकने लगती है। मैं ज़ोरों से दरवाजे पर लातें मारने लगता हूँ। मुझे यकायक क्या हो गया, यह सोचकर लड़के दरवाज़ा खोलते है। मैं गाली बकने लगता हूँ—"भोसड़ी के! अपनी माँ-बहनों को क्यो नही नचाते ?" मेरा विरोध कोई नही करता।

सब उठकर जाने लगते हैं। इतनी छोटी-सी बात पर मैं इतना अधिक क्रोधित होऊँगा, इसी पर सबको आश्चर्य हो रहा था। उस दिन मैं अत्यधिक बेचैन हो गया। बहन को सीने से लगाकर फूट-फूटकर रोता हूँ।

अब जो घटना मैं बताने जा रहा हूँ, उसकी मात्र याद से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जो घटना घटी, उसमें लड़कों का कितना दोष है, यह अलग बात है। भारतीय सस्कार सबकी नस-नस मे समा चुके है। उससे दलित लड़कों को मुक्ति कैसे मिल सकती है? परन्तु इस घटना से सारा जीवन ही फट गया। जिन लडकों के कारण यह रामायण घटित हुआ, उनके लिए आज मेरे मन मे तनिक भी द्वेष नही है। उनमें से कुछ ऑफ़िसर है। उनमें से एक तो जिला परिषद का सभापति। जब भी वे मिलते हैं, माँ की याद विशेष रूप से करते हैं। उसके बारे में आदर है उनके मन मे। उनमे से कुछ को माँ ने मुझसे भी अधिक स्नेह दिया। बात यूँ हुई कि माँ को बोर्डिंग मे आये एक महीना भी नही हुआ था कि माँ को मासिक-धर्म हुआ। उस पर वैसे पुराने सस्कार। इस 'अपवित्र' अवस्था मे पका भोजन लडको को कैसे खिलायें, यह उसके सामने दुविधा। माँ अपनी उलझन सुपरिटेंडेंट को बताती है। क्या करें? वे भी सोचने लगे। बाहर से यदि चार दिन के लिए बरतन-वाली बुलायी गयी तो यह हर माह का सिरदर्द हो जायेगा। "इससे क्या होता है!" कहकर वे उस दिन खाना पकाने के लिए मजबूर करते हैं। माँ के लिए और रास्ता न था। यह खबर लडको तक कैसे पहुँची, भगवान जाने।

मैं थाली-लोटा लेकर भोजन-गृह की ओर बढ़ता हूँ तो सारे लड़के एक कोरस में गा रहे थे, "पचका हो गया रे, पचका हो गया ऽऽ!" कोई भी भोजन के लिए तैयार नही था। क्या हुआ, यह मुझे मालूम न था। शायद सब्जी का शोरबा बिगड गया हो, मेरा ख़याल था क्योंकि कभी-कभी उसमे अधिक नमक होता तो कभी एकदम फीका—लड़कों की ऐसी हमेशा शिकायत होती। मेरे सामने माँ को बुलाकर डाँटने मे कुछ लोगों को बहुत आनद मिलता। उनमे से कुछ तो बढे शैतान। उन्होने माँ की अनुपस्थिति में एक-दो मुट्ठी नमक पतीली मे डाल दिया था। यह छल चलता रहता।

सबकी नजरें टलते ही मैं दो कौर ठूंसता। भावना का उफान अधिक बढने पर माँ के आँचल मे रो लेता। माँ की आँखों में भी आँसू न रुकते। उस उम्र मे कितने आँसू थे? थोडा बोलने पर भी गला भर आता। साने गुरुजी ने आँसुओं का समर्थ वर्णन किया है। परन्तु वे इतने वहने लगे कि आँखें सूखने की बारी आ गयी। मैं थाली से उठता हूँ और माँ के साथ क्या हुआ है, यह जानने के लिए आगे बढता हूँ। माँ बात स्पष्ट करती है। ऐसा लगा कि धरती फट जाये और हम माँ-बेटे को समा ले। समाज जिन लोगो को 'अपवित्र' समझता था, वे ही लोग स्त्री-देह को अपवित्र समझें। पर यह सब समझने की उम्र न थी।

एक बार माँ पर चोरी का आरोप लगाया गया। माँ बहुत घबरायी। उसे यही डर था कि मुँह का कौर न छिन जाये। चोरी भी किस चीज की, आटे की! वैसे इस आटे की चोरी से माँ का कोई संबध न था। सुपरिटेंडेंट विधुर थे। उनकी दूसरी शादी अभी-अभी छोटे सगमनेर मे तय हुई थी। वे सुबह-शाम वहाँ जाकर घूम आते। उनके नये रिश्तेदार पास के डाक-बँगले के आउट-हाउस में रहते थे। वैसे उनके लड़कों-बच्चों का काफी विस्तार था। मास्टर के हुक्म पर बोर्डिंग का माल उनके घर आने लगा। मास्टर उम्र की उतार पर और लड़की चढाव पर थी।...इसलिए मास्टर का हाथ कुछ अधिक ही दिलदार होने लगा था। एक बार ऐसे ही नये संबंधी की पत्नी को पिछले दरवाजे से टावेल में आटा देते हुए एक लडके ने पकड लिया, यह सब माँ पर थोपा गया। दवाव के कारण हम मास्टर का प्रकरण जाहिर रूप से न खोल पाये। मास्टर का रोष हमारे लिए महँगा पड़ता। उस दिन लड़कों के मंत्रिमडल में माँ पर जाहिर दोषारोपण हुए। पर माँ या मैंने मुँह नहीं खोले। बडी भयंकर समस्या थी। लगता, सब बेकार है।

हमारे रिश्ते मे देठे नाम का एक लडका था। काफी मोटा-तगड़ा था। ऊँचा-पूरा। बोर्डिंग में हमारी बड़ी फजीहत होती है, छल होता है, शायद यह बात उसे खल रही थी। उसके भीतर का ज्वालामुखी कुछ अलग ढंग

से फूटकर सामने आया। स्कूल आने से पहले वह बचपन में ढोर चराने जाया करता था। कुछ दिन ढोर चराने में निकल गये, इसलिए स्कूल में उसे कुछ विलंब से ही प्रवेश मिला। अतः दूसरे लड़कों से वह बड़ा लगता। ढोर चराते समय उसने 'गुराखी' नामक एक नया खेल देखा था—कान में कुछ देर किसी विशेष पेड़ की पत्ती डालने पर कुछ देर पागलपन के झटके आते। अब यह समझने के लिए कोई रास्ता न था कि पागलपन वास्तव में आता या वह ढोंग करता ? जब मैं गाँव में था, तब भी यह वनस्पति कान में डालने की हिम्मत न थी।

एक रात देठे ने शायद वह पत्ता कानों में डाल लिया था। उसे 'घुई' कहते हैं। किसी पुजारी की देह में कुछ संचार हो, ठीक उसी तरह आदमी घूमता रहता। मुँह में 'घुई का काँटा, घुई' बस यही रट। ठीक यही बात देठे ने की। उसके हाथ में एक पेड़ की डाल। जो भी सामने आता, देठे उसे पीटता। बोर्डिंग में हो-हल्ला मच गया। इस मारपीट में भी देठे की एक बात मेरी नजर से न छिप सकी। देठे मुझे या माँ को इस पागलपन का प्रताप न बताता। भीड़ में भी हमें छोड़कर दूसरे लड़कों पर वार करता। उस बोर्डिंग के दादा लोगों पर उसका ध्यान रहता। बाद में कई दिनों तक मुझे इसी बात का आश्चर्य होता रहा कि देठे ने मुझे क्यों नहीं पीटा ? उस दिन का 'घुई का काँटा, घुई' यह पागलपन सच था क्या ?

बोर्डिंग का प्रत्येक लड़का अनुभवों का अर्क था। करीब-करीब सभी गाँवों से आये थे। वे भी दूर-दराज़ से। बुरे संस्कारों का उन पर लेप चढ़ा होता। उनसे वे मुक्त भी कैसे हो सकते थे ? इस कारण झगड़ा, मारपीट हमेशा ही चलते रहते। इन सभी लड़कों के अतिरिक्त धनवान बाप का एक बेटा था। गाजर-सा लाल सुर्ख। चिकोटी लेने पर खून निकल आये, ऐसा। सबसे छोटा। बंबई में उसके पिता फ़ोरमैन थे। उसे हर माह मनिआर्डर आता। उसके कपड़े सबसे अधिक चकाचक होते। वह नाममात्र के लिए बोर्डिंग में खाता। अधिकतर होटल में ही खाता। सबके सामने दो-एक कौर खा लेता। उसके दोनों भाई बंबई में पढ़े नहीं। मवालियों की संगत में थे, इसलिए उसके पिता ने इसके बारे में बचपन से ही यह सावधानी बरती। सारे लड़के उसके शब्द झेलते और उसे सिनेमा-होटल में

काटते। उसकी तरह अच्छे कपड़े पहनने के लिए लालायित रहते।

खाने के लिए लड़के मास्टर से सदैव झगडते। उसमे भी फ़ीस्ट के लिए अधिक। मास्टर के पीछे लड़के हिसाब की खाताबही टटोलते। ग्राट कितनी मिलती है, लड़कों को जबानी याद था। सुबह जो उसल नाश्ते में दी जाती थी, वह बंद कर दी गयी थी, इसलिए लडको में गहरा असतोष था। मास्टर पर दया आती। उसकी नौकरी तलवार की धार-सी। एक तरफ़ ट्रस्टी और दूसरी तरफ़ लड़के। मास्टर दो पाटो के बीच में! ग्राट की किश्त जल्दी न मिलती। इसलिए किराना दुकान की उधारी दो-तीन महीने से देनी बाकी थी। कभी-कभी फ़ाके पडते। मास्टर और ट्रस्टी के नाम से लडके होली करते। कभी ट्रस्टी के सदस्य आते तो लडके भोजन के बारे मे उनसे शिकायत करते। सस्था के हिसाब में गडबडी होती। सरकारी ग्राट पर्याप्त न होती। सरकार कहती, "आधे पैसे आप लोगो से जमा करें।" विशेष सहायता भी न मिलती। उसमें भी पैसे अतिम रूप से खर्च करने तक उसमें कई हिस्से रहते। मास्टर पैसे खाते हैं, यह आरोप तो कभी भी नया नही था। महँगाई बढने पर गली के लड़के दुकानदार पर धौंस जमाते, कुछ ऐसा ही था।

'डॉ० अंबेडकर जयती' या किसी बड़े त्योहार के अवसर पर बोर्डिंग में फ़ीस्ट मिलती। यदि सहज प्राप्त न होती तो लडके घेराव करते। फ़ीस्ट अर्थात् होटल से मेन आइटम लड्डू या जलेबी लाना। उस दिन लड़के भात या चपाती को हाथ न लगाते। खाते समय शर्तें लगती। उस समय की एक शर्त याद है। ऊपर की कक्षा के एक लडके ने बड़े-बडे बीस-पच्चीस बूंदी के लड्डू खाये। हम सब अवाक रह गये। हफ़्ते में एक बार मटन मिलता। मटन यानी सिर्फ़ शोरबा-ही-शोरबा। एकाध बोटी मिलती। एक बार गलती से बाजार-हाट करने वाले लड़के भेड़ का मटन ले आये। बात बाहर आने में समय नही लगा। लड़कों ने भोजन पर बहिष्कार किया। एक-दो लोगों ने खाया। बाकी लड़कों के लिए होटल से मिक्चर और लड्डू लाकर देना पड़ा। मास्टर कहते, "अतड़ी में तो गया सब, अब चमड़ी क्या बचाते हो?"

बोर्डिंग-सुपरिंटेंडेंट भागवत मास्टर आदर्श व्यक्तित्व के धनी थे।

उनका भोजन अलग न होता। पगत में ही बैठते। उनसे पहले लडकों को मास्टरों का बुरा अनुभव था। लडकों ने उन्हें करीब-करीब खदेड दिया। परन्तु भागवत मास्टर के बारे में लडकों के मन मे आदर था। मास्टर लडको का पक्ष लेकर ट्रस्टी के साथ लड़ते। लडको का दुख-दर्द देखते। मास्टर के कोई नखरे नही थे। बहुत सादे रहते। उनकी देह लकडी-सी सीधी सपाट। बाल तिरछे काढ़ते। बालों का एक झुमका माथे पर रहता। एक हाथ से कोट का कोना पड़कना उनकी आदत थी। शायद उनके सामने का एक दाँत निकल गया हो। वे किसी समय फ़ौज मे थे। इस कारण उन्हें व्यायाम प्रिय था। लडके व्यायाम करें, खेल खेलें, ऐसे उनके आदेश होते। शाम को ग्राउंड मे खेलने न आने पर वे भोजन बंद कर देने की भी धमकी भी देते। परन्तु सब का भोजन हो जाने पर ही उन्हें उस लडके की याद आती। सानवणे नाम का एक लडका था। हमेशा हाथ में तंबाकू मलता रहता। खेलने से नफरत-सी थी उसे। उसे मास्टर के आदेशानुसार सीधे उठा कर ग्राउंड पर लाया गया। पर जैसे कोई भैंस पानी में बैठ जाये, वैसे ही वह भी धूल मे बैठ गया। खेलने का नाम नही। अंत में मास्टर ने उसका पीछा छोड दिया। कवायद के लिए वे प्रातः उठते। संगमनेर-पुणे रोड पर वे सबको लेकर दौड़ते। दौडते समय वे सबसे आगे। एक बार उन्होंने हवाई हमला होने पर ज़मीन पर कैसे गिरना चाहिए, इसका प्रदर्शन दिखाया। इस प्रदर्शन के समय वे कुछ इस तरह गिरे कि छाती की तकलीफ से दो महीने बीमार। उनकी छाती पर पट्टे बांधने पड़े। हम लड़कों का मनोरंजन हुआ। उसके बाद उन्होंने कवायद की बात कभी नही कही।

बोर्डिंग के लडकों में हाईस्कूल की लड़कियों के बारे में काफी चर्चा रहती। वे सब सवर्णों की थी। उनका रोज़ मेकअप। उनकी साड़ियों की भी चर्चा होती। कुछ लड़के तो साड़ियाँ गिनते। बोर्डिंग के कई लड़कों के पास कपड़ों की एक-दो जोड़ी ही होती। इस लिए लड़कियों की इतनी साड़ियाँ देखकर वे चकरा जाते। कुछ लड़के कक्षा की लड़कियों से इकतरफा प्रेम करते। सिर्फ़ कापियों का लेन-देन होने पर भी आसमान छूने का-सा सुख मिलता। पाटारे नाम का एक विद्यार्थी था। हीरो-सा रहता। गाँव से धनवान मित्रों की दमड़ी लेकर आता। स्कूल जाते समय हमेशा

अप-टू-डेट रहता। वह एक ब्राह्मण की लड़की पर मरता है, इसकी जानकारी कुछ लड़कों को थी। चिढ़ाने पर उसकी कली और खिल जाती। एक बार लड़कों ने मज़ाक किया। एक चिट्ठी लिखकर उसकी कापी में इस तरह रखी जैसे कि लड़की ने ही भेजी हो। एस० टी० नाके पर शाम को बुलाया है, ऐसा उसमें लिखा था। पाठारे को कितना आनद हुआ, कैसे बताऊँ ? वह सबको यह प्रेम-पत्र बताता फिरता रहा। उसके पीछे सब हँसते। जाते समय वह सजधज कर गया था। पर वह आयी ही नही, इसलिए मुँह लटकाकर वापस आ गया। उस रात सब उसके साथ ठीक वैसे ही खेल रहे थे, जैसे बिल्ली चूहे के साथ खेलती है। बेचारा रुआँसा हो गया था।

इसके एकदम विपरीत रोकड़े की घटना। अन्तर्मुख करने वाली। बोर्डिंग का यह स्कॉलर लडका। घर की हालत गरीबी की। माँ-बाप मेहनत-मज़दूरी करते। उसे किताबों और कपड़ों की बड़ी परेशानी होती। रात में उसकी कक्षा के लडके जब सो जाते तो वह अध्ययन के लिए उठता। उनकी किताबें पढ सके, इसलिए। दिन मे कोई न देता। उसके सभी विषय अच्छे थे। संस्कृत और गणित मे उसे शत-प्रतिशत नंबर मिलते। कक्षा में हमेशा पहला-दूसरा स्थान आता। उसकी कक्षा में कुलकर्णी नाम की एक बड़ी प्यारी लड़की थी। अध्ययन के सिलसिले में उन दोनो का परिचय बढ़ता गया। शाम को वह अपने बूढे दादा के साथ बोर्डिंग की ओर घूमने आती। तब रोकड़े आस-पास चक्कर लगाता रहता। आस-पास का बहाना कर दो शब्द बोलता। कुलकर्णी दिखने मे बड़ी सुन्दर। गुलाबी गाल। सुडौल कसाव। तेजस्वी आँखें। केतकी-सा रग। रोकडे उसके साथ घटो बोलता रहता। रोकड़े और मेरे चेहरे आदि मे साम्य था। हम आपस मे कपड़े भी बदल लेते। इसलिए स्कूल में सब यह समझते कि रोकड़े मेरा छोटा भाई है। रोकड़े और कुलकर्णी का प्यार किस हद तक पहुँचा था, समझने का कोई रास्ता न था। परन्तु एस० एस० सी० की परीक्षा के समय जब सेंड-ऑफ का कार्यक्रम हुआ, तब दोनों खूब रोये। रोकड़े बाद में बंबई आ जाता है। कुलकर्णी पूना चली जाती है। रोकडे कॉलेज में पढ़ता है। परन्तु दो-तीन साल कॉलेज में रहने के बाद भी वह

कुलकर्णी को नहीं भूल पाता। उसकी आँखों में हमेशा कुलकर्णी ही घूमती रहती। पूरे चार वर्षों के बाद कुलकर्णी उसे थाना मे अचानक मिलती है। रोकड़े की तरह वह भी ग्रेजुएट हो चुकी थी। रोकड़े उसे अपने स्कूल के प्यार की याद दिलाता है। 'हम दोनों शादी कर लें,' सुझाता है। दरअसल पूरे चार साल तक रोकडे यही सपना संजोकर जी रहा था। कुलकर्णी इस प्रेम का औपचारिक, स्वागत करती है—"इतने साल तू कहाँ था? मैं तो तुम्हें भूल ही गयी थी। स्कूल का वह सब तू कैसे सच मान बैठा?" ऐसा उसने उसे कहा। रोकडे पागलों-सा विचलित हो गया। वह उसे भूलने की स्थिति मे नहीं था। बाद में वह उसके रिश्तेदारों को भी मिला। उन्होंने तो सीधे उसकी जाति दिखा दी। किसी जलप्रपात पर ज्यों पटका जाये, ठीक वैसे ही टूट गया।

उन दिनों सगमनेर मे एक अन्तर्जातीय विवाह बहुत चर्चित रहा। दूल्हा ब्राह्मण और दुल्हन महार। लडकी सगमनेर महारवाडा की थी। शायद उसका नाम हसा था। हसो-सी सुदर। यह प्रेम-विवाह नहीं था। सीधे प्रपोज्ड मैरेज थी। हाईस्कूल मे एक ब्राह्मण शिक्षक थे। वे अपने प्रगतिशील विचारों से पहचाने जाते। नाम देशपांडे। उसने अपने इकलौते बेटे के लिए हसा का हाथ माँगा। गाँव में खलबली मच गयी। कुछ लोगों को शिक्षक विक्षिप्त लगे। कोई कहता, "दूल्हा लडका टी० बी० से बीमार है। उसे अपनी जाति में कोई लड़की नहीं देता, इसलिए महार की बहू बनाने चला है।" शादी धूम-धाम से होती है। कलेक्टर, प्रसिद्ध नेता शादी मे आते हैं। पर इसका अंत बड़ा दुखद हुआ। एक लड़के को जन्म देकर दूल्हा लड़का चल बसा। हसा सफेद माथा लेकर फिर महारवाड़ा में वापस आती है।

शरीर मे वासना उफनने की मेरी भी उम्र थी। परन्तु मराठी स्कूल मे बानू की घटना से मुँह जल जाने के कारण मैं छाछ भी फूंक-फूंक कर पीता। सवर्णों की लडकियों से कुछ दंद-फंद करने की हिम्मत न होती। पर मन की क्यों छिपाऊँ? वैसे उनका आकर्षण बहुत लगता। मैं और खावेकर बैठते

तो ठीक लड़कियों की बेंच के पीछे। उनके मेकअप की सुगंध आती। बालों को हाथ लगाने की इच्छा होती। खाबेकर से बात करते वक्त ज़रा फ़ालतू बातें भी कर लेता। लड़कियाँ शरमा जाती। लडकियाँ अलग बैठती। लडकों से विशेष बात न करती। बीच की छुट्टी में एक भी लड़की न रुकती। फुर्र-से उड़ जाती। ऐसी लड़की-विहीन कक्षा पर मैं कब्ज़ा करता। लड़के जमा कर फ़ालतू जोक सुनाता। गाने बनाने की आदत इसी समय शुरू हुई।

कक्षा की लड़कियों पर 'कक्षा में भई लडकियाँ चार, मेरे दिमाग का बनायें अचार', ऐसे ही कुछ गीत लिखे थे। निश्चित ही यह एक प्रसिद्ध गीत की पैरोड़ी थी। अंतिम वाक्य में उनकी शारीरिक कमियों का उल्लेख होता। इस कविता मे 'सपाट लोशन' शब्द का प्रयोग किया था। जिस लड़की की छाती सपाट होती, उसके संदर्भ का शब्द प्रयोग करता। लडकों में यह शब्द पॉपुलर हो गया था। इसी शब्द से याद आया। कुछ शब्द किसी विशेष हिस्सो के लोगों मे ही प्रचलित होते हैं। संगमनेर में 'लकड़ी हुई' इसी तरह का प्रयोग है। यहाँ 'डडी उड़ी' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया जाता था।

जब से कुछ समझ आयी, मुझे पढ़ने मे वडा आकर्पण लगता। पढते समय भूख-प्यास सब भूल जाता। पर जैसे पेट की भूख शात नहीं हुई, वैसे ही पढने की थी। मेरा उस समग मज़ाक उड़ता, "यह मैले का काग़ज़ भी पढ़ेगा।" वचपन में उमा दादा पीले काग़ज़ों की पोथियाँ पढने न देता। इसलिए बाद में जो भी पुस्तक हाथ लगती, पढ़ता चला जाता। लाइब्रेरी का मेंबर बनने के लिए पैसे न होते। इसके कारण एक बात हुई। धनवान मित्रों के पास उन दिनों 'मस्ती' और 'उन्माद' नाम की कुछ अश्लील पत्रिकाएँ आती—पीले कागज़ मे। उनमें नगी औरतों के चित्र होते। इन चौरासी-आसनों वाली पुस्तकों को पढने का चस्का लग गया। शनिवार को दोपहर में छुट्टी होती। इस समय मैं उन्हें पढता। कभी-कभी बोर्डिंग मे लाता। किसी को न दिखाता। कोर्स की किताब में छिपा कर पढ़ते समय एक बार भागवत मास्टर ने मुझे पकड़ लिया। मै भौंचक्का रह गया। परन्तु

फिर भी काफ़ी दिनो तक इन पत्रिकाओं की आदत नही छूटी। पढते समय सारे शरीर मे वासना की बाढ़ उफनती। इसी उम्र मे इकसठ-बासठ की आदत लगी। इसके कारण शरीर का सत्यानाश होता है, यह बताने वाला कोई गुरु उन दिनो नही मिला।

इन्ही दिनो एक लड़की से संपर्क बढा। उसका नाम गऊ वडारिण था। शायद उम्र का भी दोष रहा हो। वही क्यों पसंद आयी? यह भी एक प्रश्न हो सकता है। बोडिंग के पास ही वडारों के कुछ तंबू थे। बारदाने से बँधे हुए। वे गिर न जायँ, इसलिए अंदर लकड़ियाँ गाड़ देते। भीतर जाना हो तो कमर तक झुककर जाना पडता। उन्ही मे से एक तंबू मे गऊ रहती थी। उसके साथ सिर्फ उसकी बूढ़ी माँ थी। उसकी बड़ी बहन की शादी हो चुकी थी। गऊ की बहन पास के तंबू में रहती थी। शादी के कई वर्ष बाद भी उसे कोई लडका-बच्चा नही हुआ। गऊ की बहन का पति किसी राक्षस-सा दिखता, काला-भिल्ल। आँखें हमेशा चढी हुई। उसकी गऊ पर नज़र थी। बच्चो के लिए वह गऊ से शादी करना चाहता था। पर गऊ को वह तनिक भी पसद नही था।

गऊ वैसे सुदर थी। खूब भरी-भरी। मकई के गदराये भुट्टे-सी। उजली ललाई लिये हुए। वडारिन पहनती है, वैसी साड़ी पहनती। खूब कसकर बाँधती। नाचने वाली पहनती है न, वैसी। नौ-गज़ी पद्धति से। आँचल छाती को कस कर लपेटा गया। पर बाहें खुली-खुली। स्लीवलेस ब्लाउज़ की किसी महिला की हो, ठीक वैसी। गऊ दोपहर मे माँ के पास गप्पें मारने आती। अपने भविष्य की चिंता माँ को गंभीरतापूर्वक बताती। ऐसे समय मै पढने के बहाने उसके आसपास मँडराता रहता। पुस्तक के अक्षर पर मेरा ध्यान न होता। गऊ एकटक मुझे घूरे जा रही है, यह भी ध्यान मे आता। सारा शरीर रोमांचित हो जाता।

गऊ माँ की थोड़ी-बहुत मदद कर देती। कभी-कभी रसोईघर, खाने का हॉल गोबर से लीपती। ऐसे समय उसे लीपते हुए एकटक देखना मुझे बडा अच्छा लगता। दोनो हाथ गोबर से सने हुए, माथे पर आगे झूलती लटें। मेरी ओर देखकर मंद-मंद हँसती हुई वह गोबर से ज़मीन पर कमल

की पँखुरियाँ बनाती । एक पँखुरी से दूसरी पँखुरी उकेरती जाती। ऐसे समय उसकी चूड़ियो की खनखनाहट कानो में पड़ती। यह रूप आज भी मेरे मन पर गहरा खुदा हुआ है।

गऊ से क़रीबी होने का साहस न होता। उसकी आँखो से इच्छा प्रकट होती। पर माँ का मुझ पर पूरा ध्यान होता। मैं गऊ के आस-पास ज्यादा मँडराता तो माँ तंग आकर कहती, "आख़िर तू बाप जैसा ही होगा रे !" यह हमला सीधे मेरे हृदय पर होता और मेरे सारे अंग कछुए-से सिमटते जाते।

गऊ के साथ बात होती, वह भी बड़े मज़े की। गऊ अनपढ थी। पर उसे जीवन की समझ बहुत गहरी थी। समझ आते ही वह मजदूरी करने लगी। एक-दो बार उसका हाथ अपने हाथ मे लेकर देखा था। एकदम खुरदुरा था। लोहे की सलाखों-सा लगता। मेरी हथेली काफी नरम। पर उसकी खुली बाँहें कमलनाल-सी। वासना सुलगाती।

एक बार उससे मैंने पूछा था—चोली क्यो नही पहनती? दरअसल उसे बलाउज पहनना पसंद था, पर उसकी जात-पचायत बड़ी सख़्त। बहिष्कार करते। चोली क्यों नही पहनती, इसका भी मजेदार किस्सा। 'रामायण' में सीता को हरिण-चर्म की चोली नही मिली, इसलिए हमने भी चोली पहननी बद कर दी। गऊ के तर्क न पटते। पर पता नही क्यो, गऊ को भगा ले जाने वाला रावण यानी मुझे उसका राक्षसी-जीजा ही लगता। शायद उसे मुझ पर संशय था। पर आते-जाते मुझे घूरकर देखता। उसके कधे पर चमकती चंद्रभान कुल्हाड़ी होती। मेरा कलेजा काँप उठता।

अत मे गऊ की शादी उसके जीजा से ही हुई। उसने जात-पचायत की बैठक बुलायी। पचों को दारू पिलायी। गऊ का पिता तो था ही नहीं। माँ बेचारी कितना विरोध करती? बहन की सौत के रूप मे उसने माँ का तबू छोड़ा। शादी के समय सुअर काटा गया था। कानों के परदे फाडने वाली उसकी चीत्कार सारे बोर्डिंग में फैल गयी थी। अगली कुछ रातें बेचैनी मे कटी। रात-भर सुअर की चीत्कार सुनायी देती। उसके पीछे गऊ का निष्पाप चेहरा दिखता। कुछ ही दिनों मे वडारों के तंबू वहाँ से उठ चुके थे। उस गाँव में उनका मुकाम पूरा हो चुका था। फिर भविष्य

में गऊ कभी नही दिखी। रास्तों पर या बांध पर जब मैं वडारी स्त्रियाँ देखता हूँ, तब गऊ को खोजता हूँ। परन्तु यह तलाशना हास्यास्पद है, यह बात क्षण-भर को भी न समझ पाता।

माँ के और मेरे सबंध बड़े खुले-खुले। मैं उससे कुछ भी न छिपाता। उसकी एक सीख थी। अपनी जिंदगी की सारी अच्छी-बुरी बातें किसी एक व्यक्ति को मालूम रहनी चाहिए। पता नही, यह दर्शन उसने कहाँ से सीखा था? परन्तु उसकी इस सीख का मुझ पर बडा गहरा असर हुआ। आज यह जो मैं बता पा रहा हूँ, उसी श्रद्धा से। बडा हो जाने के बाद भी जब लाड मे आता तो माँ की जाँघो पर सो जाता। ऐसे समय माँ बालों पर हाथ फेरती। उसकी आवाज बड़ी सुरीली। वह कोई गाना गुनगुनाती। जब गाँव मे रहता तो जाता[1] पर गाने सुनना मेरा खास शौक था। उसके गाते समय अपने-आप आँखो से अश्रुधारा बह निकलती। बोर्डिंग में रहते समय जब कभी उसे छुट्टी होती, तब मैं पुस्तको से कहानियाँ पढ़कर सुनाता। एक बार 'मानिनी' कहानी सुनाते समय उसे अपना मायका याद हो आया —अपना कमजोर पक्ष। मायके के लोग किस तरह हलका व्यवहार करते हैं, इसकी उसे याद हो आती। पति के मर जाने के कारण वह दूसरा घर बसाये, यह मायके वालों की इच्छा थी। वह उम्र-भर इस बात को नही भूल पायी। यह बात याद आने पर उसकी ऐसी हालत हो जाती, जैसे कलेजे में तीर लगा हो।

शायद इन्ही पुरानी बातों के कारण वह छुट्टियों में भी ओरंगपुर जाने की बात मुँह से न निकालती। बबई के लिए तो वह 'ना' ही कहती। ऐसे समय हम मौसी के गाँव जाते। मौसा-मौसी वैसे तो बहुत गरीब थे, परन्तु मन के बड़े अच्छे थे। मौसी का गाँव भी मुझे बड़ा अच्छा लगता। गाँव के किनारे हमेशा हरियाली। नदी का पानी बाँध से झर-झर, झर-झर बहता रहता। इस गाँव मे औरतें सुबह ही जाता पर पीसने बैठ जाती। प्रत्येक घर में सुरीली आवाज मे चूड़ियाँ बजती होती। करीब-करीब एक-दूसरे

1. आटा पीसने की चक्की

से स्पर्धा चलती। यह गाँव वैसे बहुत ही रंगीन क़िस्म का था। पुरुष लोग बजनियों की टोली लेकर गाँव-गाँव घूमते। शाम को लावणी गाते। कोई भी पुरुष मेहनत के काम न करता, पर स्त्रियाँ रात-दिन धनवानों के घर मेहनत-मजदूरी करती।

मैं शादी कर लूँ, इस बात को लेकर मौसी के गाँव के लोग माँ को तंग करते। एक बार तो एक लडकी को मेरे लिए चुन लिया गया। परन्तु शादी के लिए मैं बहुत टाल-मटोल करता। वैसे महार लोगों में जल्दी शादी करने की परम्परा है। उनके हिसाब से मैं बहुत बड़ा हो गया था। माँ को वे घेर लेते। इस गाँव की कुँआरी लडकियाँ भी मेरी ताक मे थी। हँसी-मजाक करती। परन्तु मैं बहुत ही किताबी था। घर आयी चीज़ से लाभ उठाने की इच्छा न होती।

एक बार एक सयानी हो चली लड़की ने तो अच्छा-ख़ासा हमला ही कर दिया। मैं घबरा गया था। माँ को सब-कुछ बता दिया। माँ से मैंने कहा, "आये, चल निकल चलें यहाँ से। इस गाँव से बडा डर लगता है!"

मुझे देखकर माँ हँस देती।

'विधवा का बेटा बहुत अक़्लमंद होता है।' ये उद्‌गार बचपन से ही मेरे हिस्से आये थे। इसमें खिल्ली उड़ाने की भावना होती। परन्तु तब ये उद्‌गार मैं तमगे-सा लगाकर घूमता। लगता, वास्तव मे अपने पास 'अक्ल' है। नही तो इस उम्र मे ही जो भोग लिया, वैसा किसके हिस्से आता है? इसी कारण कच्ची उम्र में ही बुजुर्गों-सी गभीरता चेहरे पर छा गयी। अपनी उम्र के लडकों के साथ खेलने के बजाय कुछ अलग तरह का किया जाये, बड़े-बुजुर्ग लोगो मे बैठा जाये, ऐसा हमेशा लगता। अपने गाँव कभी-कभी जाता। अँग्रेज़ी स्कूल में पढ़ने के कारण गाँव में भी खूब सम्मान मिलता। अब हमारी हालत कुछ ठीक थी। माँ की मेहनत की कमाई से शरीर पर नये-कोरे कपड़े आ जाते हैं। धीरे-धीरे महारवाडा के लडको से मैं कुछ अलग लगने लगता हूँ। महारवाड़ा के लोगो की चिट्ठी लिखना, लड़को को पढ़ाना, महारवाड़ा झाड़ना आदि धंधे सूझते हैं। ढोलकी, तुन-तुना सीखना, कुछ हलके दर्जे का लगने लगता है। बाप का 'कांडा' तो स्वयं

ही पड़ोस में चाचा को दे आया था। घर में उपज रही विद्या मैं सीख नहीं पाया, इसका खेद आज भी है। अपनी परंपरा की अच्छी बातें छोड दी। आज मैं कोई भी वाद्य नही बजा सकता। बाप ढोलकी बहुत अच्छी बजाता। शहनाई फूंकता। परन्तु इसी धंधे से उसकी कितनी फज़ीहत हुई। आज मैंने अपने छः साल के लडके को कुर्सी बजाते देखा। वह भी ताल-सुर मे। मैं चकरा गया। मुझसे टूटी सस्कृति की नाल यह इस तरह जोड़ेगा क्या?

गाँव मे न रहने के कारण हमारे अपने घर की बडी दुर्दशा हो गयी। दरवाजे के सामने कँटीली झाड़ियाँ उग आयी थी। ऊपर कुछ खपरैल अस्त-व्यस्त। सामने ओसारे के बाँस भी कोई उखाड़ ले गया था। हमसे बिना पूछे ही गाँव का वडारी हमारे घर मे गधे बाँधता। जहाँ मेरा जन्म हुआ, वहाँ गधे बाँधें जायें, इसी का गहरा दुख। बहुत क्रोध आता। पर घर किसे देना चाहिए, यह भी न सूझता। पड़ोस मे जावजीबुआ की बड़ी कोठी। बहुत ऊँची। उनकी देखभाल और दबाव के कारण घर बचा रहा, ऐसा उनका ही कहना था। लेकिन घर के बीच की चौखट वे ही उखाड़ ले गये थे। कोई चुरा न ले जाये, इसकी सावधानी उन्होंने बरती। बाद मे जब खुद के घर मे उन्होने पिछवाड़े एक दरवाज़ा बनाया तो यह चौखट और दरवाजे के किवाड़ वहाँ लगे थे। परन्तु 'हौज से गयी, वह बूँद से नही आती'—इस न्याय के कारण हम चुप ही रहे।

जावजीबुआ का घर दूध-दही से भरपूर। हमारे घर तो एक मुर्गी भी नही थी। मेरे गाँव आने पर जावजीबुआ पत्नी से कहता, "बच्चे को दूध परोस।" बड़े आग्रह से भोजन के लिए बुलाता। परन्तु मुझे दूध कभी पसंद न था। बड़ी मुश्किल से निगलता।

जावजीबुआ का घर वैसे पुराने ढग का। गाँव पर उसका रोब-दाब भी वैसा ही था। उनके आते ही सब की बोलती बंद। जावजीबुआ तालुके का नेता था। सुबह होते ही सफ़ेद-झक्क् कपड़े पहनता। साफ़ा भी वैसा ही उजला। बग़ल मे छाता दबाकर तालुके में जाता। आस-पास के गाँव के

नेता लोग यहीं जमा होते। कोई बंबई वाला आया कि उसके चारों ओर जमा हो जाते। चाय बनाना इनका धंधा। हर दिन कोई-न-कोई मिलता। बाद में जब मैं नौकरी पर लगा, तब ये इसी प्रकार गिद्धों-से मुझे घेरकर बैठ जाते। कहते, "इसका बाप क्या आदमी था! बडी इंसानियत वाला। उसकी तुलना में बेटा कुछ भी नहीं!" यह सब संवाद मेरे सामने होता। चाय पीकर ये सब चलते बनते।

जावजीबुआ की माँ जीवित थी। दोनों आँखों से अंधी। नाम चंद्राव। बालों का गोला बनाया था। भौंहों के बाल भी पक गये थे। हाथ की चमड़ी पर भी झुर्रियाँ। चंद्राव के पास मुझे बडा अच्छा लगता। बुढिया को घर में सभी सताते। उसकी दुर्दशा मुझसे देखी न जाती। उसे समय पर कोई खाना न देता। उसके कपड़े कोई न धोता। घर के लडके-बच्चे तक उसे दिशा-मैदान कराने न ले जाते। उसको देखते ही मेरी अँतडियाँ चटखने लगती। मैं घंटों उससे गप्प लडाता। उसकी लाठी पकड़कर उसे दिशा-मैदान के लिए ले जाता। उसके पास कथाओं का बड़ा स्टॉक था। मैं उसकी आँखों के गड्ढों में गहरे-गहरे देखता। सिर्फ अँधेरा दिखता। उसकी बातों में भी मजा आता। उसका और मेरा मजेदार खेल चलता। वह सिनेमा शब्द का उच्चारण न कर पाती। सिनेमा का उच्चारण वह *'सिडीमा'* करती। कई कोशिशों के बावजूद वह उच्चारण ठीक न कर पाती। उसे जब मिट्टी दी गयी, तब मैं गाँव में नहीं था। कहते है, मरते समय वह मेरी बहुत याद कर रही थी। उसके मरने की खबर सुनकर मेरा मन भर आया।

जावजीबुआ और उसके इकलौते बेटे बबन में बहुत अधिक मतभेद था। बाप के बारे में बबन बहुत बुरा बोलता। बाप कहता, 'पुराने काम छोड़ दे।' बबन जानबूझकर वही काम चोरी से करता, चोरी-छिपे चमड़ा फाड़ता। वाद्य बजाने का गुलामी धंधा बाप को बिलकुल पसंद नहीं था, और बबन बहुत अच्छी शहनाई बजाता। उसकी टीम पूरे तालुके में प्रसिद्ध। हमेशा बाप के खिलाफ रहना उसकी जिद। जावजी शारीरिक दृष्टि से काफ़ी मजबूत। उनका शरीर फ़ौलाद-सा, तो बबन बाप के सामने बहुत ही कमजोर दिखता। बड़े पेड़ के नीचे छोटा पौधा जैसे सूख जाता है, वह

नहीं सकता; ठीक उसी तरह कुछ बबन के व्यक्तित्व के बौनेपन के लिए उसका बाप जिम्मेदार था। वैसे बाप बहुत ही चरित्रवान, लेकिन बबन को कोई भी चीज़ वर्जित नहीं थी। वह जुआ खेलता। बाई और बोतल की सगत। उसकी शादी वैसे उसके बाप ने बचपन में ही कर दी थी। बीवी भी जवान हो चली थी। पर बबन उससे मिल न पाता। बुढऊ आँगन में ही लाठी लेकर बैठता। उसका कहना था कि लडके की बॉडी खराब होती है। बाद में बबन को तीन-चार लड़कियाँ हुईं। उसकी लड़कियाँ वैसे बडी खूबसूरत। इन लडकियों की शादी जावजीबुआ ने ही कर दी। बबन की जिंदगी-भर शिकायत रही कि बाप ने मुझे मेरी एक भी लडकी का भला नही करने दिया।

बाद मे बबन अपना सारा घर-बार लेकर बंबई आया। फ़ुटपाथ पर झोपडा बनाकर रहता। पुराने कागज बेचने का धधा करता। जब तक बुढिया थी, जावजीबुआ की व्यवस्था अच्छी थी। पर बुढ़िया के मरते ही जावजीबुआ की दुर्दशा होने लगी। बबन बाप को एक पैसा न देता। 'एकाध लडकी मेरे पास रख दे। रोटियाँ बनाकर खिला देगी;' यह साधारण माँग भी बबन ने ठुकरा दी। बुढ़ऊ वड़ा ज़िद्दी था। मरने तक उसने स्वाभिमान नही छोडा। सिर्फ़ खाने के लिए बुढऊ ने घर के सारे टीन-टप्पर बेच डाले। और फिर जमीन का एक टुकड़ा बेचकर अपना गुज़ारा किया। घर में कोई नही था। सुबह पानी देने जब पड़ोस की बाई आयी, तब बुढऊ मरा पड़ा दिखा। वैसे अब महारवाड़ा में कर्ता कोई नही बचा था। सब बबई पेट भरने गये थे। बुढ़ऊ जब मरा, तब महारवाड़ा मे एक-दो बूढी विधवा औरतें। बाकी सब घर बंद। क्या करें वे? बुढऊ को करीब-करीब घसीटते हुए ले गये। गांव के मराठा लोग तमाशा देख रहे थे। महार की लाश को वे कैसे हाथ लगाते? नया कोरा कफ़न कहाँ था? पुराने बारदाने में ही बुढ़ऊ को लपेटा गया।

बम्बई में बबन चाचा कभी-कभी मिलता है। ऑफ़िस भी आता है। धुत्त नशे में! झूमता हुआ। मैले कपडे। कभी पैरों मे कुछ है तो कभी कुछ नही। वह ऑफ़िस में आया कि सारे क्लर्क मेरी ओर नज़रें गड़ाकर देखते। 'फिर ऐसी हालत में कभी मत आना', मुझसे यह कहा नहीं जाता।

जब वह आता है तो बुढ़ऊ को गालियाँ बकता रहता है। वह बड़बड़ाता रहता है कि "बुड्ढे ने सारी इस्टेट उजाड़ दी। अब सिर्फ़ एकमजिला मकान है और उसे बेचकर मैं मुक्त हो जाऊँगा।" और सचमुच अपनी आखिरी लड़की की शादी मे उसने वह मकान बेच डाला। गाँव के लोग वैसे इस मकान पर आँख गड़ाये बैठे ही थे। सागवानी लकड़ियों के भंडार से यह बना था। शायद गाँव की मडली ने यह मिट्टी के भाव ख़रीदा होगा।

लड़की की शादी का निमन्त्रण देने वह आया था। बबन सभी लड़कियों को मन से चाहता। उसके मन में एक बात हमेशा खटकती रहती कि एक भी लड़की की शादी वह ठीक से नही कर पाया। उसकी छोटी बेटी वेणू के दुखांत के समय का मैं स्वयं गवाह था। वेणू की शादी गाँव में खूब धूम-धड़ाके से हुई थी। वेणू बहुत सुन्दर थी। नक्षत्रों-सी। माँ-बाप से उजली थी। उसे जो घर मिला, वह धनवान। लडके के पिताजी बम्बई के किसी कम्पनी में फ़ोरमैन थे। लडका दिखने में बड़ा ऊँचा-पूरा। घर मे खेती-बाड़ी देखता। वेणू को पति द्वारा बहुत अधिक तकलीफ दिया जाना शुरू होता है। पति रात-रात उसे सोने न देता। उस पर सदेह भी करता। बाहर खेतो में जाता तो चाबी-ताले मे बंद कर देता। स्कूल में जब था, तब मैंने भी एक-दो बार उसका छल कम करने की कोशिश की। पति छोटे-मोटे कारणो पर ही चिढ जाता। बैल-ढोरों-सा पीटता। अत मे, बबन उसे त्यौहार-निमित्त घर लेकर आता है और लड़की वापस नही भेजती है, यह अपना निर्णय सुना देता है। जवाई पागलो-सा हो गया। हाथ मे नंगा चाकू लेकर बबन के घर के सामने खड़ा हो गया। बबन वैसे ग़रीब आदमी, पर डगमगाया नही। बाद मे तो वह रामोश्या की टोली लेकर भी आ गया। लड़की ने फ़ौजदारी कचहरी में बयान दिया, "साहब, मुझे सामने के नाले में ढकेल दीजिये, प्राण निकल जायें, फिर भी मैं उसके साथ नहीं जा सकती।" उसे मुक्ति मिलती है। बाद में बहुत ही व्यस्क व्यक्ति से उसकी शादी होती है। इतना वैभव छोड़कर वेणू क्यों आयी? बूढ़ा पति क्यों बनाया? दुख-तकलीफो का कँटीला रास्ता उसने क्यों अपनाया, यह सवाल आज भी मुझे निरुत्तर कर देता है। आज बूढ़े पति की नौकरी छूट चुकी है। बँगलों मे आया का काम कर, वह पति और बच्चों को पालती-पोसती

है। वेणू की दुर्दशा बबन ज़िन्दगी-भर न भूल सका।

बबन चाचा ने शादी में बड़े आग्रह से बुलाया था। "तू अकेला नहीं, बीवी-बच्चों को साथ लेकर आना।" यह बात कहना वह भूला न था। शादी मुलुंड में गौतमनगर में हुई। नाम के लिए वह गौतमनगर था। वहाँ विशाल झोंपडपट्टी बसी थी। कामाठीपुरा-नागपाड़ा से उठकर आये लोग अब यहाँ सट-सटकर झोंपडियाँ बनाने लगे। किसी द्वीप-सा। स्थानांतर करने पर पूरा द्वीप उठ जाता। इस यन्त्रयुग में भी यह द्वीप टूटा नहीं था। घर आकर जब पत्नी को चाचा के निमन्त्रण के बारे में बताता हूँ, तब वह भड़क उठती है, "आपको जाना हो तो अकेले जाइये। मैं अपने बच्चों को उस झोपडपट्टी में ग़लती से भी नहीं जाने दूँगी।" वह भी अपना भूतकाल भूलना चाहती थी। परन्तु मैं अपना सब-कुछ कैसे झटक देता...उस दिन मैं अकेला ही शादी में गया। अकेले जाने की वजह से चाची नाराज़ थी। चाचा मुझे संभाल लेता है। शादी के वक़्त चाचा का रूप मैं कभी नहीं भूल सकूँगा।

शादी को काफ़ी समय था। परन्तु चाचा पी कर टाईट थे। बडबड़ाये जा रहे थे। मैं समझाने की कोशिश करता हूँ, "चचा, कम-से-कम आज तो नहीं पीना था। अभी शादी भी होनी है।" चाचा मेरी ओर देखकर बारातियों को गालियाँ बकते हैं, "उनकी माँओं की शादी में मैं नाचूँ...!" मुझे हँसी आती है। सटवा की गाली मैं फिर चाचा के मुँह से सुनता हूँ। चाचा का दारू पीना बारातियों में से किसी को नहीं खटकता। उधर भी अधिकांश लोगों की हालत कुछ ऐसी ही थी। चाचा के एक रिश्तेदार स्वयं स्टेशन-वैगन लेकर आये थे। रिश्तेदार की गाड़ी याने अपनी ही इस दृष्टि से तात्या गाड़ी की ओर देखते हैं। चाचा बारातियों के उसी तरह नखरे सहते हैं, जैसे पटेल के घोड़े और महार के भूषण के कहे जाते हैं। दूल्हे की उस गाड़ी से निकासी होती है। लेकिन मैं विचार करता हूँ। दलितों की कुछ पीढ़ियाँ भौतिक दृष्टि से काफ़ी आगे निकल चुकी है। बाकी समाज आज भी गुफ़ा का जीवन ही जा रहा है। अनुभवों के हिसाब से इन दोनों वर्गों के बीच काफ़ी फ़ासला है। निकासी में चाचा सबसे आगे। गाँवों-जैसा ही बाजे का प्रबन्ध चाचा ने किया था। वह जब शहनाई के सुर सुनता

है तो भूल जाता है कि वह दुल्हन का पिता है। बजनियों की शहनाई लेता है और झूमकर पुराने गाने का सुर छेड़ता है। दूसरा शहनाई वाला उसका गीत उठा लेता है। मुझे अचानक ही बजनियो की उस टीम से पिताजी याद आने लगते है।

बरसात के दिन थे। सारी झोंपड़पट्टी मे कीचड़-ही-कीचड़। बौद्ध-पद्धति से शादी होती है। खाने की पगत कीचड़ में ही बैठती थी। चाचा के आग्रह के कारण मुझे भी भोजन करना पड़ता है। पत्तल मे लपसी और घुघरी मिलती है।

इधर खाने का मेरा स्वाद भी बदल चुका था। इस कारण मैं अपनी इच्छा के खिलाफ़ भोजन करता हूँ। रात जब घर के लिए चला, तब चाचा-चाची ने मेरी पढ़ी-लिखी पत्नी के लिए एक नयी कोरी साड़ी दी। निश्चित ही वह पाँच गज वाली थी। "तेरी बीवी के लिए खरीदी थी। वह आती तो उसे मंडप में ही पहनाते।" मुझे ये लोग बहुत बडे दिल के लगते हैं। परन्तु मेरी और उनकी दुनिया का फ़ासला बढ़ता जा रहा है, यह बात मुझे बेचैन कर जाती है।

बबन चाचा गाँव की पुरानी पीढ़ी के अंतिम अवशेष। इधर वह भी बापजादों-सा दारू पीकर जर्जर हो गया। महारवाडा के कितने ही युवकों की मौत मैंने देखी है। बबन चाचा भी कुछ दिनों का साथी लगता है। अब जब कभी महारवाडा जाता हूँ तो चारों ओर डरावनी शांति। दिन में बुढ़िया डायनों की तरह भूसा निकालती लगती। सारे घर खंडहरों मे बदल चुके थे। वहाँ कुत्ते, सुअर दौडते दिखते है। महारवाडा मे एकाध घर खुला है। वहाँ दरवाजे पर भूत-प्रेत की कथा-सी कोई जर्जर शरीर की सफ़ेद बालों वाली बुढ़िया दिखती। उसके बालों का गुच्छा बना होता, उसकी भौंहें भी पकी होतीं। अकसर वे हाथ हिला-हिलाकर खुद से ही बातें करती होतीं। मेरे प्राण घबराने लगते हैं। महारवाड़ा के दिल दहलाने वाले लोग इस तरह हवा में ग़ायब हो कहाँ निकल गये? गाँव के मराठा लोग कहते हैं, "महारवाडा पर किसी ने करनी की।" सच, किसने करनी की होगी? पिछले पच्चीस-तीस सालों तक गाँव कैसा गोकुल-सा भरा-भरा था! गाँव को ज़मीन पूरी न पड़ती। गाँव हाथ-पैर फैलाने लगा है। अंग्रेज़ी कवेलू

के कुछ घर, ग्राम पंचायत की सुडौल इमारत, नया स्कूल गाँव में झलकने लगे। बचपन से ही हम खुले मे दिशा-मैदान के लिए जाते। पत्थरों-काँटों से भरा वह मैदान। हाथी-सी काली चट्टानें, सावरबोंड की घनी कँटीली झाड़ियाँ। आज यह मैदान साफ हो गया है। वहाँ कुछ धनिक-मराठों ने आकर्षक घर बना लिये हैं। अनाज जमा करने के लिए गोदाम। कटनी के समय वहाँ खलिहान बनाते है। उनका खलिहान इतना चकाचक होता है कि तेल गिर पड़े तो आप उठा सकते हैं! पहले महारवाड़ा के प्रत्येक परिवार के पास कम-से-कम हड्डियाँ पालने के लिए ज़मीन का एक टुकड़ा होता। पिछले कुछ वर्षो से ये ज़मीन ठगने-छीनने की मानो होड़ ही लगी हो। यदि गाँव की ज़मीन की कीमत एक हज़ार रुपये एकड़ है तो महार की ज़मीन का भाव पाँच-सौ रुपये एकड़। उन्होंने कोई साज़िश ही रच ली हो! बीस-पच्चीस सालो मे महार अतल में चला गया था। गाँव के काम बद हो गये थे, इस कारण बलुत बद। गाँव मे मज़दूरी भी न मिलती। ग्राम-व्यवस्था की आर्थिक उठा-पटक मे उत्पादन-साधनो का कोई हिस्सा न था। रोटी-पानी के लिए सब बम्बई मे खो गये। वित्ता-भर ज़मीन परेशानी के दिनो मे गिरवी रखते। कुछेक लोगों ने पक्की ख़रीदी कर ली थी।

सभी लोगो की करीब-क़रीब यही हालत। गाँव मे मेरा भी एक टट-पुंजा टुकड़ा था। उसका उत्पादन लेने जाता तो खर्च ही अधिक लगता। दो पैसे की मुर्गी और चार आने का मसाला वाली बात। दो साल पहले बेटी की शादी निकली, तब एक हज़ार रुपये इसी ज़मीन पर खड़े किये। ज़मीन मराठा किसान के पास गिरवी रखी। इधर एक-दो सालों से गाँव जाना-आना वद है। जिस घर में जन्मा, उस घर के बारे में मन मे अलग जगह थी। परन्तु पिछले साल ही एक क़रीबी रिश्तेदार ने उसे खुले आम नीलाम कर दिया। अगली बरसात मे उसकी एक लकड़ी भी न मिलती, उसका यह कहना मुझे ठीक लगा। परन्तु पत्नी झल्लायी। बोली, "क्या हमारा वंश डूब गया ?"

एक बार बोलना शुरू करता हूँ कि मुझे किसी बात की सुध ही नहीं रहती।

फिर पीछे जाना पड़ता है। ज़िन्दगी की विकल परिस्थितियों मे मुझे कविता ने ही बचाया। नहीं तो सोच-सोचकर पागल हो जाता। स्कूल मे कोई समारोह था। मुझसे एक बार गाने के लिए आग्रह किया जाता है। मैं लोक-कवि वामन कर्डक द्वारा रचित डॉ० बाबासाहब अंबेडकर सम्बन्धी गीत गाता हूँ। गीत की रचना हृदयस्पर्शी। उसकी साफ़-सुथरी भाषा। इसलिए यह गीत मैंने ही लिखा होगा, ऐसा सर समझने लगते है। सबके बीच प्रशसा करते हैं। मुझे स्पष्टीकरण के लिए कोई मौका नहीं मिलता। मैं रात-भर बेचैन रहता हूँ, क्योंकि मुझे यह साहित्य-चोरी लगती है। सवेरे जब स्कूल जाता हूँ, तब सर से बात स्पष्ट करता हूँ। वे ढाँढस बँधाते हैं। कहते है, "अरे, इसमें ऐसी क्या खास बात है ? तू भी कवि बन सकता है !" सर की इस बात का मुझ पर गहरा असर होता है। सच, क्या मैं कविता लिख सकूँगा ? मैं कुछ गीत रचने लगता हूँ। लोककवि वामन कर्डक हमेशा बोर्डिंग में आते। कभी-कभी जयंती के अवसर पर दलित-बस्ती में उनके कार्यक्रम होते। वे आते समय अपने साथ कोई साथी न लाते। इसलिए उनके गीत में साथ देने के लिए हम कुछ लड़के बैठते। उनके गीत उन दिनों कव्वाली-पार्टी के गानों-मे होते। इन्हीं गीतों की तर्ज़ पर मैं भी गीत लिखने लगा। शुरू-शुरू में सिनेमा की तर्ज पर लिखता। 'अलबेला' उन दिनों बहुत ही प्रसिद्ध फ़िल्म थी। इस फ़िल्म के गानो की तर्ज़ पर लिखा एक गीत याद आता है। इन गानो में यमक की रेल-पेल होती। हर शनिवार रात के समय बोर्डिंग में हमारा कार्यक्रम होता। साथ देने के लिए डिब्बे, खाली घड़े होते। अपने गीत भी कोई गाता है, इसी बात का थ्रिल लगता।

इस गाने का विशेष उपयोग हो, ऐसा कभी नही लगा। परन्तु छुट्टियाँ होने पर बोर्डिंग के लड़के अपने-अपने घर जाते। बाद में हम लोग क्या खायेंगे, यह विकट प्रश्न भी हमारे सामने होता। ऐसे समय भागवत मास्टर के साथ कटनी के समय गाँव-गाँव घूमना। बोर्डिंग के लिए अनाज जमा करने का कार्यक्रम होता। ऐसे समय हम गाँव आते तो चौपाल पर रुकते। उस समय लोग जमा करने के लिए मेरे गीतों का उपयोग होता। कोई समाजकार्य हो रहा है, इसकी मुझे कोई जानकारी नहीं थी। जब मैं नवी-दसवीं में पढ रहा था, तभी मेरी कविता 'जनता' साप्ताहिक में छपी। आज

मेरी कविताओं में दिखने वाली कलात्मकता उस समय निश्चित ही नहीं थी, परन्तु उनकी सामाजिक संवेदना नक़ली नहीं थी।

कोई दस-पंद्रह साल हुए होंगे। उस समय दलित लेखकों का साहित्य-सम्मेलन था। अध्यक्ष थे कुसुमाग्रज और उद्घाटक थे दादासाहब गायकवाड। सम्मेलन के संयोजकों में से मैं भी एक था। ख़ाली समय में कुसुमाग्रज के सामने डरते-डरते अपनी कविता की कापी सरका दी। उसमें प्रेम-कविता के साथ-साथ सामाजिक कविताएँ भी थीं। कुसुमाग्रज को मेरी एक कविता विशेष पसंद आयी। उसका आशय सामाजिक था। आज भी पुरानी कापी में वह है। शीर्षक 'शूल' था।

वैसे यह दहकता अंगारा मेरे मन में कुंडली मारकर बैठ गया। जिंदगी में बड़े लोगों की अँगुली नहीं पकड़ी, ऐसा भी नहीं। पर अँगुली कब छूट गयी, इसका अंदाज मुझे भी नहीं। अब यह कृतघ्नता होगी। पर मैं किसी भी व्यक्ति की ओर लोहचुंबक-सा खिंचता जाता हूँ। उसमें भी सामाजिक जीवन में काम करने वाले व्यक्ति की ओर पहले। कोई सोख़्ता जैसे सारा द्रव्य सोख ले, वैसे ही व्यक्तित्व सोख लेने की इच्छा होती। फिर मालूम होता कि इस व्यक्ति से अब और लेने लायक़ कुछ भी नहीं है। लगता है, अब अगली यात्रा अकेले ही करनी पड़ेगी। इस कारण मेरे बारे में कई विरोधाभास उठ खड़े होते हैं। कइयों को संदेह होता है कि मैं क्या हूँ? लेफ्टिस्ट या राइटिस्ट? वे प्रेम से समझाते हैं, "अरे बाबा! किसी एक में शामिल हो जा। नहीं तो बीच की जगह कोई दुर्घटना हो जायेगी।" पर सच बताऊँ? तथाकथित लेफ्टिस्ट या राइटिस्ट लोगों या पार्टी के बारे में मेरे मन में बड़ा असमंजस है। वामपंथी कभी-कभी पूंजीपतियों-से पेश आते देखे हैं। ऐसे समय असमंजस और बढ़ जाता है। सिद्धांतों की भीड़ में एक बात बड़ी ईमानदारी से महसूस करता हूँ। अंतिम स्थान पर बैठे आदमी के प्रति ईमानदार होना चाहिए।

मुझे समझने में किस तरह गलतफ़हमी होती है, इसके बारे में एक किस्सा सुनाता हूँ। हमीद दलवाई किडनी के रोग से बहुत बीमार थे। मैं उन्हें मिलने जाता हूँ, मंत्री की मोटर में। दादासाहब उस समय मंत्री थे। वे भी साथ थे। हमीद मुझे देखते ही ठठाकर हँसते हैं और कहते हैं, "इसको

मान गये, भाई। यह सब जगह होता है और कही भी नही होता। इसे तो गुरु मान लिया।"

हमीद के काम्प्लिमेंट के कारण मेरा चेहरा उतर गया। मन में विचार आया, 'सच, मुझे क्या चाहिए ? अपना क्या खो गया है ? यह कोरी भाग-दौड़ क्यों ?' मेरी पत्नी ही सही और कटु समालोचक है। वह कहती है, "कुत्ते की उल्ली, इधर भी भली उधर भी भली !" अब इसका निश्चित अर्थ क्या है, यह उसी से पूछना पडेगा।

सवर्ण लड़कों की और मेरी संवेदना मे काफ़ी अतर है। इसका अनुभव वैसे स्कूल में ही हो गया था। एक प्रसग याद आ रहा है। साने गुरुजी की 'भारतीय सस्कृति' विषय पर निबंध-प्रतियोगिता थी। स्कूल से सभी लड़कों को किताब पढ़ने के लिए दी गयी। किताब पढ़कर मेरा सिर भन्नाया। निबध में मैंने भारतीय संस्कृति की बहुत खिल्ली उड़ायी थी। कुलकर्णी नाम के हमारे मराठी शिक्षक थे। निबध पढकर वे बहुत बेचैन हो उठे। उन्होने मुझे बुलाकर बहुत समझाया, "तू जो विचार रखता है, दरअसल वह राष्ट्रद्रोह है।" मुझे याद है, तैश मे आकर मैं उनसे झगड़ पडता हूँ। एस० एस० सी० के वर्ष का आख़िरी दिन विद्यार्थी-दिन होता। उस दिन सारे शिक्षक कक्षा में बैठते और लड़के स्कूल चलाते। प्रिंसिपल से चपरासी तक का काम लड़के ही करते। निश्चित ही वे ऊँची कक्षा के होते। उस समय शिक्षक की वेशभूषा मे लिया गया पीरियड याद आता है। मराठी और इतिहास विषय मैंने चुने थे। मराठी के पीरियड मे कविता गाकर पढी थी और इतिहास के पीरियड में जाति-व्यवस्था कैसे बनी, यह पाठ लिया था। उस समय जाति-व्यवस्था की व्युत्पत्ति बताते समय 'मनुस्मृति' की, हिंदू धर्म-ग्रंथों की कठोर आलोचना की थी। कक्षा मे इतिहास के शिक्षक ब्राह्मण थे। बीच-बीच मे प्रश्न पूछ-पूछकर रुकावट पैदा करते है। मैं आक्रामक मुद्रा में उनके उत्तर देता हूँ, यही दृश्य याद आता है। दरअसल मैं जो कुछ भी बोलता था, वह मेरे विचार न होते। डॉ० बाबासाहब अंबेडकर की 'शूद्र वास्तव में कौन थे ?'—पुस्तक मैं पढ़ पाया था। इसके अलावा

बंबई से बाबासाहब द्वारा संपादित 'जनता' साप्ताहिक पत्रिका बोर्डिंग में आती। उसके संपादकीय मानसिक शक्ति प्रदान करते। लगता, ये रहे अपने असली विचार। चारों ओर सामाजिक शोषण का अहसास बड़ी तीव्रता से हो रहा था।

साहित्य का कुतूहल इसी उम्र में पैदा हुआ। अभी मैंने कुलकर्णी सर के बारे में जो कुछ बताया है न, वह उनकी पूरी पहचान नहीं है। कुलकर्णी सर मराठी बहुत अच्छा पढ़ाते। कुछ ठिगने। एक-टाँगी धोती पहनते। उस पर कोट। सिर पर सफ़ेद टोपी। कोल्हापुरी चप्पल कर्र-कर्र बजाते वे कक्षा में आते। वैसे वे दिखने में सुन्दर ही कहे जायेंगे। गाल पर चिकोटी लेने से खून निकल आये, इतनी मुलायम चमड़ी। एम० ए० मराठी में। कॉलेज में जगह नहीं मिली, इसलिए वे हाईस्कूल में आये। उनके मन में हमेशा ही असंतोष रिसता रहता। मुझे लगता है, शायद उनके कॉलेज में कवियित्री शांता शेलके रही हों। गप्पों में वे हमेशा ही उनकी बात निकालते। उनकी कविता पढ़ाते समय वे सब-कुछ भूल जाते। इसलिए जब वे कक्षा में आते, तब हम उन्हें शांता शेलके की कविता पढ़ाने के लिए कहते। उनके पढ़ाने की पद्धति भी मजेदार थी। यदि वे किसी लड़के पर क्रोधित होते तो उसे पेंसिल से मारते। पेंसिल की मार कितनी लगती ! परन्तु उनकी सजा देने की एक और पद्धति जानलेवा थी। जिस विद्यार्थी पर उन्हें क्रोध आया होता, तब वे उससे बिलकुल न बोलते, लेकिन बगल के विद्यार्थी से खूब मीठी बातें करते। उसके आस-पास के विद्यार्थियों से प्रश्न पूछते, परंतु उस विद्यार्थी की ओर वे गलती से भी न देखते। इस कारण वह लड़का रुआँसा हो जाता। ऐसा ही अनुभव एक मान्यवर नेता का रहा। वे कहते, "राजनीति की लड़ाई में ऐसे-वैसे भी चल जाते हैं।" ऐसे समय वे फालतू लोगों को पास रखते। लेकिन किसी-किसी के साथ इसी तरह का जान-लेवा खेल खेलते।

कुलकर्णी सर शायद कथा लिखते रहे हों। दो-एक बार उनकी कहानी मैंने पत्रिकाओं में देखी थी। अक जब माँगा तो उन्होंने कहा, "स्कूली बच्चों के लायक़ नहीं है।" मुझे बड़ी हँसी आयी। उस कथा में छिपाने-जैसा क्या रहा होगा ? जीवन की इस गाड़ी में कौन-सी ऐसी बात है, जो सर

मुझसे छिपाना चाहते हैं !

कुलकर्णी सर मुझे स्कूली बच्चा समझते थे। ऐसे समय मेरे भीतर कई उतार-चढ़ाव आते। उन दिनों सिर्फ़ एक घटना के कारण जीवन का ढांचा ही बदल गया। यह सब बताने से पहले थोड़ी भूमिका बताना ज़रूरी है। चाचा की बंबई में हालत सीरियस थी। मुझे तार देकर बुलाया जाता है। घर के लोगों की यह समस्या थी कि चाचा मरे तो उन्हे पानी कौन देगा ? चाचा का लड़का बहुत छोटा। भतीजे का पानी वैसे ग्रेट समझा जाता। मैं बंबई आकर देखता हूँ कि चाचा अंतिम घड़ियाँ गिन रहे थे। ठीक पिताजी जैसा ही उनका भी लीवर स्पिरिट से नष्ट हो चुका था। शायद अँतड़ियों में छेद भी पड़ गये हों। मेरे पिताजी को चाचा ने ही पानी दिया था। अब उन्हें पानी देने की मेरी बारी थी।

चाचा के मरने से धक्का नही लगा। उनके मरने की मानसिक तैयारी हो चुकी थी। दादी दहाड़ मारकर रो रही थी। दादी पिताजी से चाचा को अधिक चाहती। पर मेरी आँख से एक बूंद आंसू नही टपका। चाचा द्वारा माँ का एक बार किया गया उद्धार मैं आज तक न भूला था। मुझे खुद पर आश्चर्य होने की बजाय चाची पर आश्चर्य हो रहा था। किसी की लाश हो, चाची कभी न देखती। कहती, "झटके आते है, गला रुँधने लगता है।" परन्तु पति मरने पर भी उसका बाहर न आना मेरी समझ से बाहर की बात थी। सारा कावाखाना चाची की इस बात पर कानाफूसी कर रहा था। अंत मे मृतक को पत्नी स्नान कराये, ऐसा रिवाज था। पर चाची ने बाहर आने से इनकार कर दिया। शायद चाची को 'मुक्ति मिली' वाला समाधान मिला हो।

मृत व्यक्ति को पानी देने का मेरा यह पहला ही अवसर था। चाचा *का जनाज़ा उठाया जाता है। उन दिनों महार लोग लाश दफ़नाते थे,* आजकल की तरह चिता बनाकर जलाते न थे। बाबासाहब को चैत्यभूमि पर जलाते देखा था और तब से पुरानी पद्धति समाप्त-सी हो गयी। सरकार मे म्युनिसपैलिटी के क़ब्र खोदने वाले खास नौकर। पर वे भी महार। दफ़नायी गयी लाश के कपड़े ये लोग बेचते है, ऐसी अफवाह इनके बारे में

थी। वरली के सोनापुर म पुरुष-भर गड्ढा खोदते हैं। चाचा की देह उस गड्ढे मे रखते है। फावड़े से भराभर मिट्टी ढकेली जाती है। मिट्टी डालने से पहले पानी पिलाना नही भूलते। क़ब्र का चक्कर क्यों लगाना चाहिए? मटकी फोडते समय क्यो चिल्लाना होता है? इसका उत्तर मुझे आज तक नही मिला।

सब नल के नीचे हाथ-पाँव धोते हैं। नीम की पत्तियाँ लेकर एक व्यक्ति बैठा था। नीम की पत्तियाँ मुंह मे डालने का रिवाज था। सामने के होटल में सबको चाय पिलाने, बीडी-तबाकू देने की प्रथा थी। उस दिन घर में चूल्हा नही जला। रिश्तेदार साग और रोटियाँ लेकर आये। जब पिताजी मरे थे, तब मैं बहुत छोटा था। परन्तु तेरहवीं में उस समय भी सिर के बाल कटवाने से इनकार कर दिया था। घर के सभी लोगों के आग्रह के कारण कि कौवा श्राद्ध का थोड़ा कुछ खा ले, इसलिए मैंने कौर उठा लिया था। पर उस उम्र में भी मुझे यह सब ढकोसला लगा था। पिंड-दान की बात बड़ी हास्यास्पद लगती। आदमी जिस जगह मरा होता, वहाँ एक थाली के नीचे आटा फैलाकर बैठते। तेरहवी के दिन वह थाली निकाली जाती। आटे पर इन तेरह दिनो में कोई नक्काशी उतर आती। इस नक्काशी को देखकर बड़े-बूढ़े यह बताते कि मरा व्यक्ति किस योनि में गया? यह रूढि भी हास्यास्पद लगती। अकसर ये लोग कौवे या साँपों के जन्म पाते। पुनर्जन्म की थ्योरी इस तरह नस-नस में व्याप्त थी। वैसे इनकी सत्रह पीढ़ियों ने 'गीता' पढ़ी भी थी या नही, यह एक रिसर्च का विषय है।

तात्या एक रास्ते निकल गये, यह सही है। पर वे मेरे लिए जो राह बना जाते है, इससे मैं चकरा जाता हूँ। इस राह से जाते समय कई बार ठोकरें खायी है। अजगर-सा अपने ही चारों ओर घूमता रहा। मिट्टी में ही मुँह ठूंसता रहा। जिंदगी का अर्थ ही बदल गया। थोड़ा बहुत जो रोमांटिक जीवन था न, वह भी तपते रेगिस्तान में बदल गया। परन्तु इस रेगिस्तान का आभास भी प्रारंभ में नहीं था। कोई महाकाय अजगर लील ले और

पता भी न चले। घुप्प अँधेरे में आँखें फाड़-फाड़कर देखने-सी स्थिति थी। अपने रक्त-संबंध के लोग भी अपने हाड़-मास की बोटी-बोटी कर सकते हैं; सपने में भी नहीं सोचा था। वैसे उन्होंने यह सब जान-बूझकर किया था, यह बात भी नहीं थी। उनकी निगाह में एक अनाथ लड़के को मदद थी, यह सब।

तात्या ने मुझसे और माँ से बिना पूछे ही मेरी शादी तय कर दी। पंचों में सुपारी फोड़ दी गयी थी। आजी बताती है, "बेटे, तात्या का दिया वचन मत तोड़। थूककर फिर नहीं चाटा जाता। और तेरी भावी पत्नी कितनी अच्छी है—ब्राह्मणों की तरह ! चांद को कहती—'उगो मत' और सूरज को कहती, 'ढलो मत,' ठीक ऐसी !" कावाखाने की दूसरी औरतें भी हामी भरती हैं। इन औरतों में मौसेरी-चचेरी रिश्तों वाली औरतें सबसे आगे थीं। लड़की के पालक और मौसेरे चाचा के घरेलू संबंध थे। गाँव की लड़की का विवाह जोड़ने का क्रेडिट वे चाहते हैं। दोनों घरानों का भाई-चारा बहुत गहरा था।

मैं कहीं बलि का बकरा तो नहीं बन रहा हूँ, इसकी मुझे शंका होती है। लड़की मैंने देखी नहीं और इन लोगों ने शादी तय कर ली, इसलिए मैं चिढ़ा हुआ था। लड़की भी देहात की थी। अँगूठा-छाप। गोरी, सुंदर हुई तो क्या हुआ ? मन में आता कि इतनी कम उम्र में गले में लंगर डाल लेना उचित नहीं है। अंबेडकर-सा खूब पढ़ूँ, यह जोश भीतर उफान मार रहा था। शादी से जिंदगी के बारह बज जायेंगे, यह डर अलग से था ही। दूसरी ओर लड़की का सौंदर्य-वर्णन सुनकर मेरे मन का एक और चेहरा कुछ उभरकर सामने आ रहा था। मैंने पत्नी के लिए जो सपने संजोए हैं, वह वैसी ही होगी ? उसे न देखते हुए भी मैं उसके बारे में सोचने लगा। माँ खुश थी। उसकी आँखें पोते का मुँह देखने को आतुर थीं।

उसका गाँव संगमनेर से पाँच-छः मील की दूरी पर था। संगमनेर में शनिवार को साप्ताहिक बाजार लगता। हमारे स्कूल की दोपहर को छुट्टी होती। उस समय बाजार में घूमना हमारा शौक होता। एक बार इसी तरह बाजार में घूम रहा था, तब एक रिश्तेदार ने उसके बारे में बताया। उसे दूर से दिखाया भी। लाइयाँ फूट जायें, इतनी खिलखिलाती धूप भी

वह धूप चाँदनी हो गयी, ऐसा कुछ मैं नहीं कहूँगा परन्तु उसे देखकर कुछ क्षण मैं दंग रह गया था। आस-पास के गाँव के लोग माल बेचने लाते। पगत-जैसे वे सट-सटकर बैठते। उसके पास भी एक डलिया थी। अपनी माँ के साथ वह आयी थी। वह ग्राहक को तराजू से माल तौलकर देती है। मुझे यह मालूम था कि उनकी एक छोटी-सी बाड़ी है। मैं दूर से उसे अपलक निहारता हूँ। चिलचिलाती धूप के कारण उसके गाल लाल हो गये थे। वह छीट का लहँगा और ब्लाउज़ पहने थी। अस्त-व्यस्त बाल माथे पर आते है। वह बहुत सुन्दर थी। उसकी नीली-भूरी आँखें, धारदार कटार-सी नाक और गुलाबी रंग, यह सब देख मैं अपनी जगह ही जम जाता हूँ। उसकी उम्र कुल दस-बारह साल की होगी। वह छरहरे बदन की थी। संगमनेर के भाजी-बाजार मे कोई आसमानी परी तो उतरकर नही आयी, ऐसा सदेह होने लगता है। मन में विचार आया कि इसे यदि कक्षा की लडकियों की तरह की पोशाक पहना दी जाये तो इसके पासंग में एक भी नहीं बैठ सकेगी !

उससे बात करना करीब-करीब असंभव था। मैं बोर्डिंग में वापस लौट जाता हूँ, कुछ क्षण बाद महसूस होता है कि मुझे पंख निकल आये है। मन मे विलक्षण आकर्षण और मिलन की उत्कंठा भर-भर आती। वह कभी स्कूल नही गयी, वह अनपढ है—ये सारी बातें फ़ालतू लगने लगी। शादी यदि करूँगा तो इसी लड़की से। कुछ निर्णय जन्म लेने लगते है। शनिवार आने की मैं राह देखने लगता हूँ। उसे दूर खड़े रह कर देखना भी अपने-आप मे एक आनंद-भरा काम हो गया। पर उसे इस बात का पता अंत तक न चल सका।

मैं अपने मन मे ही उसका नाम 'सई' रख लेता हूँ। वैसे नाम देहाती था। परन्तु उसे वह शोभता। बाद मे एक बार देवगढ की यात्रा मे उसके पास से दर्शन हुए। देवगढ के लिए बोर्डिंग के पास से ही रास्ता जाता था। चैत्र माह मे यह यात्रा लगती। बम्बई से मौसेरे-चाचा इस यात्रा के लिए सपरिवार आते। संगमनेर से दो-तीन मील पर देवगढ़। वहाँ की खंडोबा की जागृत-ज्योति प्रसिद्ध। महार लोगों का पीढ़ियों से चला आ रहा दैवत। इस यात्रा मे रिश्तेदार नियमित रूप से आते। उनकी यह धारणा

था। घर मे पर्याप्त भेड़-बकरियाँ। इन्हे गाँव के खेतों में बिठाने से खेत, खाद-पानी से परिपूर्ण होते। इसके बदले में उन्हे खेत की मेड़ों पर लगे बबूल के पेडो की पत्तियाँ मिलती। इस पर वे भेड़ पालते। साल के अंत में इनका ऊन मिलता। संयुक्त परिवार मे सब लोग अपनी सुविधानुसार इस उत्पादन पर हाथ मारते। इस कारण हमेशा मन-मुटाव। सई का बाप उन सबसे अलग था। काला रग, कोलतार-सा। हँसते समय उसके दाँत ही अधिक चमकते। शरीर से मजबूत। बगुलो-सा रहता। खेतों पर काम न करता। पी० डब्ल्यू० डी० में सड़कें बनाने के काम पर वह मुकादम था। बरसात में जब सडको में गड्ढे पड़ जाते, तब उन्हें ठीक करना उसका काम था। उसके काले-कलूटे शरीर को देखकर लगता कि इतने काले आदमी के यहाँ यह गोरी लड़की कैसे हुई? इसका उत्तर उसकी माँ को देखने पर मिल जाता। माँ सई-सी उजली। परन्तु सई की नीली-भूरी आँखो का कुछ अलग व्यक्तित्व था। *कोब्रा लड़की दिखती है न, ठीक वैसी ही।* अपना नाती इतने बड़े गोकुल में आ घिरा, यह सोच कर दादी का मन खिल उठता।

शायद इस मन:स्थिति का परिणाम था कि मैं एस० एस० सी० मे फेल हो गया। ज़िंदगी में फ़ेल होने का यह पहला मौक़ा था। जब रिज़ल्ट आया, तब मैं मामा के गाँव था। मैं फूट-फूट कर रोने लगा। माँ-मामा धीरज बँधाते हैं। एक यात्रा से भगवान थोड़े ही बूढ़ा हो जायेगा! वे समझाते है। फेल कैसे हो गया, यह प्रश्न मन मे कौंधता रहा। कक्षा में इतना 'गधा' तो मैं था नही। मार्कशीट आने पर फेल होने का कारण स्पष्ट हुआ। अँग्रेजी मे सिर्फ़ 28 नम्बर थे। अन्य विषयों में पास था। अँग्रेज़ी में यदि 35 नंबर भी मिलते तो फ़र्स्ट-क्लास कही नही गया था। वैसे अँग्रेज़ी से मैं आँठवीं से ही डरा हुआ था। हर साल बिलकुल बाउंड्री पर पास होता। आगे भी उम्र-भर अँग्रेज़ी छलती रही। साहबों की भाषा कभी नही सीख पाया। कहते हैं, एक बार बी० ए० के सारे पेपर जल गये। सबको पास कर दिया गया। जले हुए नाम से वे विद्यार्थी पहचाने जाने लगे। वैसा ही कुछ हमारा भी हुआ। सारी पीड़ी बरबाद हो गयी। आठवी के बाद चार साल तक अँग्रेज़ी पढ़ा। ढँग से न तो एक वाक्य लिख सकता और न ही पढ़ सकता

था। धनवानों के लड़के ट्यूशन लगाकर यह कमी पूरी कर डालते थे। हमारे लिए यह सभव न था। मोरारजी भाई को मन मे गाली देता हूँ। उस समय वे महाराष्ट्र सरकार में थे। कहते है, उन्ही ने यह शिक्षा-पद्धति शुरू की। जैसे इस संदर्भ मे उन पर गुस्सा था, वैसे ही हमारे हाथों से बंदूक छीन ली गयी, इसका भी गुस्सा था। स्कूल में साल-भर एन० सी० सी० में था। वहाँ बदूक चलाने को मिलती। एन० सी० सी० का कैम्प एक बार लोह गाँव गया। अगले साल आओ, हम तुम्हें हवाई जहाज में बिठाएँगे. यह आश्वासन वहाँ के संचालको ने दिया। एन० सी० सी० का अगला वर्ष आया ही नही। मोरारजी भाई ने बंद करवा दी। विमान में बैठने का सपना हवा हो गया।

फ़ेल होने के कारण एक बात हुई। सारी जिंदगी का उफान शात हो गया। आगे बहुत अधिक पढ़ने की इच्छा कम होने लगी। यहाँ-वहाँ अँग्रेजी का डर आड़े आ जाता और यह डर भीतर तक फैलता गया।

फ़ेल होने पर क्या कर सकता था? फिर सचालको के आगे हाथ-पैर जोड़े। फ़ेल लडकों को बोर्डिंग मे रखने की व्यवस्था नही थी। बाहर भी कोई सहारा नही था। अपनी सारी जिन्दगी अब पेड से बिछडे सूखे पत्ते-सी यहाँ-वहाँ उड़ती रहेगी, यह सोचते ही आँखो के आगे अँधेरा छा जाता। मुझे बोर्डिंग से निकालने पर माँ को भी निकालना पडता, यह बात सोच कर उन्होंने स्पेशल केस के तौर पर मुझे वहाँ रख लिया।

फ़ेल विद्यार्थी को बोर्डिंग में रहने का अधिकार नही—इस कारण लड़के मुझे और अधिक तग करने लगे। मुट्ठी-भर भोजन के लिए यह कितनी बड़ी लाचारी थी! मुझे अपने-आप पर बड़ी कोफ़्त आती। मैं दूसरे लड़कों से नज़रें बचाने लगा। सिर्फ़ खाना खाने बोर्डिंग मे जाता। पास ही आदमी की ऊँचाई तक का मुर्गियो का दडबा था। वैसे वह खाली ही था। वही रहने लगा। अध्ययन के लिए वह एकांत जगह लगी। शनिवार के बाज़ार में जा कर सई को देखने वाला धधा बन्द कर दिया। अँग्रेज़ी किताब रट डाली। वैसे मुझे रटने पर याद रहता। नाटकों के संवाद सहज ही याद कर लेता था। वह आदत काम आयी। बचे विषयों के लिए फिर नगर जाना पड़ा। इस साल अक्तूबर में मैं निकल गया। मज़े की बात

यह थी कि अँग्रेजी में साठ से भी अधिक नम्बर मिले थे। पर अँग्रेजी मेरी सुधर गयी हो, ऐसी कोई बात न थी। यह सब रटने का कमाल था। इतने नम्बर मिलेंगे, कभी सपने में भी नहीं सोचा था।

बोर्डिंग का हमारा दाना-पानी एक तरह से अब समाप्त हो चुका था। किसी जेल से कड़ी सज़ा भोग कर निकलने-सा लग रहा था।

पर कैदी को बाहर की दुनिया में कौन पूछेगा? अपना रास्ता कैसे निकाला जाये? ये सारे प्रश्न सामने खड़े थे। बचपन की बम्बई खींच रही थी। बम्बई इशारे से बुला रही है। इस मोहनगरी में अपनी राह सुलभ हो जायेगी, ऐसा लगता। तालुके में, जनपद में क्यों नहीं चिपक गया, इसका आज भी आश्चर्य होता है। अपने कुछ दोस्त ऑफ़िस में क्लर्क बने। तगाई[1] क्लर्क की तो 'ऊपरी' कमाई। क्लर्क का रौब कितना! सारे उसे 'भाऊ-साहब' कहते। लोग उसका थूक झेलने को तैयार। पान, स्पेशल चाय सामने तैयार। इस बात का मुझे कभी आकर्षण नहीं रहा। वैसे ही मास्टर का भी। गाँव क्या, जिला क्या, यहाँ अपना दम घुट जायेगा। इस तालाबी ज़िंदगी में कोई हलचल न थी। सब-कुछ मृत लगता।

माँ और बहन को लेकर बम्बई की राह पकड़ी। कावाखाना जैसे हमारी ही राह देख रहा था।

बम्बई का आकर्षण खून में किस क़दर समाया हुआ था। इतने सालों के बाद सोचता हूँ कि इस शहर ने मुझे क्या दिया? कहते हैं कि कृष्ण ने जरासंध के शरीर को चीरकर उसके दो टुकड़े, दो विभिन्न दिशाओं में फेंक दिये थे। वैसे ही मैं इस शहर में दो दिशाओं में बँट गया। रात में सिर छिपाने के लिए जहाँ जाता था, वह एक भयानक नरक था और जिस विलासी जीवन का दूर से ही दर्शन करता था, वह एक अलग तरह की मोह-नगरी थी। अँगूठी के पत्थर-सी। वह आँखें चमकाती है, इशारे करती है। परन्तु

---

1. कृषि-कार्यों के लिए ऋण

यह पत्थर मुझे निरंतर धोखा देता आ रहा है, इसका अहसास होने लगा है।

संगमनेर छोड़ते समय तिल मात्र भी बुरा नही लगा। माँ ने बोर्डिंग में कितनी तकलीफ उठायी थी! उसकी बनायी रोटियो का यदि ढेर लगाया जाये तो एक पहाड़ खड़ा हो जायेगा। और इसी रोटी ने हमें ज़िंदगी-भर छला। पेट की आग बुझाने के लिए ही माँ ने यह सब किया। अब उसे दमे की बीमारी ने जकड़ लिया था। थोड़ा-सा चलने पर सांस फूल जाती। बड़ी-बडी भट्टियो के दहकते अंगारों के सामने वह बैठी रहती। शरीर आंच में ही रहता। शायद उसे ब्लड-प्रेशर की भी तकलीफ़ थी।

हम बम्बई आये तो रहे कावाखाने में ही। बम्बई में यही एक अधिकार के साथ रह सकने वाली जगह थी। दादी तब तक जीवित थी। वह हमें कैसे दूर ढकेल सकती थी? परन्तु चाची को हमारा फिर से वहाँ आना अच्छा नही लगा।

कावाखाने में आने के बाद अपने जीवन के दुखों की इतनी विचित्र थालियाँ परोसी जायेंगी, इसकी कल्पना प्रारम्भ में न थी।

बाद में जब कभी गाँव गया तो संगमनेर स्टेशन पर अवश्य उतरता। संगमनेर गाँव में भीतर जाने का सवाल ही नही था। स्कूल के दोस्त सब अपने काम-धंधों में जम चुके थे।

एक बार इसी तरह संगमनेर स्टैंड पर उतरा। बोर्डिंग जाने की इच्छा होती है। साइकिल पर टाँग मार कर छोटे संगमनेर जाता हूँ। दूर से ही बोर्डिंग की इमारत दिखती है। मन में भावनाओ की भीड़। ज़िंदगी के पाँच-छः साल यही बिताये थे। माँ की याद सताती है। बोर्डिंग में जाकर जहाँ माँ काम करती थी, वह कमरा देखने की इच्छा होती है। जहाँ सोता था, पढ़ता-लिखता था, वहाँ जाना चाहता हूँ। लड़कों के साथ गप्पें मारने की बात याद आती है, ऐसे कितने ही विचार घने होते गये। बोर्डिंग में मुझे कोई नही पहचानता। दो-चार लड़के जुआ-ताश खेल रहे थे। मुझे देखकर सब विचलित होते है। बोर्डिंग-निरीक्षण के लिए कोई अधिकारी आया है, ऐसा ही कुछ वे समझते हैं। भोजन-हॉल में जाता हूँ। जानवर बाँधने के

स्थान पर जिस तरह गड्ढे हो जाते हैं, वैसे ही बित्ता-बित्ता-भर गड्ढे पड़ चुके थे। रसोईघर भी इसी तरह खराब हो चुका था। बोडिंग के बीच के दालान की रस्सी पर लड़कों की गुदड़ियाँ झूल रही थीं। अपने समय बोडिंग में ऐसी उजड्ड व्यवस्था कभी नहीं थी। मैं निराश हो जाता हूँ। किसी लड़के के साथ बात करने की इच्छा नहीं होती। उदास भारी क़दमों से सीढ़ियाँ उतरता हूँ। बोडिंग चलाने का पहले वाला ध्येय समाप्त हो चुका था। अब यह कुछेक लोगों का व्यवसाय बन चुका था। राजनीतिक पार्टी का अड्डा बन चुका था।

पेटिट हाईस्कूल की घटना बहुत ही रोमांचित करने वाली। रावसाहब संगमनेर कसबे के कॉलेज में लेक्चरर था। अतः जब भी गाँव जाता, उसे मिलने कॉलेज अवश्य जाता। एक बार महाराष्ट्र साहित्य परिषद की संगमनेर शाखा ने पेटिट में कविता-वाचन तथा दलित साहित्य पर मेरा कार्यक्रम रखा। इस हाईस्कूल का मैं भूतपूर्व विद्यार्थी हूँ, इसका किसी को पता न था। दगड़ू नाम से तो मुझे शायद कोई न पहचानता। सभा-स्थल की ओर बढ़ता हूँ। देखता क्या हूँ कि भवालकर अध्यक्ष पद पर है। जिन मास्टर ने मुझे मराठी कविता पढ़ायी, वे सामने बैठे हैं। भाषण की शुरुआत होती है। मैं कितना घबरा गया हूँ, इसका उल्लेख करता हूँ। पूना-बम्बई के सजग श्रोताओं के सामने भी मैं कभी नहीं घबराया था। मुझे जिन्होंने मराठी कविता पढ़ायी और जिन भवालकर ने स्नेह से सींचा, उनके सामने साहित्य पर क्या बोलूँ, यही सवाल था। मैं स्कूल का पुराना विद्यार्थी हूँ, यह सभागृह के लिए नयी जानकारी थी। इतना होने पर भी घंटे-डेढ़ घंटे के लिए मैं श्रोताओं को एक नयी दुनिया में ले जाता हूँ। मैंने कई कार्यक्रम प्रस्तुत किये हैं, परन्तु इस कार्यक्रम की सुगंध कई दिनों तक मेरे मन में घुलती रही।

बंबई में क़दम रखते ही नौकरी मिल जाना संभव न था। माँ के लिए भी फिर से काम में जुटने के अलावा कोई रास्ता न था। माँ कावाख़ाने की अन्य औरतों के साथ मार्केट में काग़ज़ जमा करने निकलती। वैसे इस धंधे

के लिए कोई पूँजी की भी आवश्यकता नहीं थी। कागज़ का बोझ लेकर माँ थकी हुई रात में आती। अलग-अलग प्रकार के कागज़ को छांटती। ख़ाकी कागज का अधिक दाम मिलता। बोहरा की दुकान पर पैकेट बनाने के काम आते। कावाखाने के पीछे ही कागज़ बेचने का गोदाम था। वहाँ पुरानी चिंदियाँ भी खरीदते। आसपास की औरतों को यह मालूम था कि लोहे, काँच, तांबे और पीतल के टुकड़े कहाँ बेचने हैं। माँ लौटते समय खाने के लिए बड़ी मज़ेदार चीज लाती। उसे यह मालूम था कि केक और बिस्कुट के टुकड़े कहाँ सस्ते मिलते हैं। होटल में बनायी गयी चाय-पत्ती फिर से सुखायी जाती। वह सस्ती मिलती। यही सेकेंड-हैंड चाय हमारे घर बनती। माँ मार्केट में कागज़ बीनने जाती है, इसकी मुझे बड़ी शर्म आती। साला, इतना पढ़-लिख गये, लेकिन अभी भी माँ को मज़दूरी पर दिन काटने पड़ रहे हैं। और काम भी क्या? काग़ज़ बीनने का। समाज में कैसी प्रतिष्ठा? शायद यह प्रतिष्ठा की बात शिक्षा के कारण मेरे भीतर पैदा हुई। चारों ओर इस तथाकथित प्रतिष्ठा की परवाह किसी को न थी। दुखों के परिचय से दूर उनका जीवन अबाध आगे बढ़ता जा रहा था और मैं अकेला भीतर-ही-भीतर खोखला हो रहा था। दीमक लगे पेड़-सा।

रोजगार दफ़्तर की सीढ़ियाँ रोज़ चढ़ता-उतरता था। निराश मन लिये घर आता था। शेड्यूल्ड कास्ट की अलग लिस्ट होती। आज-सी गंभीर स्थिति उन दिनों नहीं थी। कॉल भी आती, परन्तु इंटरव्यू में मैं साफ़ उड़ जाता। आलीशान दफ़्तर। नीचे मखमली गलीचे। लाल-लाल होंठों से 'हलो' कहने वाली रिसेप्शनिस्ट दरवाज़े पर होती। ये सारी दुनिया सपनों की दुनिया लगती। बस्ती की ज़िंदगी इससे पूरी तरह अलग। वहाँ गालियाँ, गुदड़ियाँ, कोयले की सिगड़ियाँ और दमघोंटू धुआँ। घर खचाखच भरा हुआ। उप-किरायेदार। मैं टांय-टांय अँग्रेज़ी न बोल सकता। किसी के पूछने पर 'यस' या 'नो' इतना ही कह पाता। इंटरव्यू में पसीना छूटता।

एक बार पुलिस-कमिश्नर के ऑफ़िस में इंटरव्यू के लिए जाना पड़ा। वातावरण में सरल फ़ौलादी अनुशासन। जब मेरी बारी आती है तो देखता हूँ कि वहाँ एक नुकीली मूँछवाला, फ़ौजी रोबदाब वाला व्यक्ति बैठा है। अँग्रेज़ी में उलटे-सीधे सवाल पूछता है। संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाता। वे

दिखायी दिये थे।

बचपन में देखा कावाखाना और आज का कावाखाना—इसमें कोई सांस्कृतिक परिवर्तन न था। मौसेरे चाचा की आर्थिक हालत ही कुछ सुधरी थी। एक मौसेरा चाचा बर्माशिल मे था। मैं उन्हे बाबा कहता। गरजमदो को ब्याज पर पैसे देते। इस कारण उनकी जेब हमेशा गरम रहती। उनकी बातों में रौब होता। अँगुलियों में सोने की अँगूठियां। घडी भी झलकती। पत्नी के शरीर पर गहनों की भरमार। परन्तु यह सब तीज-त्योहारो पर ही दिखता। हालांकि इनके पास पैसा था, फिर भी सुबह होते ही पत्नी अलंकारहीन होकर दूसरी महिलाओं के साथ कागज बीनने जाती। मेरे दिमाग मे प्रश्न उठता, आवश्यकता न रहने पर भी चाची को कागज बीनने क्यों भेजते हैं ? इनका बेटा मुझसे एक-दो साल छोटा था। नवी-दसवी मे होगा। इस लड़के को यह बात तनिक भी पसंद न थी कि उसका बाप दूसरों को ब्याज पर पैसे दे। हमारे दोनों-तीनो कमरो के किराये की रसीद बाबा के नाम ही फाड़ी जाती। वैसे हम कानून से उनके उप-किरायेदार थे। अपने नाम की किराया-रसीद हो, ऐसा पिताजी या चाचा को कभी जरूरी नहीं लगा। इस कारण सब लोग बाबा से डरकर रहते। हमारा फिर से उस कमरे में आकर रहना चाची को पसंद न था। परन्तु बाबा के डर से वह कुछ न कहती। दादी को रात में चाय की तलब उठती। दादी की यह बहुत पुरानी आदत थी। कहते है, पहले वह चाय की तलब के लिए सौ रुपये का नोट तुड़ाने में भी आगा-पीछा न सोचती। इस बुढापे में अब बाबा के घर उसकी चाय की तलब पूरी न होती। रात में घर पर चाय न बनायी जाती। बाहर वाले को आर्डर दिया जाता। यह बाहर वालों का बडा दबदबा था। सिर्फ़ सूखा-सूखा नही, मँगाओ खीमपाव! दादी को सोने से पहले चाय मिलना भोजन मिलने-सा होता। चाय पीते समय दादी की गप्पें चलती। उस समय इन दोनो भाइयो ने गाँव में अँग्रेजी-खपरैलो का घर बनाने का काम शुरू किया। सब सुन सकें, इतनी ऊँची आवाज मे कहती है—"मेरा दगडू भी ऐसा ही बडा मकान बनायेगा!" इस पर

मेरी मार्क्सलिस्ट देखते हैं। अँग्रेज़ी में इतने अच्छे मार्क्स देखकर उन्हें शंका होती है कि यह मार्क्सलिस्ट मेरी नहीं है। वे मुझे लेफ़्ट-राइट लेते हैं। मैं शपथपूर्वक बताता हूँ कि यह मार्क्सलिस्ट मेरी ही है। मेरी माँ मज़दूरी करती है। मुझे नौकरी की कितनी सख्त ज़रूरत है, यह मैं आँखों में सारी मजबूरी उतारकर ऑफिसर को बताता हूँ। परन्तु ऑफ़िसर सीधे मेरी हँसी उड़ाता है। मेरा चेहरा रुआँसा हो आता है। मैं क्लर्क की नौकरी के भी लायक नहीं, ऑफिसर की यह बात सुनकर भीतर तक टूट जाता हूँ। बाहर आने पर मन मे घुटन समा चुकी थी। कोई न देख सके, ऐसे एकांत मे फूट-फूटकर रोने की इच्छा होती है। आकाशवाणी भवन से भी इसी तरह *खाली हाथ लौटना पड़ा था। मैं टाइपिंग नहीं जानता, उनकी* टिप्पणी थी।

खाली समय खाने को दौड़ता। पढ़ने का शौक बचपन से था ही। परन्तु अपनी रुचि की पुस्तकें न मिलती। जितनी भूख पेट की थी, उतनी ही वाचन की थी। वाचन की भूख थोडी-बहुत नेबरहुड लाइब्रेरी मे शांत कर सका। कावाखाने के पास ही सड़क पार करने पर एक बहुत बड़ा चर्च था। उसी चर्च के पास ही मिशनरी लोगो की लाइब्रेरी थी। राव नाम का लाइब्रेरियन था। उससे मित्रता बढायी। मेरी पसंद की किताबें वह घर पढने को देता। मुझे फ़ीस न देनी पड़ती। वैसे फ़ीस मेरी जेब से भी *अधिक थी। पाँच-छः महीने मे करीब-करीब सारी पुस्तकें छान मारी। सबसे अधिक पागल किया शरच्चन्द्र ने। उनका 'श्रीकांत'* पढकर मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ। श्रीकांत की मानसिकता, न जाने क्यों, मुझे बहुत परिचित लगी। इसी तरह राहुल साकृत्यायन की 'वोल्गा से गंगा' किताब गहरे छू गयी। रसेल का नीति-शास्त्र यहीं पढ पाया। मेरे सिवा यहाँ मराठी कविताओं को कोई न पढ़ता। उमर ख़ैय्याम की अनूदित रुबाइयाँ गुन-गुनाना मेरा पसंदीदा शौक। मराठी उपन्यासों के इतने विशाल भंडार से कुछ उपन्यास ही याद रहे, जिन्हे मराठी समीक्षकों ने *कभी महत्व नहीं दिया। डॉ० रंगनाथ देशपांडे का 'आग्या मोहोल' और मनोहर तल्हार का* 'मानस' शायद इसलिए भाये हों कि उनमे मुझे अपनी ही जिंदगी के चित्र

दिखायी दिये थे ।

बचपन में देखा कावाख़ाना और आज का कावाख़ाना—इसमें कोई सांस्कृतिक परिवर्तन न था । मौसेरे चाचा की आर्थिक हालत ही कुछ सुधरी थी । एक मौसेरा चाचा बमशिल में था । मैं उन्हें बाबा कहता । ग़रजमंदों को ब्याज पर पैसे देते । इस कारण उनकी जेब हमेशा गरम रहती । उनकी बातों में रोब होता । अँगुलियों में सोने की अँगूठियाँ । घड़ी भी झलकती । पत्नी के शरीर पर गहनों की भरमार । परन्तु यह सब तीज-त्योहारों पर ही दिखता । हालाँकि इनके पास पैसा था, फिर भी सुबह होते ही पत्नी अलंकारहीन होकर दूसरी महिलाओं के साथ कागज़ बीनने जाती । मेरे दिमाग़ में प्रश्न उठता, आवश्यकता न रहने पर भी चाची को कागज़ बीनने क्यों भेजते हैं ? इनका बेटा मुझसे एक-दो साल छोटा था । नवीं-दसवीं में होगा । इस लड़के को यह बात तनिक भी पसंद न थी कि उसका बाप दूसरों को ब्याज पर पैसे दे । हमारे दोनों-तीनों कमरों के किराये की रसीद बाबा के नाम ही फाड़ी जाती । वैसे हम कानून से उनके उप-किरायेदार थे । अपने नाम की किराया-रसीद हो, ऐसा पिताजी या चाचा को कभी ज़रूरी नहीं लगा । इस कारण सब लोग बाबा से डरकर रहते । हमारा फिर से उस कमरे में आकर रहना चाची को पसद न था । परन्तु बाबा के डर से वह कुछ न कहती । दादी को रात में चाय की तलब उठती । दादी की यह बहुत पुरानी आदत थी । कहते हैं, पहले वह चाय की तलब के लिए सौ रुपये का नोट तुड़ाने मे भी आगा-पीछा न सोचती । इस बुढ़ापे मे अब बाबा के घर उसकी चाय की तलब पूरी न होती । रात में घर पर चाय न बनायी जाती । बाहर वाले को आर्डर दिया जाता । यह बाहर वालों का बड़ा दबदबा था । सिर्फ़ सूखा-सूखा नहीं, मँगाओ खीमपाव ! दादी को सोने से पहले चाय मिलना भोजन मिलने-सा होता । चाय पीते समय दादी की गप्पें चलती । उस समय इन दोनों भाइयों ने गाँव में [illegible] का घर बनाने का काम शुरू किया । सब सुन सकें, इतनी ऊँची आवाज़ में कहती है—"मेरा दगड़ू भी ऐसा ही बड़ा मकान बनायेगा !" [illegible]

बाबा मजाक उड़ाते हुए कहते हैं, "उसे कह कि मुँह धोकर आये। मकान बनाना क्या हँसी-खेल है? शादी करके देखो और मकान बना के देखो, यह क्या यूँ ही कहते हैं?" मैं यह सब सुनता रहता हूँ। मैं अपना अपमान सहन नहीं कर पाता। परन्तु इस अपमान की छाया चेहरे पर नहीं आने देता। हँसते-हँसते कहता हूँ, "देखो बाबा, जब आप बंबई आये थे, तब हमाली करते थे और आज मैं पढ़-लिखकर आया हूँ। मुझे जो नौकरी मिलेगी, वह तीन-चार सौ रुपयों की होगी। आप ऐसा न ˜ कि मैं मकान नहीं बनवा पाऊँगा।" यह मैं भावावेश मेें ५
अपनी बात का खोखलापन अब मुझे मालूम हो गया

छुट्टी के दिन आसपास के घरों मे जुए के 'अड्डे'। जुए के लिए स्थान देने पर घर के मालिक को पैसे मिलते। कभी-कभी पुलिस छापा मारती। ऐसे समय क़ानून से बच निकलने के लिए सिर पर पैर रखकर भागते।

अपने ही गाँव का महादू याद है। वह एक नंबर का जुआरी। उसे जुए में पैसे उड़ाने का बेहद शौक़। यह कभी भी काम करते न दिखता। बाद में इसे बंबई से 'सीमापार' किया गया। चोरी करना उसका मुख्य धंधा था। उस आदमी के लिए मुझे बड़ा अचरज होता। उसने कभी बड़ी चोरियाँ नहीं की। छाते, सूखती साड़ियाँ, ये मामूली चोरियाँ वह करता। चोरी के आरोप मे जब वह कई बार पकड़ा जाता है, तब उसे सीमापार कर दिया जाता है। गाँव में भी वह लड़कों को जमा कर जुआ खेलता। बड़ी मजेदार बातें करता था वह। अनुभवों के कई किस्से सुनाता। लगता, इतना अच्छा आदमी चोर कैसे हो सकता है? परन्तु वह इतना गहरा था कि उसके चेहरे पर असलियत कभी न झलकती। दिन मे जुआ और रात को कावाखाने में 'भगत घुमाना' इन लोगों का खास काम।

भगत घुमाने की आवाज से सारा वातावरण भयभीत होता। इस भगत मे तरह-तरह की भगत-मंडली साथ होती। कुछ आग पर चलने वाले, तो कुछ जलती ज्वाला गप-से लीलने वाले। उनके सामने घेरा भरा रहता। रोगी को वे 'झाड' कहते। झाड़ को वे सपासप बेंत से पीटते और झाड कलेजा दहलाने वाली आवाज में चीखता रहता। बस, यही दृश्य मन पर स्थायी है। बाद मे उन्हें कुछ कहना अपने बस के बाहर की बात होती। ऐसे समय एक अघोरी भगत आता। खुद ही उलटी करता और फिर घूम-घूमकर इसे चाटता। देखने वालों को बड़ी घिन आती।

जिस तरह भगतों का पागलपन कावाखाने मे था, वैसा ही सोना बनाने का भूत भी उन पर सवार था। उसमें बाबा सबसे आगे। वे भट्टी सुलगाते। उसमें रासायनिक प्रक्रिया के लिए कुछ दवाइयाँ डालते। परन्तु मुझे याद है, उसमे से सिर्फ़ लोहे के गोले ही निकलते। इस सबकी हम लड़के बहुत हँसी उड़ाते।

एक बार ऐसी ही वैदू बाई आयी। सोना दुगुना करने का लालच देती है। कावाखाने की सभी औरतों ने अपने गले की सोने की चैनें उस बाई

बाबा मज़ाक उड़ाते हुए कहते हैं, "उसे कह कि मुँह धोकर आये। मकान बनाना क्या हँसी-खेल है? शादी करके देखो और मकान बना के देखो, यह क्या यूँ ही कहते हैं?" मैं यह सब सुनता रहता हूँ। मैं अपना अपमान सहन नहीं कर पाता। परन्तु इस अपमान की छाया चेहरे पर नहीं आने देता। हँसते-हँसते कहता हूँ, "देखो बाबा, जब आप बबई आये थे, तब हमाली करते थे और आज मैं पढ़-लिखकर आया हूँ। मुझे जो नौकरी मिलेगी, वह तीन-चार सौ रुपयों की होगी। आप ऐसा न समझें कि मैं मकान नहीं बनवा पाऊँगा।" यह मैं भावावेश मे बोल गया था। परन्तु अपनी बात का खोखलापन अब मुझे मालूम हो गया है।

मकान बनाना तो दूर रहा, ख़ानदानी मकान भी मैं नहीं बचा सका। इस बबई मे खुद का फ़्लैट नही ले सका। आज भी टीन की चादरों से बने घर मे रहता हूँ। चाचा के वक़्त के रुपयो की कीमत आज नगण्य है। दुनियादारी के गड्ढे भरते-भरते मैं थक गया हूँ। जिस तरह नौकरी की तलाश में थका था, ठीक उसी तरह। किराये का ही क्यों न हो लेकिन सिर पर छाया हो, इसके लिए मैंने कितनी मानसिक यातना झेली। कितने लोगों के सामने कितनी बार अपना दयनीय चेहरा रखा! दादासाहब विधायक थे, तब की बात है। पत्नी कहती—"दादासाहब से तुम्हारी पहचान है। इतना छोटा काम भी क्या वे नही कर सकेंगे?" अपने-आपको अलग रखकर मैं उनसे मिलने गया। उन्होने मुझे दूसरे दिन आमदार-निवास में बुलाया। सुबह गया तो उन्होने कहा कि उन्हे किसी बड़े अधिकारी ने 'सारंग' में नाश्ते पर बुलाया है। मुझसे कहा, "तू मेरे साथ चल, पर नीचे रुक। मैं अभी दस-पद्रह मिनट मे आया।" मैं 'सारंग' के सामने सागर की उफनती लहरें देखता रहा। साहब नीचे उतरे, पर अकेले न थे। बड़े अधिकारी साथ थे। साहब अब मुझे भूल चुके थे। शायद बड़े अधिकारी साथ होने के कारण उनके सामने कोई धर्म-संकट रहा हो। वे अधिकारी की गाडी में बैठकर मेरे सामने ही फुर्र-से निकल गये। मैं गाडी को पागल-सा देखता हूँ। इतने साल बीत गये, पर यह घटना मैं नही भूल सका। अकेले मे यह घटना याद आने पर उसाँसों से गला भर आता है।

छुट्टी के दिन आसपास के घरों में जुए के 'अड्डे'। जुए के लिए स्थान देने पर घर के मालिक को पैसे मिलते। कभी-कभी पुलिस छापा मारती। ऐसे समय कानून से बच निकलने के लिए सिर पर पैर रखकर भागते।

अपने ही गाँव का महादू याद है। वह एक नंबर का जुआरी। उसे जुए में पैसे उड़ाने का बेहद शौक। यह कभी भी काम करते न दिखता। बाद में इसे बंबई से 'सीमापार' किया गया। चोरी करना उसका मुख्य धंधा था। उस आदमी के लिए मुझे बड़ा अचरज होता। उसने कभी बड़ी चोरियाँ नहीं कीं। छाते, सूखती साड़ियाँ, ये मामूली चोरियाँ वह करता। चोरी के आरोप में जब वह कई बार पकड़ा जाता है, तब उसे सीमापार कर दिया जाता है। गाँव में भी वह लड़कों को जमा कर जुआ खेलता। बड़ी मज़ेदार बातें करता था वह। अनुभवों के कई किस्से सुनाता। लगता, इतना अच्छा आदमी चोर कैसे हो सकता है? परन्तु वह इतना गहरा था कि उसके चेहरे पर असलियत कभी न झलकती। दिन में जुआ और रात को कावाखाने में 'भगत घुमाना' इन लोगों का खास काम।

भगत घुमाने की आवाज से सारा वातावरण भयभीत होता। इस भगत में तरह-तरह की भगत-मंडली साथ होतीं। कुछ आग पर चलने वाले, तो कुछ जलती ज्वाला गप-से लीलने वाले। उनके सामने घेरा भरा रहता। रोगी को वे 'झाड़' कहते। झाड़ को वे सपासप बेंत से पीटते और झाड़ कलेजा दहलाने वाली आवाज में चीखता रहता। बस, यही दृश्य मन पर स्थायी है। बाद में उन्हें कुछ कहना अपने बस के बाहर की बात होती। ऐसे समय एक अघोरी भगत आता। खुद ही उलटी करता और फिर घूम-घूमकर इसे चाटता। देखने वालों को बड़ी घिन आती।

जिस तरह भगतों का पागलपन कावाखाने में था, वैसा ही सोना बनाने का भूत भी उन पर सवार था। उसमें बाबा सबसे आगे। वे भट्ठी सुलगाते। उसमें रासायनिक प्रक्रिया के लिए कुछ दवाइयाँ डालते। परन्तु मुझे याद है, उसमें से सिर्फ़ लोहे के गोले ही निकलते। इस सबकी हम लड़के बहुत हँसी उड़ाते।

एक बार ऐसी ही वैदू बाई आयी। सोना दुगुना करने का लालच देती है। कावाख़ाने की सभी औरतों ने अपने गले की सोने की चैनें उस बाई

को दे दी। कुछ देर बाद वे देखते हैं कि सभी गहने पीतल के निकले।

सेक्स की चर्चा वैसे खुले आम चलती। किसी को यह बात अश्लील न लगती। *कावाखाने में सयाजी नाम का एक व्यक्ति था। बहुत दुबला।* मारी हड्डियाँ गिन सकें, इतना दुबला। उसकी दमे-सी साँस फूलती। कहते है, उसकी शादी हुई। परन्तु जनखे को क्या पद्मिनी! उसकी जवान पत्नी उसे छोड़कर चली गयी। पर सयाजी वैसे जनखा नही था। उसने एक ऊँची-पूरी गोरी बाई रख ली। बाई फुटपाथ पर केले बेचती थी। बरसात मे भुट्टे भूनकर बेचती। इन दोनों ने एक साथ फ़ोटो भी खिचवाया था। वैसे सयाजी अनाथ ही था। उसका अपना करीबी कोई नही था। रेलवे मे सरकारी नौकरी। *बाई उसे निचोड़ खाती। सयाजी अपने* मन की व्यथा दूसरी स्त्रियों के सामने खोल देता है। केले वाली बाई सयाजी को रात मे हाथ भी नही लगाने देती। उसका सारा माल खाती है। उसकी कमाई की झिलमिल साड़ियाँ पहनती है। पान की पट्टियाँ खाती है।

सयाजी को बुरी तरह ठगा गया है, इस निश्चय पर पहुँचने के बाद चाल की औरतों ने सयाजी की मदद करने का निर्णय लिया। सबका भोजन निपट चुका। सयाजी के लिए एक कमरा खाली किया जाता है। वह रात सयाजी के हनीमून की रात थी। पर बाई बड़ी उस्ताद। ज़ोर-ज़ोर से चीख़-चिल्लाकर उसने कावाखाना सिर पर उठा लिया। परन्तु औरतें भी मानने वाली नहीं थीं। मंजुला सबसे आगे रहती। वे कमरे में घुसती है। कोई उसके पैर पकड़ती है, तो कोई सिर और सयाजी को कार्यक्रम निपटाने के लिए कहती है। हम यह सारा दृश्य खिडकी से देखते हैं। बाई ने हाथ-पैर झटकने की शुरुआत की। पता नही, अँधेरे में कहाँ से बाबा प्रकट हुए। बाई को मुक्ति मिली। अपनी साडी छाती पर लपेटकर वह अँधेरे में ग़ायब हो जाती है। पर इसके बाद सयाजी ने औरतो का पीछा छोड दिया। मैं जब केले वाली बाई की मानसिकता का विचार करता हूँ तो मेरे दिमाग में बहुत उलझनें पैदा हो जाती है।

काबाख़ाने मे जिस तरह सट्टा-बेटिंग चलता, उसी तरह दारू की भट्टियाँ भी थी। गली के मुसलमान मवाली यह धंधा करते। इनकी भट्टियों की जगह संडास के पास ही तय होती। रात मे दस-बारह के बाद सडास के पास जाने की हिम्मत किसी की न होती। स्त्रियाँ तो कुछ अधिक ही डरतीं। एक बार एक स्त्री अँधेरे मे नल के नीचे नहा रही थी। एक मवाली गुंडा आता है और उस पर मूतता है। वह स्त्री असमंजस मे। उसके सामने प्रश्न यह था कि ठंडे पानी मे नहाते समय यह गरम पानी कहाँ से आया? दहकती भट्टियों पर टीन के डिब्बों मे दारू का मसाला पकता रहता। पानी के बजाय ऊपर टीन के डिब्बे पर बर्फ़ का बहुत बडा टुकडा रखा रहता।

एक दिन मुझ पर काबाख़ाना सुधारने का भूत सवार हुआ। वैसे भी नये विचार मैं स्कूल से लेकर आता हूँ। एक शाम अकेला ही बॉम्बे सेंट्रल स्टेशन जाता हूँ। पब्लिक फ़ोन घुमाता हूँ। घर आकर देखता हूँ तो दारू की भट्टियों पर पुलिस का छापा था। सारा माल जब्त करते है। अलबत्ता दारू निकालने वाला कोई हाथ नही लगता। आज कुछ अच्छा काम किया, इसलिए उस दिन अच्छी नींद लगी।

दूसरे दिन यूँ ही काबाखाने की ओर आता हूँ। साथ में कॉलेज जाने वाली मित्र-मडली थी। आँखें तरेरता हुआ गुंडा सामने अड जाता है। मैं सहज पूछता हूँ—"क्या चाहिए?" मुझसे एक शब्द न बोलते हुए वह एक दनदनाता तमाचा मेरी कनपटी पर जड़ देता है। क्षण-भर बिजली कौंधती है। साथ के दोस्त विरोध नही करते। जैसे कुछ हुआ ही न हो, इस तरह हम आगे बढे। मवालियों के गुडों के ख़िलाफ़ रिपोर्ट विजिलेंस को दी। खबर के बारे में इन्हे जानकारी तो नही मिली, इस शका से मैं रात-भर नहीं सो सका। परन्तु इसके बाद काबाख़ाना सुधारने का उत्साह बारिश मे पड़े ढेले-सा अपने-आप घुल गया।

शादी के लिए रिश्तेदारों से लगातार प्रस्ताव आते रहते। परन्तु मुझे यह सवाल ठंडा कर देता कि नौकरी के बिना शादी कैसी? शादी

लेने के लिए मौसेरे चाचा उतावले हो उठे थे। लड़की के रिश्तेदारों के और इनके सम्बन्ध बहुत अच्छे थे। इसलिए उन्होंने शादी की रट लगा दी। माँ से ये हमेशा कहते, "लड़की बड़ी हो गयी है, उसे आँचल आ गया है। नौकरी क्या, आज न कल लग ही जायेगी। जिसने चोंच दी है, वह चारे की भी व्यवस्था करेगा।" यह सबकी ही भाषा होती। हमारी गाँठ में फूटी कौड़ी भी न थी। शादी का सारा खर्च मौसेरे चाचा उठाने को तैयार थे। निश्चित ही यह सब खर्च वापस कर देने के आश्वासन पर। आज नहीं, तो कल नौकरी लगेगी, इस हिसाब से। मुझ पर यह उपकार था, क्योंकि इस पर ब्याज नहीं लगना था। एक ओर सई का चेहरा, उसकी बोलती आँखें, उसका गोरा रंग, आँखों को चकाचौंध कर रहा था तो दूसरी ओर आर्थिक हालत बेचैन कर देती।

अंत में सई की ही विजय हुई। नौकरी न होते हुए भी मैं शादी के लिए तैयार कैसे हुआ, यह प्रश्न आज भी मुझे सताता है। सई के रिश्तेदार बम्बई बुलाये गये। शादी गाँव में होने वाली थी, पर शादी का कपड़ा बम्बई में खरीदा जाने वाला था।

उन दिनों महार लोगों में शादी का 'बस्ता बाँधना' एक मजेदार बात होती। दूल्हा-दुल्हन के रिश्तेदार, गाँव वाले—सब मिलकर बस्ता बाँधने जाते। बस्ता बाँधना अर्थात् दूल्हा-दुल्हन के कपड़े खरीदना। सारी मंडली दुकान के सामने घेरा बनाकर खड़ी रहती। उसमें से दस-बीस कपड़ों की परख के लिए दुकान के भीतर। उसमें दो-एक महिलाएँ विशेष रूप से रहतीं। दुकानदार को इसकी पूरी जानकारी रहती। ऐसे समय दोनों पक्ष एक-दूसरे को 'काटने' को सोचते। दूसरे पक्ष ने जिस कपड़े को हाथ लगाया होता, वह कपड़ा खरीदना पड़ता। इस पर भयंकर झगड़ा उठ खड़ा होता। कभी-कभी शादियाँ टूट जातीं। दुकानदार अपनी कीमत पर अड़ जाता। बस्ता बाँधने पर दुकानदार बड़ी दिलदारी से सबको जलपान देता। परन्तु बस्ता बँधवाने वाले को यह जानकारी न होती कि चाय के पैसे दुकानदार ने पहले ही निकाल लिये हैं। दादर, म्हातारपाखाडी या डोंगरी इन बस्तियों में बस्ता बाँधने का कार्यक्रम विशेष रूप से रंग लाता। बस्ता काँख में दबा दोनों पक्ष किसी बगीचे में जाकर बैठते। हलवाई की दुकान

से लड्डू लाये जाते और बगीचे में सबको बाँटे जाते। गाँव से कोई न पहुँचा हो तो लड्डू उसके घर पहुँचाये जाते। ऐसा था यह बस्ता।

मुझे जब अपने बस्ते की याद आती है तो आज भी मेरे रोंगटे खड़े हो जाते है। बस्ता बाँधने से पहले ही विवाद खड़ा हो गया। मेरे पक्ष मे कुछ पढे-लिखे मित्र थे। उनमे सदाशिव प्रमुख। उसका कहना था कि दूल्हा पढ़ा-लिखा है, उसे लड़की वालो की ओर से सूट मिलना ही चाहिए। अजीब बात यह थी कि लड़की वालों की ओर से मेरे मौसेरे चाचा ही बोल रहे थे। उन्होंने हमारी माँग ठुकरा दी—"हम धोती, कोट, पगड़ी, जूता देंगे—पुराने हिसाब से कपड़े खरीदेंगे।" यह उनकी जिद थी। हमारी ओर से लडकी के लिए कीमती शालू पहले ही खरीदा जा चुका था। "लडकी के कपड़ों के लिए जो खर्च हुआ उसकी आधी क़ीमत के कपड़े हम देंगे।" उनका कहना था। यह परपरा चली आ रही थी। झगडा बढ़ता गया। मैं भी पीछे हटने को तैयार नही था। दुकान के सामने यह झझट चल रहा था। हम आँकड़ों के आधार पर यह सिद्ध करने पर तुल गये—आप जो कपडे ख़रीदने वाले हैं, उतने पैसों में ही सूट हो जायेगा। लडकी वालो के बजाय हमारे चाचा ही मानने को तैयार न थे। अब आगे क्या होगा, इसलिए सब चितामग्न। इतने मे बाबा का पारा अतिम छोर पर पहुँच गया। वे दहाड़ते हैं, अनाप-शनाप गालियाँ बकते है। मेरे कुछ करने-कहने से पहले ही वे मेरे गाल पर अपनी पाँचो अँगुलियो के निशान जड़ देते है। पल-भर तो मालूम ही नही हुआ, क्या हो रहा है। फिर मैं अनियत्रित हो गया—"शादी तोड़ दीजिये।" जाहिर कर देता हूँ। सिर्फ़ लड़की का बस्ता लेकर ही वे सब उस रात घर वापस लौट गये।

उस दिन मुझे अपने होने वाले ससुर पर आश्चर्य हुआ। उन्होंने झगड़े में कोई हिस्सा नही लिया। मेरा पक्ष भी नहीं लिया। उन्हे कही ऐसा तो नही लग रहा था कि जो भी होता है, अच्छा ही होता है! रात-भर सो नहीं सका। करवटें बदलता रहा। मेरे स्वभाव में बड़ा अजीब विरोधाभास है। उसका परिणाम दो-तीन दिन मे सामने आया। कावाखाने में सन्नाटा फैल गया। मुझसे कोई बात न करता। शादी टूट गयी है, ऐसी सबकी धारणा

थी। मेरा गुस्सा धीरे-धीरे शात होने लगा। सई के भविष्य का क्या होगा? मुझसे उसकी शादी तय हुई है, यह बात सारे इलाक़े को मालूम हो गयी थी। फिर अब उससे कौन शादी करेगा? उलटे-सीधे विचार मन में डेरा डाल रहे थे। सई हाथ से निकल जायेगी, यह डर भी था ही। उसके सौदर्य पर मैं सही अर्थों मे न्यौछावर हो गया था। आज मैं यहाँ पूरी तौर पर यह नही बता सकता कि उस समय कौन-सा विचार मुझ पर हावी था! पर मैं गरदन नीची किये ससुर को मिलने निकल पड़ा। "मुझे आपकी कोई भी शर्त मंजूर है। आप अपने हिसाब से मेरे लिए कपड़े लीजिये। यदि न ख़रीदे तो भी चलेगा। मैं जिन कपड़ों मे हूँ, उन्ही कपड़ों में मडप में खड़ा रहूँगा।" शायद ससुर को अपनी बेटी के सौदर्य का घमंड रहा हो। लड़के को तानकर रखने से ही वह रास्ते पर आयेगा, ऐसा भी उनकी अनुभवी नजरों को लगा होगा। बहरहाल, सब लोगों ने मिलकर मेरे लिए एक सूट ख़रीद दिया। उनमे यह परिवर्तन कैसे आया, मुझे भी नही मालूम। शादी के समय पर सूट पहन कर कैसे दिखूँगा, यही चित्र मेरे सामने तैरते रहे। वैसे भी जिंदगी मे सूट पहनने का पहला अवसर था। खुशी न होती तो ही आश्चर्य होता।

शादी किस साल हुई, आज याद नही। पर अक्तूबर 1954 मे मैट्रिक पास हुआ। उसके पाँच-छः महीने बाद ही शादी के मंडप में था। उस समय महार लोग नव-बुद्ध नही बने थे। शादी परम्परागत पद्धति से ही सपन्न हुई। शायद इस पद्धति से विवाह करवाने वाला मैं आख़िरी व्यक्ति रहा होऊँ। बौद्ध हो जाने के कारण आजकल महारों की एक-दो घंटे मे ही विवाह-विधि संपन्न हो जाती है। वह भी सरल पद्धति से। पचशील, शरण और शपथविधि सपन्न हुई नही कि हो गयी शादी। परन्तु, मेरी शादी के कार्यक्रम दो-तीन दिन चले।

शिक्षा के कारण दिमाग़ में कुछ नयी बातें घर कर गयी थी। मैं हल्दी नही लगाने दूँगा, चेहरा ढँकने वाला मौर आदि नही बाँधने दूँगा। मेरी ये माँगें देख कर बाराती चकरा गये। इतना प्रगतिशील दूल्हा शायद वे पहली ही बार देख रहे थे। मेरा विरोध शुरू हुआ। माँ घुटनों मे सिर दबा कर सुबकने लगी। अंत में मैंने हाथ-पैरों मे हल्दी लगाने की इजाजत दे

दी। मोतियों के एक-दो सेहरे बाँधने दिये। यह सब समझौता मैंने माँ के संतोष के लिए किया।

हल्दी के दिन महारवाड़ा के सभी रिश्तेदारों को पगत देने की प्रथा थी। ऐसे समय पिछली कुछ पंगत बाक़ी रही होगी तो उनका हिसाब भी यहाँ चुकता कर देते। सब पत्तलें उठानी पड़ती। शादी के समय रिश्तेदारों के नखरे बढ़ जाते। शादी में नही आयेंगे, ऐसी धमकी भी दी जाती। रिश्तेदार यदि शादी मे आयें तो व्यक्ति के ख़ानदानी होने की पावती मिलती। नही तो लोग ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा समझते। वैसे हम पर कोई पिछली पगत बाक़ी नही थी। पगत में पूरी और गुड़-पाक देना बहुत अच्छा भोजन समझा जाता।

हल्दी के दिन की पगत वाली घटना याद आ रही है। इस पंगत की सारी ख़रीदारी रिश्तेदारों की सलाह से तालुके से की गयी थी। चावडी पर बड़ी भट्टी खोदी गयी। कडाही मे पूरियाँ तली जा रही थी। तानाजी माल पर कौवे-सी आँखें गड़ाये हुए हैं। न जाने क्यों तान्या बाबा को रिश्तेदारों पर शका हुई। उसने चावड़ी की गैलरी में जाकर देखा। वहाँ गुड और आटे की लोई चुरा कर रखी गयी थी। तान्या बाबा गुस्से में आकर माँ-बहन की गालियाँ बकते है। कार्यक्रम का बिगाड़ना, शादी-घर की हँसी उड़ाना, यह कुटिल चाल थी रिश्तेदारों की। यह परपरा मैं बचपन से देख रहा हूँ। लोग खाने बैठे कि पूछिये मत। कोई जाँघों के नीचे पूरियाँ दबाते, तो कोई 'मेरा लड़का बम्बई में है, उसका हिस्सा डालिये', 'मेरे बेटे की शादी में कैसे गले तक भरा था?' यह औरतों की पगत का संवाद। मेरा सिर चकराने लगता है। पर कुछ बोलने पर अपनी ही शादी का सत्यानाश होता, इसलिए तेरी भी चुप मेरी भी चुप। इस भोजन के बाद मडली शादी की रस्म के लिए लड़की के गाँव निकलने वाली थी। इकलौती बैल-गाड़ी किराये पर ली गयी। सारे बाराती भला उसमें कैसे बैठते? महार-वाड़ा के लोग रूठ गये। हमारे बीच जिम्मेदार व्यक्ति कोई नही था। दादा तानाजी सबको समझाते हैं, "विधवा के बेटे की शादी मे यह सब क्या करते हैं!" ऐसा दयनीय वातावरण बनाते हैं। परन्तु लोग हिलने को तैयार न थे। अंत मे तान्या बाबा सबका बस-ख़र्च देते हैं। गाड़ी-ख़र्च मिलते ही सब

खुश हो जाते हैं। मेरे गाँव से दुल्हन का गाँव दस-बारह मील ही था। दूल्हे की गाड़ी निकलते समय तान्या बाबा नारियल फोड़ना नहीं भूलते।

मेरी सजावट कुछ मजेदार ही थी। हाथ की कटार ठीक से संभालने की बार-बार चेतावनी दी जाती। हल्दी वाले शरीर पर भूत जल्दी बिगड़ते है, इसलिए हाथ मे कटार। उसकी नोक पर नीबू घोंपा हुआ। गाडी मे गाना शुरू था :

"घोड़े, फदाक-फदाक तेरी चाल...।"

शादी मे बड़ा मजा आया। वैसे इसका श्रेय मेरी हास्य-सूचकता को भी जाता है। आज मैं बहुत गभीर-सा हूँ। चेहरे पर कभी-कभी ही हँसी फूटती है। पर इस उम्र मे कितने ठहाके लगाये, कोई गिनती नहीं ! सारे बारातियो को हँसाता रहा।

शादी के बाद गाँव मे बैलगाड़ी से जुलूस निकाला गया। हल्दी की गंध लिये पत्नी बग़ल मे बैठी थी। किसी के ध्यान मे न आये, इस तरीक़े से पत्नी की चिकोटी लेने की लहर मन मे आयी। पत्नी गाल के मोर खिसकाकर गुस्से से देखती है। इतने लोगों मे यह फ़ालतू धधा क्यों, उसकी नजरो का आशय था। जावजीबुआ बीच मे ही पास आकर "जरा रौब से बैठ" कह जाते हैं। "लड़के के हिसाब से लड़की बहुत बड़ी हो गयी। यह लंगर लड़के के गले बेकार ही बाँध दिया।" उनका यह मत था। वह क्या बोल रहा है, यह मुझे उस समय विशेष रूप से समझ न आया था। एक बात सही थी कि एक साल पहले जब मैंने सई को देखा था, तब वह काफी दुबली-पतली थी। छरहरी बेंत की छड़ी-सी। परन्तु आज शादी मे जब देखता हूँ तो वह शरीर से काफी भरी-भरी लगती है। मैं ही उसे शुरू मे पहचान न सका।

रात मे भोजनादि के बाद समधिनजी का रुखवत का खेल शुरू हुआ। इस खेल का अर्थ मुझे आज भी नहीं मालूम। समधिन के सिर पर कुरडियाँ फोड़ना, अश्लील गाने गाना। उसमे 'साँडिणी' का एक खेल होता। चार पुरुष प्राणियों से नीचे झुकते। लकडी की खाट ऊपर रखते। उस पर समधिन को बिठाकर नाचते, यह एक प्रकार हुआ। बजनियाँ बाजा बजा रहे हैं...उनकी धूमधाम में नीचे से पुरुष लोग समधिन की चिकोटी लेते हैं

उसके साथ आयी। रात में नींद नहीं आती। पत्नी दादी के साथ सोयी। घर-भर में लोग-ही-लोग। एक-दो दिन बाद पत्नी फिर दादी के साथ गाँव लौटी। शरारती निगाहों से वह देखती है और मैं ऐसी मानसिक अवस्था में था, जैसे भूखे के मुँह से कौर छीना जा रहा हो।

सात-आठ दिनों बाद पत्नी फिर आने वाली थी। उस समय सारी कसर निकाली जायेगी, इसी विचार में था कि बम्बई से रिश्तेदार का तार आया। नौकरी की कॉल आती है। पिछले अनुभवों के कारण बम्बई में इंटरव्यू में जाने की इच्छा नहीं थी।

'लड़की बड़ी भाग्यवान है, उसका गृह-प्रवेश बड़ा शुभ रहा', यह सोच-कर माँ खुश होती है। हम सब बम्बई वापस आते हैं। आठ दिन बाद पत्नी से होने वाली मुलाकात अब अनिश्चित समय के लिए स्थगित हो जाती है।

अंत में नौकरी लग जाती है, परन्तु यह नौकरी बड़ी अजीब थी। परेल में वेटरनरी कॉलेज में क्लर्क-कम-लेबोरेटरी असिस्टेंट। यह मेरा लम्बा-चौड़ा पद था। पहले ही दिन नौकरी के अनुभव से मैं निराश हो जाता हूँ। मुझे यही नौकरी क्यों मिली, इसका कारण मालूम होता है। कोई भी उच्चवर्गीय व्यक्ति यह नौकरी करने को तैयार हो, यह संभव ही नहीं था। महाराष्ट्र के तालुक़ों के दवाखानों से बीमार जानवरों का गोबर यहाँ छोटी-छोटी बाल्टियों में लाया जाता था। सुबह महाराष्ट्र से आये पार्सल खोलना, उन्हें रजिस्टर में दर्ज करना और फिर उसे काँच के जार में काँच के रॉड से घुसाना, हर घंटे उसका पानी बदलना, उसका कचरा साफ करना, अंत में पानी साफ़ रहने पर जार के नीचे बैठा द्रव्य एक काँच की कुप्पी में जमा करना मेरा काम था। डॉक्टर दोपहर के बाद आते। वे माइक्रोस्कोप से नीचे जमे द्रव्य की जाँच करते। जानवर को कौन-सी बीमारी हुई है, इसकी जाँच वे अलग-अलग कागजों पर करते। ये सारी रिपोर्टें मुझे भेजनी पड़ती।

ऐसा ही एक और विभाग था। उसका नाम था अनॉटमी। उसमें जानवरों की चीरफाड होती। चमड़ी निकाला गया जानवर हुक में टाँग देते। वह खराब न हो, इसलिए उसकी नसों में अल्कोहल भरना मेरा काम होता। मेरे मातहत काम करने वाला चपरासी और भी महार। ये लोग

कोंकण के थे। वेटरनरी डॉक्टर की अपेक्षा ये लोग जानवर छीलने में एक्सपर्ट। यह उनका ख़ानदानी धंधा। दोपहर में मानसरोवर के हंसों-से सफ़ेद कपड़े पहन कर प्रशिक्षणार्थी-डॉक्टरों का जत्था आता। बड़ी कोफ्त होती उन्हें देखकर। लगता, इनके ये सफ़ेद गाउन जानवरों के ख़ून से सन जायें। वैसे इसके पीछे उनका कोई दोष नहीं था। परन्तु अपनी खीझ निकालने के लिए मेरे सामने और कोई चारा भी तो नहीं था ! विचारों के तनाव से सिर फटने को होता। लगता, साला इतना पढ़-लिख गये, फिर भी बापजादों का धंधा ही अपने हिस्से क्यों आया ? यही अपनी किस्मत तो नहीं, यह शंका भी खाने लगती। समाज-व्यवस्था के ख़िलाफ़ जो आक्रोश और विद्रोह फूटता है, उसके बीज इन अनुभवों में मिल सकेंगे। लगता, मुर्दाफरोशों द्वारा खोदी गयी क़ब्र जैसी उथल-पुथल मच जाये।

इसी बीच मैं 'रूपारेल' कॉलेज जाने लगा था। कॉलेज सुबह का था। दस बजे भागते-दौड़ते ऑफ़िस आना होता। कॉलेज का रोमांटिक जीवन मेरे हिस्से कभी नहीं आया। पिछली बेंच पर बैठता। केवल हाज़िरी लगाना, एक-दो पीरियड पूरे करना, पिछले दरवाज़े से भाग जाना। इतना ही उद्देश्य होता पीछे बैठने का। 'रूपारेल' में संस्कृत पढ़ाने वाले प्रोफ़ेसर याद आ रहे हैं। बहुत गोरे। भव्य व्यक्तित्व। ऊँचे-पूरे। कालिदास का 'मेघदूत' पढ़ाते। उसके शृंगारिक श्लोक सुनकर लड़के-लड़कियाँ कानाफूसी करते। उन्हें हँसी के बुलबुले फूटते। परन्तु मैं बहुत गंभीर होता जा रहा था। इस शृंगारिक कल्पना से मन कभी रोमांचित न होता। हमेशा यह डर रहता कि ऑफ़िस का मस्टर भीतर तो नहीं चला जायेगा। बरसात में छाता भी न खरीद सकता। तब भीगते हुए ही ऑफिस जाना, लेबोरेटरी में ही कपड़े सुखाना, कपड़े सूखने पर उन्हें पहनना और गोबर के नर्क में डूब जाना, यह मेरा रूटीन था। उस समय यह सब कैसे सह गया, इसका आज भी आश्चर्य होता है। मैं सही अर्थों में टूट चुका था।

पत्नी बम्बई आयी। उसका बाप उसे लेकर आता है। बरसात के दिन।

बरसात छिट-पुट रहती, फिर भी मैं फुटपाथ पर बिस्तर डाल कर सोता। घर में बड़ी भीड होती। बीच में यदि बारिश आ जाती तो गुदडी-तकिया कॉख में दबाकर घर भागता। वहाँ किसी के सिरहाने-पैताने सोना पड़ता।

पत्नी को आये सात-आठ दिन बीत गये थे। उसके शरीर की हल्दी की चमक और बढ गयी थी। घर की भीड-भाड में भी मैं उसकी नजरों की तलाश में रहता। हमारी अभी-अभी शादी हुई है। हमारी सोने की व्यवस्था कुछ ओट-परदे में ही क्यों न हो, अलग हो, इसकी चिंता किसी को न थी। पत्नी दिन-भर काम करने के लिए हमारे घर और रात को सोने के लिए बगल में तात्या के घर। तात्या-चाची पलँग पर और वह पलँग के नीचे।

फुटपाथ पर सोते समय अचानक बारिश आयी। बारिश का इतना आनंद कभी नही मिला था। हमेशा गालियाँ बकने वाला मैं आज बड़ी खुशी से बिछौना कॉख में दबाकर तात्या के घर में ही गुदड़ी बिछा देता हूँ। पैर पसारता हूँ तो पत्नी के पैरों का स्पर्श होता है। अँधेरे में भी उसे पहचान लेता हूँ। मैं बिल्ली की आँखों-सा एकटक देखता हूँ। उसकी हलचल जारी थी। वह जगी ही थी। दोनों के तलुओं का स्पर्श हो रहा था। शरीर मे बिजली कौंधती है। पास ही का पैर पोछने का बारदाना मैं उस पर फेंकता हूँ। वह फिर मेरी ओर फेंकती है। पर उसके पास जाने का साहस न होता। लगता, साली यह भी कोई ज़िंदगी है! अपनी पत्नी की सेज पर भी नही जा सकता।

चाल की औरतों को शायद मुझ पर दया आयी। मेरी चाची से उन्होंने बात की। इस सवाल पर माँ और चाची की हमेशा झझट होती। कभी-कभी झगड़े तक बात पहुँच जाती। शायद दो-चार दिनों के लिए ही क्यो न हो, हमारे लिए घर खाली करने की बात सोची गयी होगी। वैसे यहाँ कावाखाने में दूल्हेराजा की पहली रात बड़ी प्रसिद्ध। दुल्हिन इतनी आसानी से दूल्हे को हाथ न लगाने देती। बड़ी चीख़-पुकार। पति को लात मारने की घटना तक होती। इसलिए पति द्वारा पत्नी को भोजन मे भाँग मिलाकर खिलाने की घटनाएँ होती। पत्नी को इसकी कोई जानकारी न रहती।

चालाक लड़कियों ने यदि ये सब बातें पहले ही सुन रखी हों तो वे अलग भोजन करना टालतीं। सासूजी के साथ या ननद के साथ एक ही थाली में खाने बैठती। ऐसे समय बहू जिस किनारे खाना खा रही है, उसी किनारे भाँग-मिश्रित हिस्सा रख दिया जाता। अनजाने मे भाँग खिलाने मे बूढ़ी स्त्रियाँ बड़ी निपुण थीं।

शिवाचाचा की शादी हुई और उसकी अभी-अभी सयानी होती पत्नी को इसी प्रकार धोखे से भाँग खिलाने की घटना याद है। बम्बई में पति-पत्नी की सेज दिखती, पर गाँव मे यह सब न था। सयुक्त परिवार की स्थिति में पूछना ही क्या ! पति खाना खाने आया कि बटुआ और पगड़ी भूलने का बहाना करता। उसकी पत्नी यह संकेत समझ जाती। फिर चोरी-छिपे वे एकांत पाते। खलिहान मे या दालान में चोरी-छिपे सारा कार्यक्रम सपन्न करना पडता। सतों के आध्यात्म का अनजाने मे यह निष्कर्ष तो नही निकलता था !

भाँग खिलाना मुझे पाशविक कृत्य लगता। यह काम मेरे केस मे चाल की स्त्रियों के लिए संभव नही था। शाम से ही मन में भयंकर तड़पन पैदा हो गयी। सही अर्थों में वह पहला स्त्री-स्पर्श था। सेक्सी पुस्तकें पढने के कारण कमरे में पूरा प्रकाश रखने की बात मन में तय थी। सई मुझे देखते ही रोने लगी। छीना-झपटी में चूड़ियाँ फूट गयीं। वह हद तक डर गयी। उसकी देह में गँवई-गंध थी। पहली बारिश में मिट्टी से उठती गध-सी। यह गंध एक ही साँस में छक कर पीने की इच्छा होती। मैं उसे सब समझाकर कहता हूँ, "तुम्हें यदि अच्छा न लगे, तो मैं तुम्हें स्पर्श तक नहीं करूँगा।" निश्चित ही यह सब पुस्तकीय पांडित्य था। एक बड़ा-सा लेक्चर झाड़ने के कारण सई अन्तर्मुखी हो जाती है।

सुबह उठने पर चाल की स्त्रियो की बातें कानों से टकराती हैं, "क्यों री, दगड़ू कितना सयाना ! नयी-नवेली पत्नी को कैसे वश में कर लिया उसने !" सारी बात मैं समझ जाता हूँ। हमारे कमरे के सामने ही रात में सारी स्त्रियों ने डेरा जमाया था। कमरे की पूरी रोशनी और मेरा भाषण। यह सब उन्होने सुन लिया था। शायद देखा भी हो। रात-भर बत्ती जलती

दोस्तों की गप्पें, उनके साथ बाहर भटकना उसे क़तई पसंद न था। वह खूब भड़कती। एक बार एक दोस्त ने यह कहा कि वह मुझे बाहर ले जा रहा है तो उसने गँवई भाषा में उसे खूब गालियाँ दीं। मेरे लिए उसका यह रूप नया था। सुबह का कॉलेज, दिन-भर वेटरनरी कॉलेज में काम और रात-भर जागने के कारण मैं बहुत थक जाता। रात में थोड़ी देर कॉलेज की किताबें पढ़ने बैठना सई को पसद न था। वह हाथों से किताब छीन लेती।

मेरे दोस्तों के बीच उसके सौंदर्य की चर्चा हुई होगी। एक बार उसने मेरे एक दोस्त के ख़िलाफ़ शिकायत की। वह दोस्त बड़ा बातूनी था। यूनियन का कार्यकर्ता, प्रभावी वक्ता, हज़ारों की सभा में बोलने वाला। "वह जब-जब घर आता है, तब-तब पानी माँगता है और जब मैं आपके दोस्त को पानी देती हूँ, वह हथेली पर चिकोटी काटता है।" यह उसकी शिकायत थी।

यह सब मैं हँसी में टाल देता हूँ। मुझे गुस्सा कैसे नहीं आया, इसी बात का आश्चर्य होता। मैं उसे समझाता हूँ, "अरी, तू है ही सुंदर। तुम्हें देख किसी का भी संतुलन डगमगा जायेगा। तेरे मन में कोई पाप नहीं न? बस्स।" अपने इस व्यवहार से मैं उसे दुनिया के बाहर का आदमी लगने लगा। गाँव में यदि कोई ऐसी बात सुनता तो 'एक घाव, दो टुकड़े' करने की प्रथा थी। पर मैं बहुत ही शर्मीले किस्म से पेश आ रहा हूँ, उसे मेरे इस स्वभाव का रहस्य पल्ले नहीं पड़ा। वैसे मैं किताबी दुनिया में था। अपने-आप को आधुनिक विचारों वाला समझ रहा था। ऐसे समय यदि अपनी पत्नी के लिए किसी के मन में आसक्ति पैदा हो गयी, इसमें गलत क्या है?

हमारे घर के सामने यहूदी-मुसलमानों के क्लब में जुआ खेलने आये लोग सई को नोट दिखाते। सई सोते समय मुझसे शिकायत करती। परन्तु मैंने उसकी बात कभी मन पर नहीं ली। अपना पति सुनता ही नहीं, यह सोचकर उसने क्लब के यहूदी मुसलमानों की शिकायत बुजुर्गों से की। मुझे आज भी इस बात का पता नहीं लगा कि मैं उन दिनों डरपोक और बेवकूफ़-सा क्यों पेश आया!

माँ को यह बात इतनी पसंद नहीं थी कि सई ने आकर उसके इकलौते लड़के का पूरा चार्ज ले लिया है। जब तक मैं घर में होता, सई बहुत मधुर व्यवहार करती। परन्तु मेरे बाहर जाते ही सास-बहू के झगड़े शुरू हो जाते। मुझे इसका कोई उत्तर न मिलता कि मुझसे इतनी अच्छी रहने वाली सई मेरी माँ-बहन से क्यों झगड़ती है ? शाम को घर आने पर माँ सई के व्यवहारों का पहाड़ा पढ़ती। वैसे कोई बड़े अपराध न रहते। घर के कामकाज के बारे में ही शिकायत होती। माँ का वह स्नेहिल स्वभाव बदलता गया। सब सुन सकें, इतनी ऊँची आवाज में वह मुझे 'बैल' कहकर पुकारती। मैं पत्नी के वशीभूत हो रहा हूँ, मैं बैल हो गया हूँ, इस प्रकार वह मेरा अपमान करती। और मेरी हालत इधर कुंआ, उधर खाई जैसी थी।

वैसे बचपन से ही माँ ने मुझे हथेली के घाव-सा सभाला था। कल की आयी इस गोरी-उजली सई ने उसके इकलौते बेटे को उससे छीन लिया है, यह माँ का असली क्रोध था।

माँ की मानसिकता मैं कुछ समझ न पाता। शिक्षित होने के कारण या शायद अधिक वाचन के कारण अपनी पिछली पीढ़ी की अपेक्षा मैं पत्नी को अधिक सौजन्य तथा आदर से रखता और इसी कारण घर में झगड़ों का ज्वालामुखी फूट पड़ा। पैर की चप्पल पैरों में ही रखनी चाहिए, यह चारों ओर की समझ थी। माँ मुंह तोड़कर कहती, "अरे, बीवी को सिर पर बिठायेगा तो कल को वह वहाँ हगने की कमी भी नहीं रखेगी !" माँ मुझे नर्क से निकालती और मैं सई को फूलों-सा रखता। उसे किंचित मात्र भी दुखाने की इच्छा न होती। अपने लिए वह कितनी आतुर-व्याकुल हो जाती है। मेरा साथ मिले, इसलिए घर आने पर कैसी आस-पास मँडराती है। और अंत में उसका साथ किस तरह रंगों के विविध पहलू खोलकर सामने रख देता है ! उसका सहवास स्वर्ग-सुख से अलग नहीं—ऐसा भीतर-ही-भीतर लगता। लेकिन माँ उससे अप्रिय व्यवहार करती...।

अपनी नौकरी लग जाने के बाद माँ मार्केट में कागज बीनने न जाये, ऐसा

मुझे लगता। उसका कागज बेचना प्रतिष्ठा को ठेस लगने वाली बात है, यह बात मैं माँ को कई बार समझा चुका होता हूँ। "बैटे, मैं अब कागज बीनने नही जाऊँगी।" वह आश्वासन देती। परन्तु मेरे नौकरी पर जाते ही टोकरी सिर पर रखकर वह मार्केट के रास्ते चल देती। शाम को घर आने पर पत्नी से सारा वृत्तांत सुनने को मिलता। माँ से इस बारे में पूछता। माँ, बेटी की शादी की समस्या सामने रखती। "तू बेटी की शादी की चिंता मत किया कर।" मेरे कई बार हिदायत देने के बाद भी वह न सुनती।

एक शाम मेरे मन का संतुलन बिगड़ गया। घर के माँ-पत्नी के झगड़े। मानसिक शांति हद तक समाप्त हो चुकी थी। साली, फ़ालतू ही शादी की। कहते है, शादी करके लोग सुखी होते हैं पर अपनी जिंदगी मे तो जहरीले काँटे बिछे हुए है। सुबह साफ किये कि शाम को फिर उग आयें। घर की दीवार पर एक बड़ा आईना था। वह हाथ मे लिया। पागलो-सा शरीर झटकने लगा और गुस्से मे आईना फ़र्श पर पटक दिया। "मेरा बेटा पागल हो गया!" कहकर माँ ने आसमान सिर पर उठा लिया। 'फिर तुम दोनो कभी नहीं झगड़ोगी' यह उस रात कबूल करवाकर ही मैं शात होता हूँ। झगड़े का कोई भी कारण काफी होता। "तू पत्नी के लिए क़ीमती साड़ियाँ खरीदता है। मेरे लिए मामूली साड़ी लेता है।" यह माँ की अकसर शिकायत होती। माँ के लिए पाँच-दस रुपये महँगी साड़ी भी खरीदता तो उसे विश्वास न होता। फिर साड़ियाँ लेने के लिए माँ को दुकान ले जाना पड़ता।

पति ऑफ़िस में भूखा रहेगा—इस चिंता में सई। उसके दिमाग में न जाने क्या आया कि उसने मेरी बहन को साथ लिया और टिफिन लेकर सीधे ऑफिस आ गयी। सई का टिफिन लेकर ऑफिस आना मुझे कुछ ठीक नहीं लगा। एक ओर उसके भोले प्रेम पर न्यौछावर था तो दूसरी ओर ऑफिस के दोस्त क्या कहेंगे, यह प्रश्न सताता। परन्तु किसी ने नहीं पहचाना कि टिफ़िन लाने वाली मेरी पत्नी ही थी। कुछ लोगों ने फब्तियाँ कसीं, "क्यों रे, घर में काम वाली 'माल' रखी है ?" मेरा मन टूट गया। सच बताऊँ, हिम्मत नहीं हुई। ऑफ़िस के दोस्तों को लेकर कभी घर नहीं गया और न ही सई को लेकर सफ़ेदपोशों के घर कभी चायपान के लिए ही गया।

कावाख़ाने में जाधव नामक मेरा एक मित्र रहता था। प्रारंभ में वह चाची के घर ही खाना खाता। बड़ा नबरी। घटों गप्पें मारता रहता। बहुत हँसाता। मैट्रिक करने के बाद वह कोर्ट में स्टैम्प-वेंडर के रूप में नौकरी पर लगा। चार-छः साल गैप होने के कारण उसने कॉलेज में विलंब से प्रवेश लिया। जीवन के गहरे अनुभवों से परिपूर्ण। उसकी पोटली में बड़ी अजीब चीजें होतीं। उसके स्वभाव में आक्रामकता होती। वह देख मैं रोमांचित हो उठता। लोग या समाज क्या कहेगा, यह सोच-सोच कर कितना बड़ा बोझ ढोते हुए मैं जी रहा था और जाधव ! कैसा स्वच्छंद, किसी की परवाह किये बिना ज़िंदगी जी रहा था ! एक बार उसने ऑफिस में धमाका किया। कोर्ट में दस-पन्द्रह हजार के स्टैम्प उसे बेचने पड़ते। उस कोर्ट में एक प्रसिद्ध वकील था। स्वयं जज भी उसे सम्मान देता। यह वकील हाथ में नोटों की गड्डी लेकर, जिस स्टॉल पर जाधव स्टैम्प बेच रहा था, वहाँ आता है। जाधव काउंटर से बाहर झाँकता है। वकील कतार में नहीं खड़ा था। सबसे पहले उसे स्टैम्प चाहिए थे। जल्दी स्टैम्प देने के लिए वकील उस पर गुर्राता है। उसने सारे नोट काउंटर पर रखे थे। जाधव का पारा चढ़ गया। वह सारे नोट उठाता है और एक पल में सारे नोट पत्तों-से फेंक देता है। नोट एकत्र करने के लिए वकील भाग-दौड़ करता है। हाथ में रूल पकड़कर जाधव आक्रामक हो गया। सारी

कतार जाधव में इस व्यवहार को किंकर्तव्यविमूढ़ हो देखती रही। जाधव मुझे यह सब बताता है : "जज मुझे बुलाते हैं। इस घटना से नौकरी जाने का डर तो है ही। जज के सामने रोया, यह सच है। पर वहाँ देखने वाला कौन था? *सारे कोर्ट में अपने शौर्य की तूती बोलती है।*" जाधव के इस तर्क से मैं चारों खाने चित्त...!

इसी बीच जाधव की शादी हो गयी। चीनी मिट्टी की कोई खूबसूरत गुड़िया हो, ऐसी थी उसकी बीवी। उसकी शादी में मैं पूना गया था। जहाँ मैं रहता था, उसकी बग़ल में जिस प्रकार कामाठीपुरा का स्लम था, वैसी ही बस्ती में उसका घर था। दस-बारह सदस्यों का परिवार। ऊपरी मंजिल पर वह अपने माँ-बाप के साथ रहता। उसका बाप अच्छा कीर्तनकार था। मुँह में सदैव रामनाम। और बेटा एकदम दूसरे छोर पर। जाधवअपने बाप के साथ ऐसे रहता, जैसे कोई अपने लँगोटिया यार के साथ रहता है। अपनी शादी का कोट बाप को पहना कर कहा "बापू, आज तुम हीरो लगते हो!" *बाप भी एक गाली फेंक कर मुसकराने लगता।* जाधव के घर के बड़े या छोटे भाइयों से ऐसा ही नाता। परन्तु मैंने देखा कि एक बार यदि ये झगड़े पर उतर आयें तो सात-पीढ़ी के दुश्मनों-से रहते। सुबह उठ कर देखने पर उन पर रात के झगड़े की छाया न होती—सब बराबर। इस घर में खुशी और द्वेष का एक अजीब मिश्रण था।

जाधव शादी में कुछ अलग ढंग से पेश आया। हल्दी लगाना, नारियल थूकना, मौर बाँधना—ये सब मुझे जंगली बातें लगतीं। परन्तु जाधव इन सारी बातों में तन्मयता से रुचि लेता। कृष्ण-कन्हैया-सा शोभित होता। उसकी शादी में उसके सारे दोस्त कंधे पर रूमाल डालकर भगवान-स्टाइल में नाचते है। साथ में बैंड। अविस्मरणीय दृश्य। 'आँगन मे फूला पारिजात, मेरा साजन नही मेरे साथ,' इस गाने की पैरोडी ने सारे श्रोताओं की तालियाँ वसूल की। एक दोस्त अपनी दर्द-भरी आवाज मे गाता है, 'गोबर, गाय-भैंसो ने दिया डाल, मेरा साजन नही मेरे साथ...।'

शादी के बाद जाधव के रहने की बड़ी अव्यवस्था थी। इस महानगर मे आसानी से एक कमरा भी मिलना दिव्य चमत्कार ही है। वह कुलाबा में रहता। वहाँ एक बँगले मे उसकी बड़ी बहन आया का काम करती।

बड़े ऑफिसर की वह आलीशान कोठी। सर्वेंट क्वार्टर में यह जोड़ा रहता। रात-बेरात सर्वेंट क्वार्टर में पहरेदार आकर चैक करता। वहाँ रिश्तेदारों को रहने की इजाजत न थी। इसलिए पहरेदार को हमेशा रिश्वत देनी पड़ती। "साला, अपन साहब की लिफ्ट का उपयोग भी नहीं कर सकते! पिछले दरवाजे से चोरी-छिपे आना पड़ता है।" ऐसे कहकर वह एकाध तेज-तर्रार गाली फेंकता।

यहाँ रहते हुए उसने एक दिन कमाल कर दिया। बहन घर मे नही है, यह देखकर वह एक कामवाली लड़की की सहायता से एक ईसाई मैडम की पोशाक माँग कर लाया। उसने अपनी पत्नी को स्कर्ट, ऊँची एडी के बूट पहनने के लिए मजबूर किया। मेकअप करवाया और उसे समुद्र-किनारे घुमाने ले गया। साहबों की तरह कमर में हाथ डालकर घूमते और सीटी बजाते हुए हमने उसे देखा। हमें देखकर उसकी पत्नी बहुत लजायी। बहन को जब मालूम हुआ तो उसने बहुत गालियाँ दी।

ऐसा था जाधव। जो मन में आया, वह कर डालने वाला। परन्तु मै अपनी पत्नी को सादी गोल साड़ी तक न पहना सका, इसका खेद होता रहता।

इधर जाधव शायद ही कभी मिलता है। एक दिन मिला तो लगा, यह आदमी दारू की गिरफ्त में बुरी तरह फँस चुका है। एक दिन उसकी याद बहुत सताने लगी। मैं उसके ऑफ़िस में गया। वह एक सरकारी विभाग मे हेडक्लर्क है। बहुत नॉर्मल। सागर का तूफ़ान निकल जाने पर शांत समुद्र-सा। उसका यह परिवर्तन देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। निरतर आध्यात्म पर बोलता जा रहा था। साथ के ब्राह्मण क्लर्क उसे कैसे 'पडित' संबोधित करते हैं, यह बड़े चाव से बताता है। एक बार पिन का आँकडा एकदम सही बताकर वह शर्त कैसे जीत ली, उसे दिव्य ज्ञान कैसे प्राप्त होता जा रहा है, इसी का वर्णन वह करता रहता। 'कल को आने वाले सकट यदि मालूम हो जायें तो उनसे बचने के लिए क्या करना चाहिए?' मेरे इस सवाल पर वह टालमटोल करने लगा। प्रारंभ मे भोग की ओर झुका व्यक्तित्व अब आध्यात्म की ओर मुड़ रहा है, यह देख कर आश्चर्य होता है। कोई आर० एस० एस० वाला अचानक मार्क्सवादी हो

जाये, ठीक ऐसा ही परिवर्तन मुझे उसके भीतर नज़र आने लगा। दारू की एक बूंद भी नहीं छूता, उसके यह कहते ही मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

जिन आंदोलनों के बीच मैं बड़ा हुआ, वहाँ राजनीति और समाजसेवा की रेखाएँ आपस में उलझ चुकी थीं। पैदा होते ही पार्टी का कार्ड मिलता। सोशल फ़ोर्स ही इतना था कि आप अलग पार्टी में जाने की इच्छा रखते हुए भी उसका चुनाव न कर सकते। जिन्होंने ऐसा किया, वे बहिष्कृत हुए। उनकी अंतिम-यात्रा में भी जाति के लोग उपस्थित नहीं थे। विंचूर के रणखाबे, बाबासाहब की जीवनी लिखने वाले खोरमांडे और कॉमरेड मोरे कुछ ख़ास उदाहरण हैं। गाँव में पढ़ते समय एक बार चुनाव में काम करने की घटना अच्छी तरह याद है। शेडयूल्ड कास्ट फेडरेशन और पी० एस० पी० का चुनाव-समझौता था। पी० एस० पी० का चुनाव-चिह्न पेड़ था। चुनाव के दिन समाजवादी लोगों के साथ मैं चुनाव-अभियान में गया था। बोर्डिंग के प्रत्येक लड़के को अलग-अलग काम सौंपा गया था। भोजन का समय होने पर मुझे महारवाड़ा भेजा गया। मैं मन-ही-मन यह बात खोज रहा था कि साथ के समाजवादी लोग खाना खाने कहाँ गये होंगे ?

वैसे हमारा जिला कम्युनिस्ट आंदोलन का गढ़ था। आस-पास के कुछ गाँव कम्युनिस्ट गाँव के नाम से जाने जाते। तेलंगाना की लड़ाई के समय ज़िले की कम्युनिस्ट पार्टी पर पाबंदी लगी थी। उनके बंदोबस्त के लिए रिज़र्व पुलिस फ़ोर्स थी। जगह-जगह उनके कैम्प थे। उन पर जो खर्च होता, वह कम्युनिस्ट गाँवों से सामूहिक तौर पर वसूल किया जाता। यह दंड तालुके के साकीरवाड़ी-नवलेवाड़ी-वाशेरे गाँवों को भुगतना पड़ा।

इस बीच अण्णाभाऊ साठे का 'अक्ल की बात' लोकनाट्य मंदिर के सामने देखा था। वैसे इस लोकनाट्य पर पाबंदी थी। पुलिस कभी भी आकर कलाकारों की धड़-पकड़ कर सकती है, ऐसा तनाव वातावरण में था। यह लोकनाट्य तमाशा नाटक-सा राजा-रानी पर आधारित नहीं था। चारों ओर के शोषण की अभिव्यक्ति कला के माध्यम से प्रस्तुत की गयी थी। सारी रात नाटक रंग लाता रहा। इस कला-पथक ने हमें नये गीत

सिखाये। 'दौलत के राणा, उठ, सरजा; आवाज दे पड़ोसी को, शिवनेरी चल...' या 'हम धरती के बेटे भाग्यवान' आदि गीत हमारी ज़ुबान पर नाचते रहते। तालुके के गाँव में अण्णाभाऊ, अमर शेख़, गव्हाणकर के कला-पथक के खुलेआम कार्यक्रम होते। तालुके के लोग जैसे यात्रा में आते हों, वैसे ही वे बैलगाड़ियाँ लेकर आते। ऐसी तूफ़ानी भीड़ एकत्र होती।

इतना होने पर भी हममें से कोई भी कम्युनिस्ट पार्टी में काम न करता। कम्युनिस्ट पार्टी खून-ख़राबा करने वाली पार्टी है, ऐसी ही कुछ बातें हमें बतायी जाती। इस कारण हम इन लोगों से बहुत दूर रहे। कल-परसों तक मार्क्स के दर्शन की बात तो क्या, उसका नाम भी मालूम नहीं था।

दादासाहब ज़िले के नेता थे। परन्तु उनकी कम्युनिस्ट नेता अण्णा-साहब शिंदे से बड़ी दोस्ती थी। दादासाहब कम्युनिस्ट पार्टी को खुलेआम सभाओं में गालियाँ देते और शाम को अण्णासाहब के साथ बैठकर खाना खाते, यह पहेली हमारे पल्ले न पड़ती। धीरे-धीरे ज़िले का कम्युनिस्ट आंदोलन क्षीण होने लगा। विकेन्द्रीकरण के कारण मराठा-समाज सत्ता में केन्द्रित होने लगा। ज़ेड० पी०, शक्कर के कारख़ाने उन्हें अष्टभुजा-देवी के हुकमी-हथियार लगने लगे। किसानों का राज्य विरोधाभास के उदाहरण के रूप में प्रसिद्ध हो गया। इसका श्रेय कुछ लोग यशवंतराव चव्हाण को देते हैं। पर एक बात सच है कि गाँव की राजनीति ने पलटा खाया। कोई गाँव कम्युनिस्टों के नाम से प्रसिद्ध हो, लेकिन ठीक चुनाव की रात बदल जाये और सारा गाँव कांग्रेस की ओर हो जाये; इन चमत्कारों का अर्थ न समझता। बड़े-बड़े कम्युनिस्ट कांग्रेसी सत्ता की राजनीति में आ गये। ज़िले के दत्ता देशमुख इस काम में कैसे पिछड़ गये, पता नहीं। डॉ० अंबेडकर की पार्टी काफ़ी दिनों तक विद्रोह के मूड में खड़ी रही। बाबासाहब का आदेश आता तो बर्रों के सामान सब भनभनाते हुए उठते और अपने लक्ष्य पर टूट पड़ते।

उस समय के वामपंथियों को इस बात की तनिक भी जानकारी नहीं थी कि अस्पृश्यों की अपनी अलग समस्याएँ हैं। एक समय तो ज़िले का बहुजन समाज कम्युनिस्ट था। किसी समय तो वह सत्यशोधक आंदोलन में

भी रहा होगा। परन्तु इस समाज की सास्कृतिक मूल्य-कल्पना कभी भी जड से समाप्त नही हुई थी। जेड० पी०, शक्कर के कारखाने और महाराष्ट्र की राजकीय सत्ता के हाथों में रहने के बाद भी अनजाने मे इन्होंने ब्राह्मण-संस्कृति की तरफदारी की। इनकी शादियों में ब्राह्मण आते। इनका पिंड-दान ब्राह्मणों द्वारा संपन्न किया जाता। गाँव की यात्रा-पूजा, सत्यनारायण की कथा, श्रावण मास का अखड-पाठ आदि के कारण इनकी मानसिकता पारंपरिक ही थी। गाँव का धनवान आदमी, चाहे वह समाजवादी हो या कम्युनिस्ट, अस्पृश्यो की मजदूरी-समस्या की ओर पहले-सा ही मग़रूर होकर देखता। गाँव के परपरागत कार्यों के लिए यदि अस्पृश्यो ने इनकार किया तो वे पहले जैसे ही बहिष्कृत होते। उनकी नाकेबंदी होती। गाँव की यात्रा का चंदा नही दिया, पोले के दिन मंदिर मे बैल पहले ले गये, बाजा बजाने नही आये आदि छोटी-मोटी बातों को लेकर युद्ध छिड़ जाता। इन समस्याओं को लेकर वामपंथियो ने कोई मोर्चा बनाया हो, याद नहीं। एक ओर महार समाज अपनी पुरानी बातें छोड़ रहा है, केंचुली-छोडे सांप-सा सनसनाता देवधर्म से इनकार करता है और दूसरी ओर गाँव के उत्पादन के साधनों में उसका कोई हिस्सा नही।

ग्रेसकर पारी गयी, बलुत गया। बित्ता-भर जमीन हड्डियाँ पोसने के काम आती थी, वह भी नाममात्र पैसों के लिए जमींदारों के पास गिरवी है। इस कारण महारवाड़ा उजड़ा पड़ा है। पेट का गड्ढा भरने के लिए सब शहर भाग रहे हैं, गन्नों के खेतों मे पानी सींचने का काम करते हैं। यह है अब गाँव का दृश्य।

इसी समय ज़िले का एक विवाद अच्छी तरह याद है। जमींदारों ने शक्कर-कारख़ानों के लिए नाममात्र का मुआवजा देकर 99 वर्षों के अनुबंध पर महारो की परंपरागत जमीन हड़प ली। यह जमीन वापस मिले, इस-लिए दादासाहब, राम पवार आदि लोग ज़िले में आदोलन करने लगे। उस जमीन पर धनवान किसानो ने काफ़ी कुछ सुधार किया है। यदि यह उन्हें फिर वापस दी जाती है तो वे इस जमीन की दुर्दशा कर डालेंगे। महार

लिए दरी बिछाते हैं। लड़कियों को परोसने में मदद करते हैं, ये सारे अविस्मरणीय दृश्य। इतनी बड़ी पार्टी का आदमी हमसे कितने अपनत्व से पेश आ रहा है, यह मीठा खयाल हमें श्रद्धा से सराबोर कर देता है।

रात मे बाबासाहब नासिक आकर भी सभा में उपस्थित नहीं हो सके। सभा-स्थल पर लोग चीटियों-से जमा हो गये। स्टेज पर कुछ बड़े नेता लोग। शाताबाई दाणी माईक से सबको सूचना देती हैं : "बाबासाहब का स्वास्थ्य अचानक ख़राब हो जाने के कारण वे सभा में नहीं आ सकेंगे।" वे कहाँ ठहरे हैं, यह भी बताती हैं। हम लडके बहुत निराश हो गये। बाबा-साहब की आवाज, उनकी ओजस्वी वाणी, लाखों-करोडो को गुलामी की जजीरो से मुक्त कराने वाली वाणी, अपने कानो मे सँजो कर तथा उसकी प्रतिध्वनि उम्र-भर अपने भीतर रखने की इच्छा से ही मैं इतना लबा सफ़र तय कर आया था। पानी मे ढेला गल जाये, कुछ ऐसी अवस्था थी। साइकिल खीचने से थकी पिंडलियाँ अब दुखने लगी। अब आ ही गये तो बाबासाहब को देखकर ही जाने की इच्छा जोर पकडने लगी। हम लड़के फिर लड़कियों के छात्रावास में आ गये। बड़ी मुश्किल से रात बितायी।

जिस बँगले मे बाबासाहब रुके थे, उसके आसपास हम मँडराने लगे। इतने मे हममें से किसी ने बँगले ने सामने लॉन पर कुर्सी डालकर बैठे बाबासाहब को देखा। उनके इशारा करते ही हम उस दिशा में बढ़े। सुबह की कोमल धूप मे बाबासाहब बैठे थे। महार जाति मे पैदा होने वाला आदमी इतना तेजस्वी हो सकता है, इस बात पर मुझे विश्वास ही न होता। उजला व्यक्तित्व, ऊँचा माथा। पूरे सूट में थे। सिर पर हैट भी। रात में आये लोगों से वे मिल सकें, इसलिए वे वहाँ बैठे होगे। परन्तु उनका चेहरा बीमारी के कारण बहुत क्लात दिख रहा था। उन्हे पैरों मे तकलीफ़ थी। चलते समय दूसरे लोगों की मदद लेनी पड़ती।

बाद में बम्बई आने के बाद एक बार कुलाबा मे घूमते हुए मैंने देखा कि बाबासाहब धीरे-धीरे छड़ी के सहारे नीचे उतर रहे है। साथ मे माईसाहब थे। हम लड़के बाबासाहब को ऐसे देख रहे थे, जैसे कोई महान आश्चर्य देख रहे हों। इसी बीच कावाखाने का चदर एक कार्यकर्ता के साथ उनके

घर गया। उन दिनों किसी ने भेगुबाई एण्ड कम्पनी के नाम से कोई बोगस कम्पनी खोली थी। हीरो या साइडहीरो बनने के लिए युवकों की क़तारें पैसे देकर खड़ी थी। कामाठीपुरा के पार्टी-ऑफ़िस में ही यह घटना घटी। फिर अचानक ही यह कम्पनी लुप्त हो गयी। सबके पैसे पानी में चले गये। इन लोगों की शिकायत लेकर यह कार्यकर्ता बाबासाहब के घर गया। लोग पार्टी-ऑफ़िस में पैसे भर रहे हैं, ऐसे कुछ फ़ोटो भी उसके पास थे। चदर से मालूम हुआ कि बाबासाहब बहुत भड़क गये थे। पार्टी के लोगों को सीधे गाली ही दी। साथ ही उस कार्यकर्ता को भी आडे हाथों लिया। कार्यकर्ता मराठवाड़ा का था। "अरे, तू शहर में यह काम करता है? तुझे काम ही करना है तो मराठवाडा में जा। वहाँ अपने लोगों के बुरे हाल हैं। तेरी होशियारी का यहाँ क्या उपयोग?" बाबासाहब हमेशा कहते कि "मैंने शहर के लोगों के लिए बहुत कुछ किया। परन्तु देहातों मे मेरे लोग आज भी दुख-तकलीफ़ भोग रहे हैं।" यह कहते-कहते उनकी आँखों में पानी छल-छला जाता।

बाबासाहब के फिर अंतिम दर्शन हुए उनके अंत समय में ही। सुबह मैं हमेशा की तरह अपने काम पर निकला। अख़बारों के पहले पेज पर ही खबर छपी थी। धरती फटने-सा अहसास हुआ। इतना शोकाकुल हो गया, जैसे घर के किसी सदस्य की मृत्यु हुई हो। घर की चौखट पकड़कर रोने लगा। माँ को, पत्नी को कुछ समझ में नही आ रहा था कि मैं इस तरह पेपर पढ़ते ही क्यो रोने लगा! घर के लोगों को बताते ही सब रोने लगे। बाहर निकलकर देखता हूँ कि लोग जत्थों में बातें कर रहे हैं। बाबासाहब का निधन दिल्ली मे हुआ था। शाम तक विमान से उनका शव आने वाला था। नौकरी लगे दो-तीन महीने ही हुए होंगे। छुट्टी मंजूर करवाने वेटरनरी कॉलेज गया। अर्जी का कारण देखते ही साहब झल्लाये। बोले, "अरे, छुट्टी की अर्जी में यह कारण क्यों लिखता है? अंबेडकर राजनैतिक नेता थे और तू एक सरकारी नौकर है। कुछ प्राइवेट कारण लिख।" वैसे मैं स्वभाव से बड़ा शांत। परन्तु उस दिन अर्जी का कारण नहीं बदला। उलटे साहब को कहा, "साहब, वे हमारे घर के एक सदस्य ही थे। कितनी अंधेरी गुफाओं से उन्होने हमें बाहर निकाला, यह आपको क्यों मालूम होने

लगा ?" मेरी नौकरी का क्या होगा, छुट्टी मजूर होगी या नहीं, इसकी चिंता किये बिना मैं राजगृह की ओर भागता हूँ। ज्यो बाढ आयी हो, ठीक उसी तरह लोग राजगृह के मैदान मे जमा हो रहे थे। इस दुर्घटना ने सारे महाराष्ट्र में खलबली मचा दी। लोग किसी भी उपलब्ध वाहन से बम्बई की दिशा मे जा रहे थे। जाते समय किसी को टिकट ख़रीदने तक का होश नही था।

रात-भर हम घर आये ही नही। राजगृह के सामने घास पर ही लेट गये। सुबह देखता हूँ, किसी महासागर की विशाल लहरों-सी लोगों की बाढ़ आती चली जा रही थी। सबको कतार में दर्शन करना था। एक-दो घंटे क़तार मे खड़े रहने के बाद बाबासाहब के दर्शन किये। वे ऐसे शांत पड़े थे, जैसे गहरी नींद मे हों। उनकी नाक मे रुई के फाहे डाले गये थे। उनके चरणो पर लोग फूल-पत्तियाँ डाल रहे थे।

दोपहर को उनकी शवयात्रा निकली। ऊपर सूरज आग उगल रहा था और हम बोझिल मन से शवयात्रा में चीटी की चाल से आगे बढ रहे थे। एक ऊँचे पुल पर जाकर भीड़ के आगे-पीछे का अदाज लेता हूँ। बांबी फूटने की तरह लोग। नजर न ठहरती ! बताते हैं, इससे पहले लोकमान्य तिलक की शवयात्रा में इतने लोग आये थे। परन्तु उस दिन लोगों के जो शोकाकुल मन देखे, वह कभी नही भूल सकता। अनेक स्त्री-पुरुष शोकाकुल हो अपने सिर पीट रहे थे...कइयो की आँखो में आँसू नही ठहर रहे थे।

बाबासाहब ने नागपुर में 1956 में अपने लाखों अनुयायियो को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। इस ऐतिहासिक कार्यक्रम मे मैं नही पहुँच सका। परन्तु इस क्रांतिकारी परिवर्तन की आहट घर-घर पहुँच चुकी थी। अनेक परिवारों ने अपने घर की दीवारों पर टँगी देवी-देवताओं की तसवीरें तोड़ डालीं। पूजाघर के देवी-देवताओ की मूर्तियाँ कौडी-पत्थर समझ फेंक दी गयीं। यात्रा-मरीमा-म्हसोबा-खडोबा—इन परंपरागत भगवानों से मुँह फेर लिया गया। बकरे-मुर्ग़े काटना बंद हो गये। वैसे हमारे घर मे नाममात्र का पूजास्थान था। चाँदी के खंडोबा-बहिरोबा की छोटी मूर्ति माँ ने ख़ास तौर पर बचपन में तैयार करवायी थी। वे चाँदी के होने के कारण माँ ने चिथड़ों में बाँधकर कहीं रख दिये। आज भी जब मैं पुरानी चीजों को

किसी काम से देखता हूँ तो वे दिखते हैं। इस भगवान की चांदी का क्या करें, मेरी समझ में नहीं आता। उन्हें अब मेरे घर में कोई स्नान नहीं करवाता। पूजा भी नहीं की जाती। बाबासाहब द्वारा दीक्षा देते समय यह शपथ कि 'मैं हिन्दू धर्म के ब्रह्मा, विष्णु, महेश और उनके समस्त तैंतीस करोड़ भगवानों को नहीं पूजूँगा,' खून में समा चुकी थी। बंबई में दीक्षा के अवसर पर स्त्रियों को सफ़ेद साडियों की ज़रूरत होती। उस दिन व्यापारियों ने अपना धंधा खूब चलाया। सफ़ेद साड़ी कहकर पुरुषों की धोतियाँ बेची गयीं। दुगुनी क़ीमत देकर माँ और पत्नी के लिए सफ़ेद साड़ियाँ उधार ले आता हूँ!

धर्म कर्मकांड में कैसे बदल जाता है, इसकी यहाँ याद हो आयी। कुलाबा में इसी तरह एक सगाई में गया था। लकड़ी कोंकणस्थ और लडका देशस्थ। सगाई कार्यक्रम को कोंकणस्थ लोग 'बोलघड़ा' कहते। वैसे कोंकणस्थ पंचायत का बडा विस्तार था। पचायत की पावती के बिना शादी होना संभव न था। इस पावती के लिए पचायत के सदस्यों को रिश्वत दी जाती। दारू भी पिलानी होती। देशस्थ-कोकणस्थ विवाह बहुत कम ही होते। देशस्थों को पचायत का सदस्य बनना पडता। इनके बौद्धाचार्य अलग। देशस्थों को इनकी शादी करवाने की अनुमति नहीं थी। दोनों पक्षों की ओर से सदस्यता-पावती देखी जाती। देशस्थ लोगों की ओर से दुल्हन के लिए रंगीन साड़ी लायी जाती है। साड़ी वैसे क़ीमती थी। बस, साड़ी देखकर कोंकणस्थ मंडली भड़क उठी। बोलघड़ा के लिए तैयार न होते। मैं भी भाषण करता हूँ। व्यंग्यात्मक ढंग से बताता हूँ, "एक दूल्हे ने काले बूट पहने, इसलिए शादी में रुकावट पैदा की गयी।" यह सत्य घटना बताता हूँ। "अतः किसी भी बात का अतिरेक बुरा ही होता है।" परन्तु, लोग मुझे सुनने की तैयारी मे नहीं थे। मुझे ठाकरों की याद आती है: 'चार आने ही होते हैं।' बँधा रुपया देने पर भी न लेने वाले!

रात के समय पास की दुकानों में भाग-दौड़ होती है। सफ़ेद साड़ी कहीं नहीं मिलती। अंत में धोती लायी जाती है। लड़की को धोती पहनाकर 'बोलघड़ा' के लिए लाया जाता है। उस रात समझ न आया कि हँसें या रोयें!

लगा ?" मेरी नौकरी का क्या होगा, छुट्टी मंजूर होगी या नही, इसकी चिंता किये बिना मैं राजगृह की ओर भागता हूँ। ज्यों बाढ़ आयी हो, ठीक उसी तरह लोग राजगृह के मैदान में जमा हो रहे थे। इस दुर्घटना ने सारे महाराष्ट्र में खलबली मचा दी। लोग किसी भी उपलब्ध वाहन से बम्बई की दिशा में जा रहे थे। जाते समय किसी को टिकट ख़रीदने तक का होश नहीं था।

रात-भर हम घर आये ही नही। राजगृह के सामने घास पर ही लेट गये। सुबह देखता हूँ, किसी महासागर की विशाल लहरों-सी लोगों की बाढ़ आती चली जा रही थी। सबको क़तार में दर्शन करना था। एक-दो घंटे कतार मे खड़े रहने के बाद बाबासाहब के दर्शन किये। वे ऐसे शात पड़े थे, जैसे गहरी नींद में हों। उनकी नाक मे रुई के फाहे डाले गये थे। उनके चरणों पर लोग फूल-पत्तियाँ डाल रहे थे।

दोपहर को उनकी शवयात्रा निकली। ऊपर सूरज आग उगल रहा था और हम बोझिल मन से शवयात्रा मे चींटी की चाल से आगे बढ रहे थे। एक ऊँचे पुल पर जाकर भीड़ के आगे-पीछे का अंदाज लेता हूँ। बांबी फूटने की तरह लोग। नज़र न ठहरती ! बताते है, इससे पहले लोकमान्य तिलक की शवयात्रा मे इतने लोग आये थे। परन्तु उस दिन लोगों के जो शोकाकुल मन देखे, वह कभी नही भूल सकता। अनेक स्त्री-पुरुष शोकाकुल हो अपने सिर पीट रहे थे...कइयों की आँखो में आँसू नहीं ठहर रहे थे।

बाबासाहब ने नागपुर में 1956 में अपने लाखों अनुयायियों को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। इस ऐतिहासिक कार्यक्रम मे मैं नहीं पहुँच सका। परन्तु इस क्रातिकारी परिवर्तन की आहट घर-घर पहुँच चुकी थी। अनेक परिवारों ने अपने घर की दीवारो पर टँगी देवी-देवताओं की तसवीरें तोड़ डाली। पूजाघर के देवी-देवताओं की मूर्तियाँ कौड़ी-पत्थर समझ फेंक दी गयीं। यल्ला-मरीमा-म्हसोबा-खंडोबा—इन परंपरागत भगवानों से मुँह फेर लिया गया। बकरे-मुर्ग़े काटना बंद हो गये। वैसे हमारे घर में नाममात्र का पूजास्थान था। चांदी के खंडोबा-बहिरोबा की छोटी मूर्ति माँ ने ख़ास तौर पर बचपन में तैयार करवायी थी। वे चाँदी के होने के कारण माँ ने चिथड़ों मे बाँधकर कहीं रख दिये। आज भी जब मैं पुरानी चीज़ों को

किसी काम से देखता हूँ तो वे दिखते है। इस भगवान की चांदी का क्या करें, मेरी समझ में नही आता। उन्हें अब मेरे घर मे कोई स्नान नहीं करवाता। पूजा भी नही की जाती। बाबासाहब द्वारा दीक्षा देते समय यह शपथ कि 'मैं हिन्दू धर्म के ब्रह्मा, विष्णु, महेश और उनके समस्त तैंतीस करोड़ भगवानो को नहीं पूजूंगा,' खून में समा चुकी थी। बबई मे दीक्षा के अवसर पर स्त्रियों को सफेद साड़ियों की ज़रूरत होती। उस दिन व्यापारियो ने अपना धंधा खूब चलाया। सफ़ेद साडी कहकर पुरुषों की धोतियाँ बेची गयी। दुगुनी क़ीमत देकर माँ और पत्नी के लिए सफ़ेद साड़ियाँ उधार ले आता हूँ!

धर्म कर्मकाड मे कैसे बदल जाता है, इसकी यहाँ याद हो आयी। कुलाबा में इसी तरह एक सगाई में गया था। लकडी कोकणस्थ और लड़का देशस्थ। सगाई कार्यक्रम को कोकणस्थ लोग 'बोलघड़ा' कहते। वैसे कोंकणस्थ पचायत का बड़ा विस्तार था। पंचायत की पावती के विना शादी होना संभव न था। इस पावती के लिए पचायत के सदस्यों को रिश्वत दी जाती। दारू भी पिलानी होती। देशस्थ-कोंकणस्थ विवाह बहुत कम ही होते। देशस्थों को पचायत का सदस्य बनना पड़ता। इनके बौद्धाचार्य अलग। देशस्थो को इनकी शादी करवाने की अनुमति नही थी। दोनों पक्षो की ओर से सदस्यता-पावती देखी जाती। देशस्थ लोगों की ओर से दुल्हन के लिए रंगीन साड़ी लायी जाती है। साडी वैसे कीमती थी। बस, साड़ी देखकर कोकणस्थ मंडली भड़क उठी। बोलघड़ा के लिए तैयार न होते। मैं भी भाषण करता हूँ। व्यग्यात्मक ढँग से बताता हूँ, "एक दूल्हे ने काले बूट पहने, इसलिए शादी मे रुकावट पैदा को गयी।" यह सत्य घटना बताता हूँ। "अतः किसी भी बात का अतिरेक बुरा ही होता है।" परन्तु, लोग मुझे सुनने की तैयारी में नहीं थे। मुझे ठाकरो की याद आती है: 'चार आने ही होते हैं।' बँधा रुपया देने पर भी न लेने वाले!

रात के समय पास की दुकानों में भाग-दौड़ होती है। सफ़ेद साड़ी कहीं नही मिलती। अंत में धोती लायी जाती है। लड़की को धोती पहनाकर 'बोलघड़ा' के लिए लाया जाता है। उस रात समझ न आया कि हँसे या रोयें!

इस घटना को भी पीछे छोड़ने वाली और एक घटना घटी। एक शादी में दूल्हे ने गांधी टोपी पहन ली। "सिर से गांधी टोपी उतार," यह कार्यकर्त्ताओं का आग्रह। उसका कहना था—"आपको सफ़ेद रंग चाहिए न ?" "यह टोपी सफेद जरूर है, पर काग्रेस की है। इसलिए तुरंत उतारो।" अत में उनकी ज़िद के सामने उस दूल्हे को झुकना पड़ा। इस संदर्भ में एक मनोविनोद (वैसे सत्य घटना है) हमेशा सुनने को मिलता। ऑफ़िस मे जाने वाली लड़कियां बड़े शौक से सफ़ेद साड़ी पहनकर जाती। परन्तु सफ़ेद साड़ी पहनने वाली लड़की पहले महार थी और अब बौद्ध हुई, यह समीकरण जब बनने लगा तब सवर्ण लड़कियां सफ़ेद साड़ी पहनना बड़ी सावधानी से टालती। इन घटनाओ पर बड़ी हँसी आती है। आदमी के साथ जाति कैसे गोचडी[1] की तरह चिपकी होती है ! आप कितना भी झटकिए, पूरा खून चुस जाने तक वह सरक ही नही सकती।

"हिन्दू धर्म छोडकर आपने बौद्ध धर्म अपनाया, फिर भी आपकी छलांग अत में फेंसिग के भीतर ही रही," ऐसा सावरकर का कहना था और हिन्दू भक्तों का कहना था—"आप बौद्ध हो गये, पर हैं तो महार ही।" महार के रूप मे पहचाने जाने के लिए सरकारी-दरबार में उनका नाम नवबौद्ध घोषित किया गया। यदि कोई हिंदू ईसाई या मुसलमान हो जाता है, तब उसके हिस्से ऐसे विशेषण क्यों नही आते ?

बाबासाहब ने देश के नाम एक खुला पत्र लिखा था। उस पत्र में उन्होने लिखा था कि देश की सरकार के लिए एक ही विरोधी दल चाहिए। उनकी बड़ी तीव्र इच्छा थी कि शिडयूल्ड कास्ट फेडरेशन को भग कर लोकतत्र प्रणाली पर आधारित नयी रिपब्लिकन पार्टी होनी चाहिए। इसी आधार पर पार्टी के कार्यकर्ताओं ने रिपब्लिकन पार्टी स्थापित की। इस पार्टी के सूत्र सभालने के लिए उन्होंने प्रेसीडियम स्थापित किया। इसके पीछे सामुदायिक नेतृत्व की कल्पना थी। परन्तु प्रेसीडियम के नेताओं मे बहुत जल्द अनबन हो गयी। बाबासाहब के चरणों में ली गयी शपथ

---

1. जोंक

इस तरह हवा हो गयी। 3 अक्तूबर का मुद्दा घटनात्मक प्रसंग के रूप में उपयोग में लाया गया। संशोधित और असंशोधित—इस आधार पर सीधे-सीधे दो गुट हो गये।

3 अक्तूबर से पहले संविधान लिखा जाये परन्तु इस संविधान पर किसका नाम हो, इस विवाद में सविधान फँस गया। संशोधन के पक्ष में सारे वकील लोग। संशोधन न चाहने वालों में दादासाहब गायकवाड। धोती बनाम पतलून वालों में यह सीधा झगड़ा था। "कागज़ को कौन पूछता है?" कहकर दादासाहब गायकवाड ने इस सविधान बनाने वालों की सार्वजनिक रूप से हँसी उड़ायी। उधर इसका समर्थन करन के लिए ज़िले के दादासाहब ने एडी-चोटी का ज़ोर लगाया। पार्टी का कलगी-तुर्रा बड़ा रग लाया। दादासाहब हमारे ज़िले के। इसलिए मैं सशोधन की ओर से काम करने लगा। पार्टी की फूट कई ज़िलों तक फैल चुकी थी। ज़िले की राजनीति को जरूरत से ज्यादा महत्व मिल गया। पश्चिम महाराष्ट्र में ज़िलेवार गुट बन गये। उधर विदर्भ में महार जाति की उपजातियो पर आधारित गुट बने। बावणे, लाडावान और कोसरे—यह विदर्भ की उपजातियाँ। उधर पश्चिम महाराष्ट्र मे सोमवंशीय। अपने बाबूजी संशोधन के आधार-स्तभ। उनके पीछे विदर्भ के और उतने ही उनकी उपजाति के लोग थे। दूसरी ओर खोब्रागडे की उपजाति बड़ी थी। भूमिहीन खेत-मजदूरों को रिपब्लिकन पार्टी का कोई भी गुट आकर्षित नहीं कर सका। कुल मिलाकर संशोधन वही। परन्तु बोर्ड बदल गया। उसमे भी बोर्ड के दो भाग। कुल मिलाकर यह हालत थी।

अच्छा-बुरा समझने की वह उम्र न थी। किसी बाढ की चपेट में तिनके के बहने-सा मैं बहा जा रहा था। नेता जो कुछ कहेंगे, उसे कविता मे उतारना शौक बन गया। शेक्सपिअर ने 'यह चित्र और वह चित्र'—ऐसा हेमलेट के मुँह से कहलवाया था। वैसे ही मैं भी कविताओ मे, सशोधन का उदात्तीकरण करने लगा। संशोधन के विरोधियों का पहलू अधिक काला करने की कोशिश कविता में होने लगी। पार्टी की ओर से अख़बार निकाला जाता। उसमें इस आशय की कई कविताएँ मैंने दीं।

रिपब्लिकन नेताओं के करीबी दर्शन में कोई संतोषजनक बात न दिखती। इसमें से अधिकांश नेता बाबासाहब की हू-ब-हू नक़ल करते। बाबासाहब कुत्ता पालते तो ये भी कुत्ते पालते। बाबासाहब कीमती पेन रखते, ये भी रखने लगे। सूट पहनना आम बात हो गयी थी। किसी शोक-सभा या शवयात्रा में भी ये लोग सूट पहन कर आते। तब उन पर बड़ी दया आती। गाँव-देहातों में इनकी सभाओं में इनका डीलडौल खुल कर दिखता। देहातों में जनता रास्तों पर धूल में पत्तलें बिछाकर लपसी[1] खाती है और ये नेता अपने घरों में मुर्गी-शराब में मस्त। यह विसंगति बहुत खटकती। निश्चित ही इनके ये शौक़ लोगों के चंदों से पूरे होते।

एक बार ऐसे ही विरोधी नेता की सभा में गया। भाषण के पश्चात उन्होंने श्रोताओं का प्रश्न पूछने के लिए आवाहन किया। बहुत देर तक मैं अपने व्यंग्यकार को नहीं दबा सका। मैंने प्रश्न पूछा, "लोग कहते हैं कि फोर्ट में जो बाबासाहब का पुतला है, वह आप-सा दिखता है!" सही बात तो यह थी कि प्रश्न का व्यंग्य-स्वरूप वे समझ गये थे, पर वे बहुत झल्लाये। कहने लगे, "बाबासाहब की तरह मेरी नाक है, इसलिए क्या उसे काट डालूँ या, उनकी और मेरी ऊँचाई एक जैसी है, क्या उसे भी कम कर डालूँ?" साहब के इस उत्तर से उस दिन सभा का बड़ा मनोरंजन हुआ।

संशोधन पार्टी के ऐसे ही एक नेता थे। 'संविधान-पंडित' के रूप में चारों ओर उनकी ख्याति। संशोधन वाले सभी नेता उनकी खुले-आम तारीफ़ करते। 'भारत के केनेडी' के रूप में उनका उल्लेख होता। संयुक्त महाराष्ट्र के वे दिन। पत्थर को सिंदूर लगाने से वह भी चुनकर आ जायेगा, ऐसी हालत थी। साहब चुने गये। तब से उनका रुआब और बढ़ गया था। उन दिनों हम शाम को भाटिया बाग में एकत्रित होते। साहब के साथ अपना भी फ़ोटो छपे, यह सबकी इच्छा थी। बड़ी मुश्किल से साहब फ़ोटो के लिए तैयार होते हैं। फ़ोर्ट में एक फोटो वाले के पास हम गये। साहब को ज्यों अचानक चींटे ने काट लिया हो! वे कड़के, "आप लोग आगे चलिए या मुझे आगे जाने दीजिए।" अनुयायियों को बड़ी

---

1. पतला हलवा

निराशा हुई। फटे-पुराने कपड़ों में अनुयायी उनके साथ चल रहे हैं, यह बात तो कहीं साहब को नहीं खटकी ? वैसे ये साहब बहुत गरम स्वभाव के किसी के भी साथ बात बड़े रौब से करते। गलती से यदि कोई घर चला जाता तो दरवाज़े से भगा देते। यदि किसी ने जाने का साहस कर ही लिया तो उसे अनेक वकीली दाँव-पेंच के सवाल पूछकर हैरान कर छोड़ते।

ऐसे ही एक दिन मैं उनके घर गया। साथ मे एक बडे दलित लेखक थे। जाते ही साहब ने हमसे हमारा ज़िला पूछा। ज़िला पूछने के पीछे सिर्फ़ एक ही आशय था कि हम किस गुट के है ? चर्चा मे दलित लेखक मित्र के मुंह से 'समाज' शब्द निकला। इस पर थोड़ा रुक कर वे हमसे पूछते है, "बताइए तो समाज की क्या व्याख्या है ?" लेखक बताता है, "समाज की कई परिभाषाएँ हो सकती हैं। डॉक्टर, इंजिनियर अलग व्याख्या करेंगे। नेता लोग अलग करेंगे और लेखक अलग पद्धति से समाज की व्याख्या करेंगे !" इस पर साहब तंग आकर बोले, "समाज की इतनी व्याख्या करने वाले आप पहले व्यक्ति मुझे मिले हैं।" ऐसे थे साहब !

कम्युनिस्ट दर्शन की कोई बात शायद वे न जानते थे। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर वे कम्युनिस्ट सिद्धान्तों की तीखी आलोचना करते, परन्तु चुनाव आने पर उन्हें मुस्लिम लीग या कम्युनिस्ट—कोई भी चलता।

सुधारवादियों के सिद्धांतों के सदर्भ में वही एकमात्र अगुवा। ससदीय लोकतन्त्र के संदर्भ में भी यही बात—मोर्चा मत कहिए, 'पिटिशन' कहिए। अमुक सन मे इंगलैंड मे लोग पार्लियामेंट पर जो ले गये थे, वह मोर्चा नहीं, पिटिशन था। संयुक्त महाराष्ट्र की राजनीति में कम्युनिस्ट पावरफुल हैं। यदि हम उनके साथ रहेंगे तो कम्युनिस्ट चिंतन फैलेगा, ऐसी आक्रामक बात लेकर ये लोग सयुक्त महाराष्ट्र समिति से बाहर आ गये। "देश से हम कम्युनिस्टों की जड़ें उखाड़ फेंकेंगे।" साहब के इस बयान को हेडलाईन मिल गयी। उन दिनों दादासाहब गायकवाड जाहिर तौर पर बोल गये थे कि "मैं जन्मजात कम्युनिस्ट हूँ। हम कच के समान कम्युनिस्टों के पेट से बाहर निकल जायेंगे।" सिर्फ इस एक वाक्य के कारण दलितों, बौद्धो की राजनीति में कितना बड़ा युद्ध छिड़ गया था ! दादा-

हज़ार तक पहुँच गया। नेताओं तक को इस आँकड़े पर विश्वास न होता। दूसरे सार्वजनिक चंदों का जो भविष्य होता है, वही इसका भी हुआ। नेताओं में खटपट हुई। सारी रकम फ्रीज कर दी गयी। चैत्यभूमि के स्तूप पर संगमरमर जड़ने की कल्पना भी लोगों ने इसी प्रकार पॉपुलर की थी। कहते हैं, लोगों ने पैसों की वर्षा कर दी। परन्तु अत तक सगमरमर नही बैठाया गया। बाद में ये पैसे हवा हो गये। समाज को इन पैसों का कभी हिसाब नही मिला। कनिष्ठ गाँव-कामगारों ने भी सारे महाराष्ट्र से प्रत्येक गाँव पीछे मनीआर्डर भिजवाया। महार के वतन खत्म हो गये, परन्तु वह सारा पैसा आज भी बैंक मे सड रहा है। समाज के रचनात्मक कामों के लिए इन पैसों का उपयोग नही हो पाया।

धीरे-धीरे समाज मे उदासीनता फैलने लगी। सारे आदोलन चूल्हे-से ठंडे होने लगे। राजनीति की छाया समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक और शैक्षणिक संस्थाओं पर भी पड़ने लगी। इतना ही क्यों, शादी-ब्याह, मरणोपरांत शवयात्रा—इस पर भी गुटबाजी का प्रभाव दिखने लगा। कोई सामान्य आदमी भी यदि मर जाये तो श्मशान घाट पर उसके गुणगान की प्रथा थी। वार्ड के कार्यकर्त्ताओं को इस सभा में बोलना मान-सम्मान की बात लगती। उस समय जिस गुट का शव होता, उन्हीं को सभा में बोलने का मान मिलता। अध्यक्ष भी उसी गुट का। दूसरे गुट को टाला जाता। 'हम आपने गुट का आदमी मरने पर इसका बदला लेंगे', ऐसा दूसरे गुट वाला घर जाते-जाते बोल जाता!

एक बार मैं जिले की एक आम सभा में गया। कार्यक्रम शाम को था। दोपहर में नेताओं के साथ कार्यकर्ताओं का शिविर था। एक हॉल मे कुछ नेता लोग अनौपचारिक बातचीत कर रहे थे। मैं बड़े भक्ति-भाव से उनके भाषण सुन रहा था। शायद खाने का समय हो गया था। भोजन के समय मुझे कैसे टाला जाये, इस बात का विचार संचालक लोग कर रहे थे। उन्होंने मुझे पास बुलाकर कान में कहा, "इस समय एक मान्यवर नेता बस से आ रहे है, उन्हे लेने जाओ।" मैं बड़े असमंजस मे था। एक तो यह काम स्थानीय कार्यकर्ताओं को सौंपना चाहिए। वैसे भी मान्यवर नेता को सब लोग पहचानते थे। मैं बाहर आता हूँ। भोजन में शामिल न करने के

लिए मुझे इस प्रकार टाला गया है, इस बात का भीतर-ही-भीतर विश्वास दृढ़तर होता जाता है। चोट-लगे पक्षी-सी मेरी मानसिक अवस्था होती है। मैं स्टैंड पर नहीं जाता। दिन-भर गाँव में भटकता रहता हूँ। रात की सभा मे शामिल न होकर बंबई की गाड़ी पकड़ता हूँ। नेता अर्थात कुछ स्थानीय महत्व के व्यक्ति ही थे। अनुयायियों के साथ गुलामों-सा व्यवहार करने मे उन्हें शर्म न आती।

धीरे-धीरे नेताओं की भीतरी और व्यक्तिगत बातें मालूम होने लगी। जिन लोगो को बहुत बडा समझते थे, वे भी अपनी ही तरह मिट्टी-गोबर के बने हैं। अपने स्वार्थ-लाभ के लिए किसी भी स्तर तक पहुँच सकते हैं, इसका भी विश्वास होता गया। इससे पहले नेताओं की काफ़ी मज़ेदार बातें सुन रखी थी। एक नेता तो इंग्लैंड से बैरिस्टर बनकर आया था, वह कभी-कभार जब देहातों मे सभाओं के लिए जाता, तब उसे खुले मे नहाने मे बडी शर्म आती। साहब को इग्लैंड के बंद बाथरूम की आदत ! लोग बताते, 'जब साहब नहाने बैठते, तब चार कार्यकर्ता उनके चारों ओर धोती तानकर पर्दा कर देते। इस तरह उनका 'बाथ' चलता।' बाद मे बैरिस्टर महोदय एक खाना बनाने वाली को लेकर भाग गये। इस काड की समाज में बड़ी तीखी प्रतिक्रिया हुई और उन्हे पार्टी से छुट्टी दे दी गयी।

ऐसी ही पुणे के एक नेता की बात बताते हैं। ये कहीं भी सभा मे जाते तो फुल सूट में। एक देहात में जयंती के उपलक्ष में इनकी सभा का आयोजन हुआ। साहब पेट-भर मुर्गा दबा चुके थे। वे खुले मे सोने को तैयार न थे। अत में साहब के सोने की व्यवस्था एक कमरे में की गयी। कमरे के पास ही रसोईघर। जिस कार्यकर्ता का यह घर था, उनकी पत्नी ने ज़ोरदार मटन बनाया था। बाई चूल्हे के पास ही लेटी थी। रात मे साहब की वासना ज़ोर मारती है। साहब अँधेरे मे ही बाई को टटोलने के लिए आगे सरकने लगते हैं। बेचारी बाई गहरी नीद मे थी। घर मे सोया साहब इस क़दर टटोल रहा है, यह

जानकर बाई भयाकुल हो गयी। वह जोर से चिल्लाती है। बाहर सोये पुरुष लोग जाग जाते हैं। सब साहब को माँ-बहन की गाली देते हैं। साहब वैसे छँटा हुआ था। अँधेरे में अपना सूट कांख मे दबाकर भाग निकला। पीछा करते कार्यकर्ताओं को साहब नही मिलते। सुबह-सुबह ही कार्यकर्ता साहब की तलाश मे शहर आ जाते हैं। जिसने यह नेता तय कर सभा के लिए गाँव भेजा था, उसके घर जाते हैं। कहते हैं, "साहब आपने बहुत अच्छा किया ! बहुत अच्छा नेता भेजा, जो हमारी माँ-बहनों को टटोलने निकला !" आज भी यह नेता खुले-आम समाज मे शान से रह रहा है। विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि वह विधायक चुना गया। रक्षक ही भक्षक बन जाये तो शिकायत किससे करें ? आम आदमी के सामने यही सवाल।

परन्तु दादासाहब कभी भी बाई-बोतल के फंदे मे नही पड़े। एक चरित्र-वान व्यक्ति के रूप में हम उन्हें बचपन से पहचानते है। पर इस राजनीति में दादासाहब का दम घुट रहा होगा। उन दिनो 'मिलिंद' के नाम से 'रिपब्लिकनों को कम्युनिस्टो से किसने बचाया ?' पुस्तिका प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तिका के मुखपृष्ठ पर चित्रकार ने एक चित्र बनाया था। एक बैलगाड़ी मे पार्टी के कुछ नेता बैल के रूप मे जोते गये थे। गाड़ीवान के हाथों मे चाबुक था और पीछे से गाडी को पकड़कर रास्ते से खीचते जाने वाले दादासाहब थे। गाड़ी हाँकने वाले इन्ही नेताओं ने पाले-पोसे थे। उनका 'भारत के केनेडी', 'सविधान-पंडित' कहकर गौरव किया गया था। कार्यकर्ताओं मे इस 'केनेडी' के बारे में खुली चर्चा चलती। 'अरे ये, पैसों के ढेर पर मूतने वाला। पोपट-सा मिट्ठू-मिट्ठू बोलने वाला। अनार ला कर कौन देता है, इसका विचार न करने वाला।' कोई भी रचनात्मक काम हो, यह 'केनेडी' उसमे गडबड़ी फैलाता। ससदीय लोकतन्त्र की गप्पें हांकता। परन्तु आंतरिक लोकतंत्र में इसका कभी विश्वास न रहा। 'मिलिंद' नाम से जो पुस्तक लिखी गयी है वह दादा-साहब की ही लिखी है, कार्यकर्ताओ की ऐसी मान्यता बन चुकी थी। जिस प्रकार 'केनेडी' वॉल्टेयर, अब्राहम लिंकन के हमेशा कोटेशन्स देता, वैसा ही इस पुस्तक में भी था। मिलिंद इतनी अच्छी पुस्तकें नही लिख

सकता, यह भी कार्यकर्ताओं की प्रतिक्रिया थी। इससे एक बात हुई। रिपब्लिकन के गुधारों मे फूट पक्की हो गयी। दादासाहब तंग आकर सरकारी नौकरी मे चले गये।

इस समाज-कार्य के पागलपन के कारण घर मे ठीक से ध्यान नहीं दे पाया। वैसे सई गँवई थी। उसे यह सब पसद न आता। क्षण-भर का विरह भी उसे सहन न होता। परन्तु मैं बहुत पहले पढ़ी सावरकर की 'काला पानी' पुस्तक के कुछ वाक्य उस पर फेंकता, "अरी, ससार माने क्या? कौवे जिस प्रकार तिनका-तिनका जोड़ कर घोसला सजाते हैं न, ठीक वैसा। हमारे घर से आज भले ही अभावो का धुआं उठ रहा है, पर कल दूसरों के घर से सोने का धुआं उठेगा।" जैसे कोई सभा मे भाषण दे रहा हो, ऐसे वाक्य सुनकर वह चकरा जाती।

प्रारम्भ के दो-तीन सालों में सई को कोई बाल-बच्चा नहीं हुआ। बच्चे के लिए वह बहुत दुखी रहती। एक बार वह अपने चाचा के घर, मायके जाती है। उसका चाचा पास ही गोलपीठा के पास सिद्धार्थ नगर के बाम्टी चाल मे रहता था। आसपास की बस्ती पसंद न थी। दिन मे भी हिजड़े-वेश्याएँ फुटपाथ पर खड़ी मिलती। उनके उलटे-सीधे हाव-भाव होते। कई बार लगता, सई उस ओर न जाये।

एक बार वह मायके से वापस आयी। उसे भी बच्चा हो, इसलिए वहाँ 'भगत' देखा। उसका अगारा लेकर वह आती है। मैं कभी भी विशेष नाराज़ न होने वाला उस पर भड़क उठा। उसे घर से बाहर जाने को कहा। नाटक मे जैसे क्षमा माँगने का सीन होता है, ठीक वैसा ही उसे 'फिर ऐसा नही करूँगी' क्षमायाचना के लिए मजबूर करता हूँ और उसे घर लाता हूँ।

शादी के पूरे तीन साल बाद सई को दिन चढते हैं। राजकमल के 'नवरग' चित्रपट के कवि-सी मेरी हालत हुई। सई की इच्छा लड़के की थी और मुझे लड़की की। माँ को भी वश चलाने के लिए एक दीपक चाहिए था। पत्नी की जचकी के समय सास की भी जचकी हो तो कैसा

लगेगा ? वैसे मैं जिस सास की बात कर रहा हूँ, वह मेरे ससुर की रखैल थी। देशमुखीन। मराठा जाति की।

काफ़ी दिनों से ससुर का यह लफड़ा रहा हो। परन्तु देशमुखीन होने के कारण फिर शादी करने की अनुमति नहीं थी। बाई का पति ऐन जवानी में मर गया। बाई मेरे ससुर पर कैसे मोहित हुई? ससुर तो डामर-सा काला और बाई बहुत गोरी थी। ससुर बाई को जचकी के लिए सीधे बंबई लेकर आ गये। वह भी दामाद के घर। बाई पीली-घम हो गयी थी। बाई का पेट भरा-भरा दिखता। बाई शर्म से जमीन में धँसी जा रही थी। नजरें न उठाती। ऐसी औरतें पहले पंढरपुर जाया करती थी, अब ससुर ने बबई ढूँढ निकाली।

पत्नी और सास की एक ही अस्पताल मे जचकी हुई। मेरे यहाँ लड़की हुई। लड़की माँ का चेहरा लेकर आयी थी। आँखें नीली-भूरी। गुलाबी रंग। शरीर कपास-सा मुलायम। हाथ मे लेने पर झट-से गिर जायेगी, इतनी मुलायम। कक्षा मे देखी एक लड़की याद हो आयी। लड़की का नाम 'वकुला' रखा। यह ख़ुशी बहुत समय तक नही टिक पायी। सास को भी जचकी होती है। जब वे घर आती है, तब बच्चा घर नही लाया जाता। बाई को गोरा-चिट्टा लड़का हुआ था। कावाख़ाने मे भी औरतें कानाफूसी करती है। म्युनिसिपैलिटी के अस्पताल मे एक पालना था—लावारिस बच्चों के लिए। बाई ने बच्चा उसमे रख दिया। बाई माथा ऊँचा किये गाँव को निकल गयी। साथ ही ससुर भी। परन्तु मैं इस घटना से बेचैन हो उठा। सच, उस छोड़े गये बच्चे का अंत में क्या हुआ होगा?

अब मैं जो कुछ बताऊँगा, वह मेरे अपने ही घर के झंझटों के बारे मे होगा। अब तक दूसरों के लफडे बताने मे रुचि ली, परन्तु स्वयं की बात बताते हुए मन में बडी बेचैनी होती है। निश्चित ही भारतीय समाज की नीति का बोझ मेरे कधों पर भी है। पुरुषों के बारे में, उनके लफड़ों के बारे मे, किसी को कुछ नहीं लगता। परन्तु अपनी औरत के बारे मे मात्र शंका भी हो जाये तो कितनी बडी 'रामायण' घटित होती है, यह सबको मालूम है।

इसमें सई का दोष कितना और परिस्थितियों का कितना था, इसका

मुझे आज भी सभ्रम है। किसी सस्पेंस सिनेमा-सा यह कथानक भी बडा उलझा हुआ है। इसमें अनेक घटनाओं तथा विचारो के छोर उलझे हुए हैं।

हम जिस चाल मे रहते थे, घटनाओं की शुरुआत उसे तोड़ने के प्रकरण से हुई। कावाखाने की नाल के आकार की खपरैली चाल उसके मालिक को तोडनी थी। वहाँ उसे भव्य इमारत बनानी थी। हम, हमारे बाप-दादे यहाँ वर्षो से रह रहे थे। हमें इसके बदले मे कोई दूसरी जगह दी जाये, यह किरायेदारों की माँग थी। इस जगह के मालिक को मैंने कभी नही देखा, परन्तु किराया वसूल करने वाले मेहता से अच्छा परिचय था। ऊँचा-पूरा। *मखमली कुरता-धोती। रग काला। उसने सीधे मारपीट की नीति* अपनायी। नया मकान देने को वह तैयार था, पर किसे दिया जाये? यह उसका सवाल था। हमारे नाम किराया-रसीद नही थी। दूसरी बात यह *कि नये मकान मे चाची हमे रखना नही चाहती थी।* इसी प्रकार, मौसेरे चाचा के मकान में उसकी विधवा भाभी रह रही थी। वह देवर के साथ नही रहना चाहती थी। अंत में अलग-अलग स्टैम्प-पेपर पर क़रार-नामा लिखा गया। मेहता किरायेदारो को अलग-अलग मिलकर बहकाता। अंत में बिल्डिंग तैयार होने तक हमें घर छोड़ना ही पड़ा। रहने की विकट समस्या थी। पास की ही इमारत मे—चंदर के घर हम यानी माँ, पत्नी और बच्चों रहने गये। बाक़ी लोग यहाँ-वहाँ दिन काटते। नयी इमारत मे हमे घर मिलेगा, इसी सपने पर हम सब जी रहे थे। अनेको को आश्चर्य होगा कि दस-बाई-दस के कमरे में हम इतने लोग कैसे रहते होगे? नयी जगह में उससे भी कम स्थान था। यहाँ तो चंदर के परिवार सहित तीन परिवार थे। रात में साड़ियों की नाममात्र की दीवार। आज भी जब याद आती है तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

दो-तीन महीने हम इस घर में उप-किरायेदार रहे होंगे। इसी बीच सई को लेकर आसपास कानाफूसी होने लगी। वैसे इस कानाफूसी का कारण मैं ही था। इमारत के कोने में साइकिल की एक दुकान थी। वहाँ मेहबूब नाम का एक युवक काम करता था। मुझसे भी कुछ ठिगना होगा।

रंग से गोरा। साइकिल की दुकान पर मेहनत से काम करता। इस कारण उसके बाजू भरे-भरे लगते। यह स्वभाव से बड़ा मीठा था। उसे शायरी का बड़ा शौक। मैं उसे मन से चाहता। मैं हमेशा ही उसी के साथ घूमता। होटल में एक साथ चाय पीते। एक-दो बार उसे 'पुरणपोली' बड़े प्यार से खिलायी थी। एक बार बीमार पड़ने पर उसे अस्पताल भी ले गया था।

'मुझे सदमा पहुँचा है', सिर्फ़ इतना ही उसने कहा था। घर आने पर सई को समय पर दवाइयां देने की हिदायत देता हूँ, क्योंकि उसका बम्बई में कोई नहीं था। वह खटिया डालकर हमारी गैलरी मे सोता। आसपास की कानाफूसी मेरे ध्यान में आ रही थी। परन्तु यह सब बेवकूफी है, इसमे किसी की साजिश है, हम कावाखाना छोड़ जायेंगे तो इनका घर मे हिस्सा नहीं होगा—इसीलिए किसी ने यह कुटिल नाटक रचा होगा, ऐसा लगता। लोगों को चिढाने के लिए मैं मेहबूब के साथ और अधिक घूमने लगा। होटल में घंटों बैठा करता। दो-एक बार माँ ने भी सई के फिसलते कदमो की अप्रत्यक्ष सूचना देनी चाही। मैं उलटे मां पर ही बिगडा, "मुझे प्रमाण दो !" कोई माँ ऐसे प्रमाण बताएगी ? वह चुप बैठी रही। मैं उसकी बात नहीं सुनता, यह देखकर वह अपनी लड़की के गाँव चली गयी।

अब पास-पड़ोस की अफ़वाहों में उफान आया। उन दिनों मै 'बुद्धायन' लिख रहा था। शायद ग० दि० मालगूलकर से प्रेरणा ली थी। दस-पद्रह गीत रच लिये थे। कॉलेज के एक दोस्त को बताया। उसने गीत पढ़ कर कहा, "बुद्धायन क्या लिखता है, 'चोदायन' लिख !" ऐसा कह कर मेरी ओर अजीब नजरें डालता हुआ वह आगे बढ़ गया।

कावाखाने में प्रवेश करते ही सारे लोग मुझे कॉलेज के उस दोस्त के समान ही देख रहे हैं, ऐसा लगता है। दिनों-दिन मैं टूटता जाता हूँ। सई पर शक करने की कोई गुंजाइश नही थी। उसे व्यर्थ ही तग कर क्या हासिल होगा ? शादी के बाद से ही उसके प्रति अगाध प्रेम आज भी उसी प्रकार था। उसके द्वारा अपने ही दोस्तों की शिकायतें याद आती है। इस कारण उस पर शंका का कोई कारण नजर नही आता।

परन्तु इसी बीच एक घटना घटी। काम से घर लौटने पर ज़ोर से बच्ची के नाम से 'बकुला' कह कर चिल्लाना मेरी आदत बन गयी थी।

छोटी बच्ची ने मुझे पागल कर दिया था। चाल में अंधेरा था। घर मे देखा, सई नही थी। मेरी आवाज सुन कर वह संडास की दिशा से आती है। उसके हाथ मे राख की टोकरी थी। मैं उत्सुकतावश झाँककर देखता हूँ। वहाँ नल पर मेहबूब कपड़े धो रहा था। मेरे भीतर संशय जाग उठता है। सारी रात नीद नही आती। सई से पूछने की कोशिश करता हूँ। वह रोने लगती है। लड़की के नाम से क़समें खाने लगती है। क्या करूँ, कुछ नही सूझता। रात-भर विचारों से माथा फटने जैसा हो गया।

सुबह रविवार था। काम पर जाने की जल्दी न थी। ये दोनों बाहर कही मिलते होगे? सई को 'सभा मे जा रहा हूँ' कहकर बाहर निकलता हूँ। सई रोज खरीदारी के लिए कामाठीपुरा के हागरी बाजार मे जाती थी। *वहाँ जा कर एक कोने में खड़ा हो जाता हूँ। प्रेमी को मिलने जाते समय* शृंगार किया जाता है। परन्तु सई बच्ची को जन्म देने के बाद बड़ी अस्त-व्यस्त रहती। *"गंदी क्यो रहती है?"* यह पूछने पर कहती, *"मुझे क्या करना* है बन-ठन कर?" इस समय भी वह उसी रद्दी हालत मे मार्केट आयी। परन्तु इसमें भी उसका सौंदर्य खिल उठता। मैं इस निष्पाप चेहरे पर व्यर्थ ही शंका कर रहा हूँ, ऐसा भी लगता है। वह बाजार से जब वापस लौटती है, तब चमत्कार घटित होता है। वहाँ एक कोने मे मेहबूब उससे बातें करता खड़ा था। मुझे ऐसा लगा, धरती फट जाये और मुझे समा ले। मैं आगे बढ़ आता हूँ। मुझे देखते ही सई घबरा जाती है। मैं उसे घर पहुँचने को कहता हूँ। मेहबूब को लेकर एक ईरानी होटल मे जाता हूँ। अब वह भी रोने लगा। कुरान की क़समें खाने लगा। "वो मेरी बहन है...," वह बड़-बड़ाने लगा था। क्या करूँ? कुछ न सूझता। मैं उसे तत्काल बम्बई छोड़ने को कहता हूँ।

घर आकर देखता हूँ कि मेहबूब गाँव जाने की तैयारी मे था। उसके बाद वह कही नही मिला।

परन्तु मेरे भीतर शैतान जाग चुका था। सच क्या है? यह जानने के लिए मैं सई को रात-रात-भर छेड़ता रहता। पर वह कुछ भी कहने को तैयार न थी। उसने नही-नही' की रट लगा रखी थी। आज तक मैंने कितनी ही किताबें पढी थी। रसेल का 'नीतिशास्त्र' पढ़ा था। परन्तु ऐसे

समय कोई किताब उपयोगी नही थी।

दस-पन्द्रह दिन सोचने मे कट गये। बहुत परेशान हो गया। वजन कम होकर नब्बे पौंड पर आ गया। एक बार तो लगा कि मैं सोच-सोच कर मर जाऊँगा। आँखो के सामने अँधेरा छा जाता। दीवाली को एक हफ्ता बचा था। मैंने सई के लिए और बच्ची के लिए नये कपड़े खरीदे। सई को उसके मायके छोड़ आने का विचार पक्का हो गया था। परन्तु सई को मेरे मन की बात मालूम न हो सकी। उसके मायके से निकलते समय, "मुझे टी० बी० हो गयी है, कुछ दिन सई को यही रखिये", यह कहना न भूला था।

फिर कावाखाने मे वापस आ गया था। अब सारा कावाखाना नोंचने को आता। बेचैनी बढती गयी। भीतर-ही-भीतर लगने लगा, मुझे फाँसा गया है। किसी से ठीक तरह बात न करता। रात होने पर आँखों से गर्म धार फूट निकलती। प्रेमभंग का दुख कलेजा कुतर रहा था। यह सब होने पर भी नौकरी की वेगार कर ही रहा था। कावाखाना बहुत मानसिक वेदना देने लगा। शिवडी में बहन के पास रहने गया। वहाँ बहन अपने पति के साथ रहती थी।

गाँव में ये ख़बरें पहुँचने लगी कि मैं पागल हो गया हूँ। मैं काग़ज फाड़ता हूँ, पत्थर फेंकता हूँ, यह अफवाह फैलती है। माँ बहुत उदास हो गयी थी। उसे लगता है, मुझ पर सई ने कुछ टोना किया है। वह 'भगत' तलाशती है। वह एक बार कोकणी भगत को लायी थी, ऐसा याद आता है। उसने मुर्गे का उतारा किया। मैं यह सब चुपचाप देख रहा था। विरोध करने का मानसिक साहस नहीं बचा था। मैं भीतर से पूरी तरह टूट चुका था। सई से आसक्ति और घृणा एक साथ होती। परन्तु फिर भी सई मन मे तोड़े न टूटती। एक-दो बार सई लड़की को लेकर साथ रहने भी आयी। परन्तु मैंने उसे साड़ी-चोली तथा बस-किराया देकर फिर गाँव रवाना कर दिया। वह इसी आशा पर जी रही थी कि आज नही तो कल पति वापस ले ही जायेगा। मैं डबल रोल कर रहा हूँ, इसकी उसे जानकारी नही थी।

इस तरह वक़्त बीतता जा रहा था। पर मेरा मन नयी बातें सोचने के लिए तैयार नही था। पूरी तरह ढह चुका था मैं। साबले नाम का मेरा एक मित्र था। उसने इस सकट में बहुत धीरज बँधाया। पिछले एक साल

से मैं बिना बाई के कैसे रह लिया, इसी बात का उसे आश्चर्य होता। वैसे वह चरित्रवान था। दारू की बूंद तक न छूता। मैं इतना उजड़ चुका था, फिर भी मुझे यह कभी नहीं लगा कि अपने आप को दारू के सुपुर्द किया जाये। परन्तु सावले को मेरी चिंता थी। वह मुझे रात-रात-भर फोरास रोड, पवन पूल आदि वेश्याओं की बस्ती में घुमाता। परन्तु इन औरतों को देख कर घिन होती। मेरे शरीर के किसी अंग में कोई झनझनाहट न होती। कभी-कभी लगता, 'साला कहीं मैं हिजड़ा तो नहीं हो गया?' सुन्दर लड़की देखते ही थरथराने लगता।

तालुके में लड़कियों का छात्रावास था। एक बार वहाँ ट्रस्टी की वार्षिक सभा थी। उस सभा में कार्यकर्ता के रूप में गया था। खाना बनाने वाली महिला और छात्रावास की लड़कियों के बीच हमेशा झगड़े होते। इन झगड़ों का निपटारा कर बम्बई वापस आने के लिए ट्रस्टी ने मुझे सूचित किया। वहाँ भूरी आँखों वाली एक लड़की थी। गोरी, पर ठिगनी कद की। उसे मैं मन से पसन्द था। वहाँ की एक रिश्तेदार लड़की ने उसे मेरी ट्रेजेडी के बारे में बताया। मैं बहुत ग़रीब हूँ, यह भी बताया। वह कहने लगी, "मैं इसके साथ झोंपड़ी में भी रह लूंगी।" परन्तु पता नहीं क्यों, भूरी आँखों से मैं बहुत डरा हुआ-सा था! मैंने कोई रिस्पांस नहीं दिया।

इसी बीच सावले ने मेरे लिए एक बाई 'तय' की। चौपाटी पर अकेली भटक रही थी। बाई काली-साँवली। परन्तु दिखने में ठीक-ठाक। वह हमें नवलकर स्ट्रीट ले आती है। सावले बाहर ही रुका। बाई धंधे वाली थी। बाहर से वह शिकार फाँस कर लाता। 'आज कौन बकरा फँसा' कह कर बाक़ी खिद्-से हँसतीं। परन्तु मैं तो भीतर तक डरा हुआ था। किसी को *भरोसा हो या नहीं, पर वह बाई मेरे सामने पूरी नंगी खड़ी थी, फिर भी,* मेरे शरीर में वासना की कुछ भी हलचल नहीं हुई। ठंडी गोटी-सा मैं उसकी ओर देखता रहा। शायद उसे भी आश्चर्य हुआ हो। उससे हुआ सवाद आज भी याद है। मैंने उससे कहा, "तेरी शादी हो गयी?" इस पर वह उदास हँसी फेंकते बोली, "मेरी शादी रोज होती है!" जब मैं बिना कुछ किये ही बाहर आ गया तब सावले ने उससे पूछा। वह बोली— "तुम्हारा आदमी काम का नहीं है।" तब सावले मेरी ओर आश्चर्य से

देखने लगा। वेश्यालय में मेरी वह पहली और अन्तिम यात्रा थी।

पर यहाँ मैं थोड़ा-सा झूठ बोल गया। इधर एक बार एक धनवान दोस्त के साथ फोरास रोड के एक कोठे पर गाना सुनने गया था। परन्तु वहाँ के गाने का आनद नहीं ले सका। कोठे पर मैंने बच्चों के बस्ते और स्लेटें देखी। पिछले दालान में छोटे बच्चो को सोते देखकर मैं बेचैन हो उठा। मेरे सामने हाथों में गजरा बांधे हुए जवानी से लबालब चार-पाँच लड़कियाँ तालियाँ पीट रही थीं, गा रही थीं। ऐसे समय एक लड़की ठीक मेरी लड़की-सी लगी। चेहरे की सजावट भी वैसी ही थी। भूरी आँखें, शंकुरूप चेहरा, गोरा रग। नाचते समय उसका गर्भ से बढा पेट मुझे दिखता है। अपने मन में ये विचार क्योंकर आये, इसका रहस्य मुझे नही मालूम। पर मुझे लगता कि मेरा सिर ज्वालामुखी-सा फट जायेगा। मेरी मनोदशा दोस्त ने जान ली या नही, पता नही, परन्तु उसने नाच रोक दिया।

इस समय दुख पर जो विजय मिली, वह एक दैवी घटना के कारण। आदमी का मन बडा मज़ेदार होता है, यह सच है। दुश्मन पर भी ऐसी संकट की घड़ी न आये, ऐसा हम कहते हैं। परन्तु अपने-सा ही दुख देखने पर अच्छा नही लगता है क्या? मैंने जो घटना सुनी, उसे सुनकर लगा कि इसके सामने अपना दुख कुछ भी नही है।

ऑफिस मे ही पास के टेबल पर एक सज्जन काम करते थे। स्वभाव से बड़ा भला-अच्छा स्पोर्ट्समैन। वह अचानक ही टूट गया। चिंता से उसका चेहरा सूख गया। वैसे मेरी बात ऑफिस में किसी को मालूम न थी। पड़ोस मे काम कर रहे उस कर्मचारी ने एक बार मेरे पास अपना बोझ हलका किया। वैसे यह पढा-लिखा था—बी० एस-सी०। जाति से उच्चवर्गीय। उसके द्वारा बतायी घटना पर मुझे विश्वास ही न होता।

उसने अभी-अभी अपनी पत्नी छोड़ दी थी। बच्चे वापस मिल जायें, इसलिए वह कोर्ट मे झगड़ रहा था। पत्नी छोड़ने का कारण बहुत ही चौंकाने वाला था। उसके कथनानुसार पत्नी ने अपने ही सगे भाई से कुकर्म किया था। मेरा तो सिर चकराने लगा। ऐसी घटना कभी नहीं सुनी थी। जब मैंने अविश्वास व्यक्त किया, तब उसने भाई-बहन के पत्र दिखाये।

भाई ने बहन को लिखा था। पत्र पर 'साईंबाबा प्रसन्न' लिखा था। उसमें एक वाक्य तो बड़ा चौंकाने वाला था—"तुम्हारी शादी के पहले हम जो काम करते थे, वह अब भी कर सकते हैं। वैसे 'काम' शब्द का अर्थ तो तू समझ ही गयी होगी।" जिंदगी का बहुत ही कुरूप हिस्सा मैं देख रहा था। इन पत्रों को कोई जाली कैसे समझे? वह कर्मचारी बता रहा था—"मैं हमेशा टूर पर रहता। बहन को संभालने के लिए भाई की अपेक्षा और कौन-सी शक्ति अधिक समर्थ हो सकती है?" कोर्ट में प्रस्तुत करने के लिए उसने इन पत्रों के कुछ फोटो भी निकाल लिये थे।

यह घटना सुनते समय न जाने क्यों बचपन में जावजीबुआ की बतायी एक बात अनायास ही याद हो आयी। बात कुछ इस तरह थी : एक ब्राह्मण था। उसके हँसने पर उसके मुँह से मोती-मूँगे गिरते। राजा को यह जानकारी मिली। इस प्रकार का आश्चर्य अपने दरबार में हो, इसलिए वह अपने सिपाहियों को उसे लाने के लिए भेजता है। राजा की आज्ञा सुनकर वह ब्राह्मण सिपाहियों के साथ घर से चलता है। फर्लांग-भर चलने के बाद उसे याद आता है कि उसका पंचांग तो घर में ही छूट गया। ब्राह्मण जब घर पहुँचता है तो देखता क्या है कि उसकी पत्नी पर-पुरुष से लिपटी हुई है। वह वैसा ही उलटे पाँव वापस लौटता है। महल में आने पर वह हँसता ही नहीं। उसके सामने अनेक हास्य-विनोद के प्रसंग रखे जाते हैं, पर ब्राह्मण मौन। अंत में राजा ने उसे जेल में डाल दिया। वहाँ एक रात वह झरोखे से पूनम का चाँद देख रहा था। वह अचानक चौंकता है। देखता क्या है कि राजा की पटरानी घोड़े का खरहरा करने वाले नौकर की पंचायत-आरती उतार रही है...नौकर की जिद पर वह घोड़ी-सी झुक जाती है। उसकी पीठ पर बैठा हुआ वह नौकर.. फर्र-फर्र घोड़ी हाँकता है। यह दृश्य देखते ही ब्राह्मण खिलखिलाकर हँसने लगता है। सुबह सबने देखा, सारा कारावास मोतियों-मूँगों से भरा हुआ।

ले-दे कर यह एक कथा ही है। परन्तु इसके पीछे जीवन का बहुत बड़ा रहस्य और सारांश छिपा है, ऐसा लगने लगा।

कावाख़ाने में रहना दूभर होता गया। हमें जिस नयी इमारत मे मकान मिलने वाला था, उस इमारत पर मंजिलें चढ रही थी और उसके नीचे हमारा दम घुट रहा था। मकान-मालिक घर देने का नाम न लेता। हम सबको अधर में छोड़ दिया उसने।

जिन रिश्तेदारों के पास मकान-किराये की रसीदें थी, उनमे मेहता ने फूट डाल दी। कुछ हज़ार पैसे देकर रास्ते लगा दिया। हम सबकी उम्मीदों पर पानी फिर गया। मकान के संदर्भ मे कोई पावती न होने के कारण हम कोर्ट मे भी नही जा सकते थे। इमारत का हर फ़्लैट पचास-साठ हज़ार रुपयों में बेचने वाले मालिक के लिए हम किस खेत की मूली थे! अंत मे सब रिश्तेदार कावाखाने से छितरा गये। कम-से-कम मेरी मानसिक हालत बहुत ही खराब हो चुकी थी। ऐसा लगने लगा, इसी इमारत के कारण मेरी सारी दुनिया मिट्टी मे मिल गयी। इस जगह रहना *अर्थात् फिर-फिर वही याद दुहराना था।*

मां और मैं कावाख़ाना छोड़ देते हैं। माँ अब मेरे लिए अत्यधिक चिंतित थी। उसके इकलौते बेटे की दुनिया उजड चुकी थी। सई के रहते वह हमेशा अपनी बेटी की तरफ़दारी करती, परन्तु सई के जाने के बाद वह अपनी बेटी पर बात-बात पर उखडती। मुझे हथेली के घाव-सा संभालती। मां के स्वभाव पर आश्चर्य होता। बवई में हमारे लिए कोई सहारा नही था। हम शिवडी मे रहने चले गये।

एक-दूसरे से सटे हुए ठूंठ से आपने एक तीसरा पेड़ उगता हुआ देखा होगा। कहते है, उस पेड़ के मलबे पर उड़ते हुए पक्षी बीज डालते हैं। जब शिवडी में रहने के लिए गये तब मेरे इस टूटे मन पर ऐसा ही एक बीज पड़ा। मेरे मन मे तेज़-तर्रार अंकुर उपजने लगा। अब अनेकों की उत्सुकता मरी जा रही होगी। परन्तु यह सब जानने के लिए शिवडी का सारा भौगोलिक और सामाजिक परिसर देखना आवश्यक होगा। तभी वास्तविक बात स्पष्ट हो सकेगी।

शिवडी स्टेशन छोडने पर और वडाला की दिशा मे कुछ कदम चलने के बाद रेलवे लाईन से सटी बहुत बड़ी झोपड़ी-पट्टी है। एक-दूसरे से

सटे टीन की चादरों के घर। घर के सामने भूलभुलैया गलियाँ। एक बार भीतर जाने पर चक्रव्यूह मे फँसने का आभास होता और सिर चकराने लगता। प्रारभ के सात-आठ दिनों में दो कारणो से मैं तग आ गया। एक तो शिवडी की जानलेवा दुर्गंध। इस हिस्से में सूखी मछलियों के गोदाम। गली से जाते समय नाक को रूमाल लगाना पडता। फिर धीरे-धीरे इस दुर्गंध की इतनी आदत पड़ गयी मानो कही दुर्गंध हो ही नही। इस दुर्गंध से एक बात याद आ गयी। एक बार सूखी बोंवल की पुड़िया लेकर फर्स्ट-क्लास के डिब्बे मे गलती से चढ गया। फ़र्स्ट-क्लास के सारे यात्री 'दुर्गंध कहाँ से आ रही है' इसकी तलाश अपनी नाक से कर रहे थे। मैं तुरंत अगले स्टेशन पर उतर गया। पर थर्ड-क्लास के यात्रियों को यह दुर्गंध नही आयी। है न मज़ेदार बात? हाँ, तो मैं बता रहा था—शिवडी की दुर्गंध!

तग आने का दूसरा कारण यह था कि इस चाल के पास से ही लोकल गाड़ी दौडती थी। गाड़ी जब पटरियो से गुज़रती तो नीद टूट जाती। नीचे लीपे हुए घर की ज़मीन भूकप-सी थरथराती। इस थरथराहट की भी धीरे-धीरे आदत हो गयी। कही पढ रखा था, उद्देश्य से प्रेरित मनुष्य नरक में भी स्वर्ग-सुख पाते हैं। ऐसा यह स्वर्ग-सुख! नर्क का भी यह कैसा उदात्तीकरण था...!

ऐसे नर्क में बहन ने अपना संसार बसाया था। इस चाल मे बहन का दस-बाई-बारह का रूम। टीन की चद्दर की ही दीवार। एक घर मे बातें करने पर दूसरे घर मे लोग सुनते, ऐसी हालत। सार्वजनिक नल का पानी। घर में जो नहाने की जगह थी, वह दरवाज़े से लगकर ही बनायी गयी थी। बाहर छोटा-सा आँगन। उस पर टीन का शेड। आसपास की सारी बस्ती मुसलमानों की। सारे मुसलमान घाट के। कुछ कोंकण के। उनकी हिन्दी भी बडी मज़ेदार थी। 'कौवे ने फडका फाड्या' या 'म्हैसने गोबर हाग्या'—इस तरह की मराठी-मिश्रित। इस बस्ती में एक-दो घर महारों के रहे होंगे। मुसलमान लोग महारों को अछूत समझते। उनके घर का कोई खाता-पीता नही, यह सुनकर तो मैं दग रह गया। भारतीय जाति-व्यवस्था की जड़ें इस प्रकार आड़ी-तिरछी गहरी धँसी हुई। इस

दस-बाई-बारह के रूम में बहनोई, बहन और उनका छोटा बच्चा, ससुर— इतने लोग रहते । इसके अलावा बहनोई के दोस्त का भी परिवार था। कोंकणस्थ। सावत उसका नाम। उसकी पत्नी चपाताई बडी ही मिलनसार।

इस भीड़ में माँ और मैं वहाँ रहने गये। अब हम कैसे रहते होंगे, कोई सोच भी सकता है क्या? इस बस्ती मे जो सबसे बुरी चीज़ थी, वह थी संडास। चाल के संडास में जाते समय रोंगटे खड़े हो जाते। मैले पर कुलबुलाने वाले सफ़ेद कीड़े। इसलिए सुबह होते ही संडास जाना बड़ा ख़राब लगता। फिर तो बाद में मैं फ़ोर्स दबाकर ऑफ़िस मे ही संडास जाने लगा।

शिवडी रहने तो आ गया, पर बेचैनी नही मिटी। सई और बकुला की याद भुलाए न भूलती। आँगन की बेंच पर घुटनो मे सिर रखकर घटों बैठा रहता। पढने की इच्छा न होती। बहन के बच्चे से खेलने में भी मज़ा न आता। माँ अत्यधिक चिंतित थी। उसे कुछ समझ न पड़ता कि मेरे लिए क्या किया जाये?

ऐसी मानसिक अवस्था मे सलमा मिली। अब कईयों के सामने एक नया सवाल होगा कि सलमा कौन? एक मुसलमान के कारण मेरी दुनिया उजड़ गयी, इसलिए एक मुसलमान लडकी को लेकर मैं कोई क़िस्सा गढ़ने वाला हूँ—ऐसा भी किसी को लग सकता है। परन्तु जब मैंने सलमा को पहली बार देखा, तब उसी ने नजदीक आने की कोशिश की। उस समय मुझे प्रकृति के इस सयोग पर आश्चर्य हुआ।

बात यह थी। सलमा का घर सामने की चाल में था। दोनों चाल मे केवल दस-बारह फ़ुट का अंतर था। नल से पानी लाने के लिए सलमा के घर का रास्ता हमारे घर के पास से ही जाता। घर या आँगन मे बैठने पर सलमा का घर दिखता।

वैसे सलमा इकहरी देह की थी। काली-साँवली। उसकी बादामी आँखें, गहरी काली। सोलह-सत्रह की रही होगी, कुर्ता-पायजामा पहनती। छाती पर मखमली दुपट्टा। पीठ पर लबे बालो मे वेणी। सलमा वैसे बड़ी आकर्षक थी। बस्ती के लड़के उसे 'नरगिस' कहकर चिढ़ाते। उसका

शरीर सुडौल था।

एक बार उसने पूछा, "आपको क्या हो गया है? बड़े उदास रहते हो?" मैं इस पर उदास हँसी हँसा था। बहन और चंपाताई से उसकी दोस्ती थी। कभी-कभी लट्टू-सी घर मे नाच जाती। उसे मेरी ज़िंदगी की बातें मालूम हो गयी थी। वह कहती—"तेरी औरत यहाँ आयेगी तो मैं उसे लाठी से मारूँगी!" इसने मुझमें क्या देखा, पता नही। मैं स्वयं को आईने मे देखता तो अपने-आप से कांप उठता। पिचके हुए गाल, धँसी हुई आँखें, उसके चारों ओर काली झांई। यह बहुत रोने का परिणाम भी हो सकता है।

एक बार उसने मुझ पर पानी डाला। और फिर धीरे-धीरे वह मुझ पर प्रभाव डालने लगी। मुझे लगा, बिल्ली जैसे चूहे से खेलती है, वैसे ही वह मुझसे खेल रही है। दूध से मेरा मुँह जल चुका था। इसलिए यह सब कुछ मुझे बड़ा हास्यास्पद लगता। इतना होने पर भी मेरे भीतर अनजाने ही कुछ परिवर्तन हो रहे है, इसकी मुझे तनिक भी जानकारी न थी।

सलमा का बाप इस इलाक़े का प्रसिद्ध 'दादा' था। उसे आते-जाते एक-दो बार देखा था। उसकी ख़तरनाक नज़रें देखकर मैं खिसक जाता। सलमा की माँ की ओर उसका विशेष ध्यान नही था। उसने दूसरी शादी की थी। वह बाई सलमा की माँ से बहुत जवान थी। उसे लेकर सलमा के बाप ने अलग घर बसा लिया था। परन्तु इस घर पर भी उसका उतना ही प्रभाव था। जब कभी मन में आता तो वह इस घर का भी एकाध चक्कर लगा लेता।

सलमा मेरा पीछा छोड़ने को तैयार न थी। उसके साथ खुल्लम-खुल्ला बातें करना भी संभव न था। उसके घर में कड़ाई से बुरका-पद्धति का पालन होता। जब कभी बाहर आना होता तो बुरका पहनकर ही निकलती। सलमा बहुत चतुर थी। वह चौथी तक उर्दू पढ़ी थी, परन्तु उसमे ज़िंदगी की समझ बहुत गहरी थी।

हम दोनों के बीच कोड-भाषा शुरू हुई। सुबह उठते ही वह घर से गाने की दर्द-भरी तान छेड़ती—'अभी न जाओ छोड़ के कि दिल अभी भरा नहीं' या 'सागर में आपको उतारे चले गये, हम बेख़ुदी में आपको

पुकारे चले गये।' इन गानों की पंक्तियाँ आज भी याद हैं। फिर मैं भी गानों के उत्तर देने लगा...गानों के सुर से मेरी नींद खुलती। छोटे बच्चों से वह बोलती। तब मेरे ध्यान मे आता कि अरे, यह तो मुझसे बातें कर रही है! शाम को मैं जल्दी घर आऊँ, इसके लिए आग्रहपूर्वक निवेदन करती। निश्चित ही यह सारा सवाद उसके छोटे भाई-बहनों के साथ चलता। मुझे क्या समझना चाहिए, यह मैं समझ चुका होता। ऑफिस की फ़ाइल के पन्नों में उसी की हँसती आँखें दिखती।

अपने भीतर हो रहे इस परिवर्तन का अहसास मुझे होने लगा। कल-परसों तक सई का विचार कर रहा था, पर अब लगने लगा कि सई की जगह सलमा लेने लगी है। बहुत देर से घर आने वाला मैं अब जल्दी आने लगा। चाल में घुसते ही स्पष्ट हो जाता, सलमा सजधज कर मेरी ही राह देख रही है। सबकी आँखें चुराकर वह मेरा स्वागत करती। लगता, मैं किसी राजदरबार में पहुँच गया हूँ...!

चाल की महिलाओं के बीच कानाफूसी शुरू होने में देर नही लगी। मेरे आते ही स्त्रियाँ मुझे संशय से देखती। जब कभी नल पर जाता तो कहती, "ऐ रोशन, दिखता नही क्या? जवाई आया!" मै चौकने का अभिनय करता। लगता, अपना और सलमा का कुछ भी नही। फ़ालतू तिल का ताड हो जायेगा। घर आने पर माँ हाथ-पैर जोड़ती। कहती—"अरे बेटे, उसका बाप बड़ा भयकर आदमी है। तेरे टुकड़े-टुकड़े कर डालेगा!" मैं कहता—"माँ, मैंने अपनी सीमा नही लाँघी है। मैं कुछ गलत करता हूँ क्या?" माँ को मुझ पर पूरा भरोसा था। एक बात सच थी कि सलमा के कारण उसका लड़का मर्द बन रहा है, हँसता है, बोलता है, इसलिए माँ ने सलमा पर कभी गुस्सा नही किया। उन दिनों माँ ने मेरे लिए खजूर-नारियल लगा दिया था। जब सलमा घर आती, तब वह उसे भी बड़े आग्रह से ये चीजें खिलाती।

उस समय मैंने एक मजेदार बात यह देखी कि मुसलमान स्त्रियों को भी मेरे प्रति सदेह था, फिर भी उन्होने अपने पतियों को इस बारे में कुछ भी नही बताया। शायद उन्हें मालूम था कि यदि यह बात पुरुषों मे छिड़ी तो नाहक ख़ून-ख़राबा होगा। एक ढेड का बच्चा अपनी लडकी के पीछे

पड़ा है, इतना कारण भी उनके लिए पर्याप्त होता।

साँप जैसे केंचुली छोड़ता है, ठीक उसी तरह मेरे मन और शरीर ने केंचुली छोड़ी थी। बड़े सवेरे उठकर व्यायामशाला जाने लगा। अच्छे कपड़े पहनने लगा। कोई मुझसे प्यार करता है, यह बात अपने-आप मे काफ़ी रोमाचकारी थी। सलमा का और मेरा शारीरिक सम्बन्ध वैसे भी बिलकुल सभव न था। उस पर काफी निगरानी रहती थी। परन्तु शरीर को ऊबने की हद तक मैंने भोगा था। इसके लिए मेरा कोई आकर्षण न था। परन्तु उसे देखने भर-से मेरी यौन-विकृति ग़ायब हो रही है, इसका अहसास मुझे हो रहा था। इद्रियो की थरथराहट बद हुई। सारे शरीर में पुरुषार्थ की बिजली कौंधने लगी। मुझे मेरा नया स्वरूप दिख रहा था। यह मेरा पुनर्जन्म था। पाँच-छह महीनों मे मुझमे क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। छह महीने पहले जिन्होंने मुझे देखा था, वे मुझे न पहचान पाते। एक स्त्री के कारण मैं उजड़ गया था और दूसरी स्त्री ने मुझे जीवनदान दिया। जिंदगी मे स्त्री का सामर्थ्य नये रूप में देख पाया।

सलमा का प्रेम करने का तरीका भी काव्य-सा रोमाचित करने वाला होता। यदि उसे कहता, "सिर का दुपट्टा नीचे कर", तो वह बिलकुल न मानती। निश्चित ही हमारा यह सारा सवाद इशारों पर चलता। जब वह दूसरी बार मेरे सामने होती, तब उसके सिर पर दुपट्टा न होता!

एक छोटी-सी घटना के कारण मेरे मन में उसके प्रति आस्था गहरी हो गयी। घटना बड़ी मामूली। ईद के त्योहार पर इस बस्ती में मानो चेतना उफनने लगती। रोज़े के दिन फकीर गाने गाते और डफ बजाते। ईद के दिन सलमा बहुत सजती। हाथो मे मेहदी, आँखों में सुरमा, माँग में मोतियों का चूरा, रंग-बिरगे फूलों के डिजाइन के कपड़े। उसकी शान देखते ही बनती। ईद के दिन यहाँ के लोग शिरखुर्मा विशेष तौर पर तैयार करते। यह सेवई और दूध से बनाते। ईद के दिन सबको घर बुला कर आग्रह से पेय पिलाने का रिवाज था।

ऐसे समय एक बार सलमा मेरे लिए शिरखुर्मा लेकर आयी। बहन के हाथों मे काँच का प्याला देकर बोली, "इन्हें दीजिये!" ऐसा कहकर फुर्र-से जाने लगी। मैं उस समय काँच के गिलास में चाय पी रहा था। आधी चाय

पी चुका था। मेरे मन मे बदमाशी सूझी। ये लोग हमारे साथ छुआछूत बरतते हैं। यह गुस्सा भी भीतर-ही-भीतर उफन रहा था। मैंने सलमा को रोका और धीरे-से पूछा, "क्या तू सचमुच मुझसे प्यार करती है?"

इस पर वह बोली, "तू क्या जाने! वह तो ऊपर वाला ही जानता है।" ऐसा कहकर उसने ऊपर हाथ उठाया था।

इस पर मैंने सलमा को कैंची में पकड़ने की कोशिश की। मैंने कहा, "तू मेरी यह बची हुई जूठी चाय पी सकेगी?"

इस पर वह बोली, "चाय तो क्या, तुमने जहर भी दिया तो पी जाऊँगी!" ऐसा कहकर उस दिन उसने मेरी जूठी चाय पी ली।

सारे दिन मेरे शरीर मे मीठी सिहरन उठती रही।

कभी-कभी हम दोनों के बीच छोटे-मोटे झगड़े भी हो जाते। इसी बीच उसे देखने के लिए कुछ लोग आने लगे। एक दिन मुझे मालूम हुआ कि उसे कही के मेहमान देखने के लिए आ रहे हैं। कोई देखने आ रहा है, इसलिए उसने बहुत अच्छे कपड़े पहन रखे थे। पैरों मे पायल खनक रही थी। उसने बालों मे डेढ़-दो रुपये का मोगरे का गजरा लगा रखा था। ऐसी सज-धज कर वह आयी और अपने घर की चौखट के सहारे आकर्षक पोज मे टिक-कर खड़ी हो गयी। मुझे तो अजंता की गुफ़ाओं की हाथों में दर्पण लिये काली रानी की याद हो आयी। परन्तु उस समय मैंने उसे विशेष रिस्पांस नही दिया। पुस्तक पढ़ने मे मग्न हूँ, ऐसा ढोंग किया।

अंत मे उसी से नहीं रहा गया।

उसने पूछा, "आज मैं कैसी दिखती हूँ?"

मेरा पारा और चढ गया। गुस्से में बोला, "मुझे मालूम है कि किनके लिए यह सारा नखरा किया है!"

बस, फिर क्या था! सलमा बहुत नाराज़ हुई। मेरे सामने ही उसने डेढ़-दो रुपये का अपना गजरा बालों से खीचकर तोड़-मरोड़ कर मेरे ही सामने फेंक दिया। मैं अवाक हो उसे देख रहा था। पैर पटकते हुए वह भीतर गयी और कपड़े बदलकर वापस आयी। इस समय उसके बदन पर सलवट-भरे कपड़े थे। भीतर जाकर रोने के निशान उसके चेहरे पर उभर आये थे। इस समय मैं सचमुच घबरा गया था। मैंने इन सारी बातों की

और सिर्फ़ मजाकिया दृष्टिकोण अपनाया हुआ था। परन्तु वह तो सही अर्थों में प्रेम के चक्कर में फँस गयी है, यह सोचकर मैं चिंतातुर हो उठा।

मैं कितना डरपोक हूँ, इसका साक्षात्कार मुझे तुरन्त हो आया। उसने एक बार एक छोटे बच्चे के हाथों चिट्ठी भेजी। देखा तो वह सब उर्दू में था। अब मुश्किल हुई? अंत में उर्दू स्कूल के पास जाकर खड़ा हुआ। एक मुसलमान लड़के से चिट्ठी पढ़वायी—'मेरे शहज़ादे!' इस पहले ही शब्द पर मैं उछल गया। आगे जब सुनता हूँ तो पसीना-पसीना हो गया। घर से भाग निकलने की बात उसने लिखी थी! अब इसको भगाकर मैं कहाँ रखूँगा? उसके बारे में मैंने कभी ऐसा कोई विचार नहीं किया था। मान लो कि मैं उसे भगाकर ले भी जाता हूँ तो उसका बाप मुझे जमीन से खोद निकालेगा। अब क्या किया जाये, कुछ न सूझता।

नागपाड़ा में देखी घटना याद हो आयी। ऐसे ही एक महार का लड़का मुसलमान लड़की के प्रेम में उलझा। चर्चा हुई। गली के मुसलमान उसे मस्जिद ले गये और उसका ख़तना किया। वह दस-पन्द्रह दिनों तक कमर में लुंगी लपेट कर ऐसे चलता रहा जैसे उसे गर्मी हो गयी हो।

यदि अपने साथ भी ऐसा ही हुआ तो क्या करूँगा?

सलमा और मेरे बीच धर्म की कितनी ऊँची दीवारें खड़ी हैं, इसका अहसास हुआ। बाद में मैं सलमा की नजरें टालने लगा। वह आते-जाते मुझे 'डरपोक' कह कर चिढ़ाती। मैं जिंदगी में एक बार फिर हार गया था।

जो दिन कभी न देखना पड़े, वह सामने आ धमका। फूलों के सेहरे से लदा दूल्हा सलमा के दरवाजे पर खड़ा था। घोड़े पर बैठ कर आया था। जब वह उतरा, तब कुछ लोग उसे पंखा कर रहे थे। सलमा के घर मुसलमान स्त्रियाँ ढोलक पर गाना गाने लगीं। शादी के दिन सलमा के नख तक न दिखते। बहुत बेचैन हुआ मैं। परन्तु सई के समय जितना टूटा था, उतना नहीं टूटा। शायद मेरे मस्तिष्क को सदमे सहने की आदत हो गयी हो। उसकी शादी में बड़ा-सा तोहफ़ा देना मैं नहीं भूला।

सलमा की ससुराल भेंडी बाजार में थी। उसे कोई फ़िटर पति मिला

था। ऑफ़िस से छूटने पर सीधे भेंडी बाज़ार की ओर क़दम अपने-आप मुड़ जाते। इतने बड़े भेंडी बाज़ार में सलमा का घर कहाँ होगा, यह समस्या थी ही। थोड़ा-बहुत पागलपन ही था। एक बार तो मस्जिद में भी गया। किसी ने बताया था, "सलमा की खिड़की मस्जिद से दिखती है।" बातों-बातों में यह सूत्र हाथ लगा था। मस्जिद के तालाव में हाथ-पैर धोने वाले, वज़ू करने वाले मुसलमान मेरी ओर आश्चर्य से देखते। यह कौन काफ़िर आया? उनकी नज़रों में यही भाव होता।

एक दिन शाम को रास्ते में भटकते हुए अचानक सलमा ने मुझे दूसरी मंज़िल की गैलरी से देख लिया। मैं सुन सकूँ, इस हिसाब से उसने मेरा नाम पुकारा। मैं अपनी जगह से चिपक गया। आवाज़ की दिशा में देखता हूँ तो सलमा मुझे ऊपर बुला रही थी। मन में असमंजस था। ऊपर जाकर क्या बताऊँगा? उसके घर के लोगों को मुझ पर सदेह तो नहीं होगा? वैसे ही घर लौट पड़ा। सलमा का साहस देखकर आश्चर्य हुआ।

सलमा जब कभी दो दिन के लिए भी मायके आयी, तब उसने मुझे आड़े हाथों लिया। "तू घर क्यों नहीं आया?" पूछने लगी। मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था। वह अपने ससुराल में मेरा कौन-सा रिश्ता बताती? एक हिन्दू लड़का मुसलमान लड़की को प्रेम भावना से देखता है, यह कल्पना भी उनके लिए बुरी सिद्ध होती! सलमा जब-जब मायके आती, तब-तब मुझे शादी कर लेने का आग्रह करती। मेरी कटी-पतंग-सी ज़िंदगी शायद उसे कचोटती रही हो।

एक बार मैंने उसके घर जाने का सचमुच साहस कर लिया। उसका पति काम पर गया था। बूढ़ी सास थी। मेरे वहाँ जाने से सलमा बहुत खुश हुई। वह इसी बात से परेशान थी कि मेरा आदर-सत्कार किस तरह किया जाये! उसने अपनी सास को ठंडा लेमन लेने नीचे भेजा। इस समय मैं सलमा को गौर से निहारता हूँ। उसे दिन चढ़ गये थे। न जाने क्यों, मुझे खुशी होती है। मैं उसके उभरे पेट की ओर देख कर हँसते हुए कहता हूँ, "इसमें मेरा भी हिस्सा है न?"

वह जो उत्तर देती है, उससे मैं चारों खाने चित्त। कहती है, "अभी मुँह धो के आ!"

ऐसी थी यह सलमा !

एक बार उसने अपना फ़ोटो दिया था। वह आज भी पेटी के नीचे दबा होगा। इतने सालो के बाद भी उसे फाड़ डालने की इच्छा नही हुई। उसने और एक चीज़ दी थी। उसे बुनाई का शौक था। सफ़ेद धागों से उसने मेरे लिए एक बनियान बुना था। काफी दिनों तक वह मेरे पास रहा। पहनने पर कवच पहनने-सा लगता। फिर पढी-लिखी पत्नी आयी। मैंने उससे कुछ भी नही छिपाया। पढ़ी-लिखी पत्नी क्या करे? उसने यह बनियान फ़र्श पोछने के काम लिया। कई दिनो तक उसने उसे फेंका भी नही। साफ़ करके वह उससे फिर फ़र्श पोंछती। बहुत गंदी होने पर चूहे पकड़ने-सा उसे उठाती और कहती, "यह देखिये, अपने प्रेम की निशानी!"

सलमा की शादी के बाद हमने तुरत शिवडी छोड़ दी। जैसे मैं अपने उपचार के लिए ही शिवडी गया था और सलमा ने मेरा उपचार किया था। शिवडी छोड़ने के कारण कुछ और ही थे। बहनोई ने वहां का घर बेचकर अपना बोरिया-बिस्तर लपेटा और गाँव का रास्ता पकड़ा। जब बहनोई से बहन की शादी हुई, तब वह एस० एस० सी० मे था। बहुत चुस्त दिखता। लगता, मैट्रिक होने के बाद कही भी क्लर्क बन जायेगा। पर हुआ कुछ और ही। मेरी जैसी ही हालत हुई उसकी। कुछ विषय छूटने के बाद भी वह अँग्रेज़ी मे फ़ेल था। उसी समय उसकी माँ कैंसर से मर गयी।। उसके पिताजी का घर मे बिलकुल ध्यान नही था। बुढ़ापे मे भी वह बाई-बोतल में खोये हुए थे। बहनोई की बुरी हालत देखकर मैंने उसे अपने ऑफ़िस में चपरासी के तौर पर चिपका दिया। मैं साहब और बहनोई चपरासी। मैं अपना रिश्ता किसी को न बताता। बहनोई वैसे स्वभाव से ही बड़ा हुनरबाज़ था। उसे चपरासी की नौकरी पसद नही थी। टिनोपॉल से धुले कपड़े पहनकर वह स्टूल पर बैठता। दिन-भर उपन्यास पढ़ता रहता। उसे ऑफ़िस के लोग 'छोटा साब' कहकर पुकारते। वैसे उसके स्वभाव में मुझ-सा दब्बूपन नही था। कहने को चपरासी, पर हज़ार गप्पें

मारता। साहब लोगों के बीच बातों मे हार न मानता। साहब लोग उसे कभी-कभी टूर पर ले जाते। चपरासी खाना बनाए, यह प्रथा थी, परन्तु पहले ही दिन उसने जानबूझकर इतनी मिर्ची डाली कि फिर आराम से बैठने लगा और साहब लोग खाना पकाने लगे। टूर से आने पर कई क़िस्से सुनाता। पर चपरासी की नौकरी मे उसका मन नही रमा। वह गाँव लौटने का निर्णय कर लेता है।

गाँव में प्रारंभ में उसकी बहुत फ़ज़ीहत हुई। साइकिल की दुकान शुरू की। वह भी नही चली। एक बार तो तालुके मे एक साइकिल वाले के यहाँ मजदूरी की। बहन को भी मजदूरी करने की नौबत आ गयी। मेरे मन में टीस उठती। बहनोई अब गाँव की राजनीति में दाखिल हुआ। सिर पर गांधी टोपी चढ़ायी। प्रारंभ में वह हज़ारो की गप्पें मारता, उस समय मैं उसका मज़ाक उड़ाता। परन्तु कुछ सालों में ही उसने कुँआ खोदा। अंगूर का बगीचा लगाया। गन्ना लगाया, तब तो मैं हैरान रह गया यह सब देखकर। यह सब उसने अपने सिर पर कर्ज़ा करके किया था। मैं यदि किसी से पांच-दस रुपये भी उधार ले लेता हूँ तो मुझे नीद नही आती। इसने इतना ढाँढ़स कैसे कर लिया होगा?

मैं माँ के साथ एक रिश्तेदार के घर रहता था। इन दिनो माँ की बीमारी बढ़ रही थी। बोर्डिंग में खाना पकाते समय एक ही जगह बैठने से उसके शरीर में कमज़ोरी फैल गयी। चलते समय दम फूल जाता। ब्लड-प्रेशर था ही। माँ दवाखाने न जाती। वह बहुत घबराती। उसकी धारणा थी कि एक बार दवाखाने गया आदमी वापस नही आता। दो-एक बार ज़बरदस्ती ले गया था। उसके पेट मे मांस का गोला बन गया है, ऑपरेशन करना होगा—ऐसा बताया गया।

ऑपरेशन-थियेटर तक माँ को ले गया था। वहाँ चमकते औजार, असख्य यंत्र, चिकना टेबल देखकर माँ बहुत घबरायी। सीधे नीचे बैठ गयी। "मुझे बेटी के गाँव ले चल। मैं वही मरूँगी," उसने यह ज़िद पकड़ ली। अंत में माँ को बहन के पास छोड़ आया।

माँ की सख़्त बीमारी का तार मिला। अब क्या होगा, इसका अंदाज़

मन में लग चुका था। बहन के गाँव जाकर देखता हूँ कि माँ अब कभी भी मर सकती थी। मेरी जिंदगी में कुछ भी ठीक से नहीं हुआ, इसलिए वह बहुत दुखी थी। मुझे पास बिठाकर कहती है, "बेटा, तू अब शादी कर ले। भले ही भंगी की लड़की ला, पर अकेला मत रह !"

माँ की मृत्यु की रात मैं संगमनेर गया था। शाम तक वापस लौटूंगा, ऐसी उम्मीद थी। रात जैसे-जैसे चढ़ रही थी, तब पता नहीं कैसे, मुझे एक भयकर उदासी ने घेर लिया। बहनोई साथ था ही। घर चलने का आग्रह किया। दस-बारह मील का फासला रहा होगा। भयानक रात। झींगुरों की किर्राहट, सुनसान रास्ता। कमर तक गहरी नदी उतरकर हम घर आये। घर आने पर देखा, माँ अंतिम घड़ियाँ गिन रही है। माँ की मौत बहुत क़रीब से देखी। मेरी गोद में माँ का सिर था। मैं चम्मच से उसके मुँह में दूध डाल रहा था। बहन रुआँसा चेहरा लिये पास ही बैठी थी।

माँ के प्राण कब निकले, पता ही नहीं चला। दबे पाँव मौत आयी थी। पडोसियों ने कहा, नाक के सामने धागा रखकर देखिये। दरअसल माँ कब की खत्म हो चुकी थी। पडोसियों को यह बात बहुत पहले मालूम हो चुकी थी, परन्तु उन्होंने बताया नहीं। ऐसा लगता, जैसे माँ सोयी हो। इतनी शांत मौत मैंने कभी नहीं देखी। पिताजी तो हाथ-पैर घिस-घिसकर मरे। पिताजी और माँ की मौत में यह अंतर क्यों था, यह सवाल मुझे काफी दिनों तक सताता रहा।

नदी-किनारे माँ को जलाया गया। उसके पेट के भीतर के मांस के गोले को फूटते हुए मैंने देखा था। लगा, अंत में मैं अपनी माँ को नहीं बचा सका न !

माँ की मौत पर मैं नहीं रोया। बड़े धैर्य से माँ का क्रियाकर्म किया। परन्तु उस अवस्था में भी मैंने अपना मुंडन नहीं कराया। माँ की अस्थियाँ काफ़ी दिनों तक बहनोई ने संभाले रखी थी। मैं जब भी गाँव जाता तब बहनोई कहता, "अरे, ये अस्थियाँ बंबई के सागर में बहा दे।" मुझे यह पागलपन लगता। माँ की अस्थियों और मिट्टी में मुझे कोई फ़र्क न लगता। अत में बहनोई ने ही न जाने कब वे अस्थियाँ नासिक की गोदावरी नदी में बहा दी।

अब सही अर्थों में मेरी ज़िंदगी उजड़ चुकी थी। मेरी ज़िंदगी से माँ का निकल जाना एक जानलेवा, अपूरणीय क्षति थी। माँ ने पहाड़ों-सी तकलीफ़ उठायी और मैं सारी ज़िंदगी उसे कौन-सा सुख दे पाया? इकलौता आत्मिक आधार भी निकल चुका था।

नहीं...।

एक आधार की एकांत में बड़ी याद आती और वह थी बकुला।

एक कविता याद आ रही है। उस कविता मे कहा है—

गहरी-गहरी गुफ़ाओं मे
चमकता प्रकाश-पुंज
वात्सल्य का हाथ
चीत्कारता हूँ मुक्ति के लिए...।

अब मैं यह नही बता सकूँगा कि यह वात्सल्य का हाथ मैंने किस संदर्भ मे लिखा था! परन्तु मुझे वह बकुला का हाथ लगता। उसे कीचड़ से निकालना है, यह तीव्र इच्छा होती। दो-तीन बार वैसी कोशिश भी की। साथ में सदाशिव सावले थे। परन्तु मैं गाँव जाता तो सई बकुला को लेकर दूसरे गाँव चल देती। इस संदर्भ में उसका व्यवहार बड़ा कड़वा था। वह कहती, "यह नेता हो गया है न? कल बकुला बड़ी होगी तो उसे देवदासी बनाऊँगी। उसके सामने नचाऊँगी।"

जब उसका यह संदेश मुझ तक पहुँचता तो मैं टूट जाता।

सई ने एक बूढ़े व्यक्ति से शादी कर ली। वह भी इतना बूढा कि मेरा बाप दिखे। उसके मेरी उम्र के बेटे थे। सई ने ऐसा क्यो किया, मैं यह समझ नही पाया।

एक-दो बार मैंने उसे सरसरी निगाह से संगमनेर के बाजार में देखा। बदन पर मैली साड़ी। सिर पर घास का गट्ठा। पीठ पर नन्हा-सा बच्चा धोती में बँधा हुआ। उसके सामने जाने की मेरी हिम्मत नही हुई। लगा, उसकी इस ज़िंदगी के लिए मैं ही ज़िम्मेदार हूँ।

ये देख अब तक मैं बहुत बोल चुका। घड़ा होता तो मुँह तक लबालब भर जाता। कहते हैं, दुख दूसरों को बताने से हलका होता है। परन्तु मुझे वैसा नही लगता। इसे बयान करते समय भी यातना ही महसूस हुई। दिमाग के तार ढीले हो गये।

मैं सारी उम्र डरता ही रहा हूँ। जितने व्यक्ति इस कथा में हैं, उससे भी अधिक उस अभावग्रस्त समाज मे मिल जायेंगे जहाँ मैंने जन्म लिया। अब यही देख लो कि आपातकाल में मैं कितना डर गया था ! बात चल निकली है, इसलिए बताता हूँ। इन दिनों एक भूमिगत कार्यकर्ता ने मुझे लिफ़ाफ़े मे 'निरोध' भेजा और लिखा कि "तुम-सी डरपोक क़ौम फिर पैदा न हो, इसलिए यह व्यवस्था।" परन्तु वह भूमिगत कार्यकर्ता भी डरा हुआ था। उसने नीचे अपना नाम नही लिखा था।

'दूसरी आज़ादी' मे उसे बहुत अच्छा लग रहा होगा, परन्तु मुझे वैसा कुछ नही लगता। ऐसा लगता है कि दुकान वही है, बोर्ड बदल गये हैं। आज़ादी के तीस साल बाद ही नही, वरन आपातकाल के बाद आयी इस दूसरी आज़ादी मे भी मैं उतना ही डरा-सहमा हुआ हूँ। यह व्यवस्था मुझे कभी भी फुटपाथ पर पटक देगी। मैं तो अब समाप्त होने की अवस्था में पहुँच रहा हूँ। परन्तु मेरे बेटे के भविष्य के लिए इस देश ने क्या कुछ रख रखा है, इस संभ्रम मे मैं पड़ा हूँ।

इस सहमी हालत में मैं तुम्हारे साथ भीड़ में कहाँ-कहाँ होता हूँ ! तू मन से पूछेगा तो मुझे यह सब पसंद नही ! परन्तु अकेला हो जाने का डर कही-न-कही दबा रहता है। हमेशा तुम्हारी ही सुनता हूँ, यह बात भी नहीं। विद्रोह भी फूटकर निकलता है।

आपातकाल का एक ही किस्सा बताऊँगा। 'राष्ट्रीय लेखक संघ' ने मुझे दिल्ली बुलाया। हवाई जहाज का टिकट, फ़ाइव-स्टार होटल में निवास आदि की व्यवस्था थी। इस लेखक-सम्मेलन में स्वयं प्रधानमंत्री इंदिरा गाधी उपस्थित थी। तू मुझे यह मौका नही छोड़ने देना चाहता था। परन्तु भीतर-ही-भीतर बेचैनी बारूद की सुरंग-सी जल रही थी। मैंने इस निमंत्रण को ठुकरा दिया। एक बार फिर हवाई जहाज से नीचे की दुनिया देखने का अवसर हाथ से निकल जाता है। परन्तु इस बारे में

मुझे तनिक भी पश्चाताप नहीं होता।

यह सतत बेचैनी ही मेरा स्थायी भाव है। यह तड़पन जिस दिन समाप्त हो जायेगी, उस दिन मुझे लगेगा कि मैं अपने-आपको कथा दे रहा हूँ और इसमें मुझे मरणांतक दुख होगा।

दगडू पवार अब चल रहा है। उसके कंधे झुके हुए हैं। उसने कंधों पर ईसा मसीह सा भारी क्रूस उठा रखा है और लगता है, इस बोझ से वह झुक गया है। ईसा मसीह के पीछे जैसी प्रकाश-पुंज की परिधि होती है, ऐसी परिधि इसके पीछे नहीं। धीरे-धीरे उसका धब्बा कम, कम और कम होता जा रहा है। अब वह विशाल भीड़ में समा चुका है।

मुझे अपनी ही एक कविता याद आ रही है :

> दुखों से उफनता यह पेड़ मैंने देखा है
> वैसे इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं,
> बोधिवृक्ष-सी—
> बोधिवृक्ष फूला तो सही,
> पर यह पेड़ हर ऋतु में झुलसता रहा...।
>
> नस-नस से फूटना चाहती है यातना
> ज्यों कोढ़ी की अँगुलियों से
> पत्ते झरते हों
> यह ठूंठ है किसका ? डाल-डाल पर जकड़ी बैसाखी
> मौत नहीं आती, इसलिए मृत्यु-वेदना सहता रहूँगा...।
>
> दुखों से उफनता यह पेड़ मैंने देखा है...।